3929

श्री शंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ।

महोपाध्याय श्रीमद् यशोविजयविरचित स्याद्वादकल्पलता व्याख्या समलंकृत

मुनिपुरंदर तर्कसम्राट् जैनाचार्य श्री हरिभद्रसूरिविरचित

卐 शास्त्रवार्त्तासमुच्चय 卐

स्तवक ८

[वेदान्तमत समीक्षा]

हिन्दी विवेचन सहित

卐

अभिवीक्षक :—

न्यायदर्शनतत्त्वज्ञ धर्मसंरक्षक जैनाचार्य श्रीमद्विजय

भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज

卐

हिन्दी विवेचक :—

पंडितराज षड्दर्शनविशारद न्यायाचार्य

श्री बदरीनाथ शुक्ल

भूतपूर्व कुलपति

संपूर्णानन्द संस्कृत विश्व विद्यालय, बनारस (यू. पी.)

卐

प्रकाशक :—

दिव्य दर्शन ट्रस्ट

६८, गुलालवाड़ी, बम्बई–४०००០४

卐 प्रास्ताविक संवेदन 卐

दार्शनिक चर्चाएँ आर्यावर्त्त के मनीषीयों की एक अद्भुत देन है। इन चर्चाओं को पढ़ने से पता लगता है कि हमारे पूर्वज मनीषी किसी एक तत्त्व के स्वरूप का निर्णय करने के लिये जब अपनी प्रतिभा के चक्रों को गतिमान करते थे तब कितनी गहराई में उतर जाते थे और कितना मधुर तत्त्वजल बाहर लाते थे जिसके रसास्वाद से आज भी हम दिव्य तृप्ति का अनुभव कर सकते हैं।

'शास्त्रवार्त्ता समुच्चय' यह एक ऐसे ही बड़े मनीषी की अमर कृति है जिसमें चार्वाक सहित सभी दर्शनों के शास्त्र सागर का आलोकन करके आचार्य श्री हरिभद्रसूरि महाराज ने धवल उज्ज्वल अमृत ही भर दिया है। उपा० श्रीमद् यशोविजय महाराज ने नवीनतर्कालंकृत स्याद्वादकल्पलता व्याख्या बना कर इस ग्रन्थरत्न की श्रीवृद्धि में चार चांद लगा दिये हैं।

इस विभाग में शास्त्रवार्त्ता का पूरा आठवाँ स्तबक उसकी व्याख्या और उसके हिन्दी विवेचन के साथ प्रस्तुत है। मूल ग्रन्थ अति संक्षिप्त है। सिर्फ १० ही कारिका में मूल ग्रन्थकार ने समूचे वेदान्तमत का प्रतिपादन, उस मत की निष्पक्ष समालोचना और वेदान्त संप्रदाय के मूल संस्थापक का इस मत की स्थापना में गर्भित शुभाशय को अनावृत कर दिया है।

मूल कारिकाओं के अन्तर्निहित आशय को उद्भासित करने के लिये मनिषीरत्न यशोविजय महाराज ने जो कलम चलायी है इससे लगता है-वेदान्त समुद्र के लिये वे अगस्त्य ऋषि बन गये होंगे। वेदान्तमत-पूर्वपक्षवार्त्ता के निरूपण में उन्होंने अपने काल तक प्रचलित वेदान्त के किसी भी मत को अछूता नहीं रखा है। कई मत तो ऐसे भी उल्लिखित है जिसका अन्यत्र पता लगाना भी कठिन है, यही कारण है-इस के हिन्दी विवेचन के समय पर काफी कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। प्रथम कारिका की व्याख्या के प्रारम्भिक अंश में अद्वैतवाद का उपस्थापन किया गया है। उसके बाद ब्रह्माद्वैत, प्रपञ्च की अनिर्वचनीयता, ब्रह्म की सजातीय-विजातीय भेदशून्यता, अविद्या या अज्ञान की सिद्धि, मूलाज्ञान और तूलाज्ञान, पारमार्थिकसत्त्व-व्यावहारिकसत्त्व और प्रतिभासिकसत्त्व प्रतीतिजनक तीन शक्तियाँ, जीव-ईश्वरादि प्रपञ्च, जीव के विषय में प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद, जीवों की अनेकता, हिरण्यगर्भादि की उपासना, सायुज्य मुक्ति के विभिन्न मत, एकजीववाद, अन्तःकरण की वृत्ति, ईश्वर में मायावृत्ति, पंचीकरणसिद्धान्त इत्यादि विषयों पर विस्तार किया गया है।

द्वितीय कारिका में केशादि की संकीर्णता से आकाश में अनुभूयमान भेदप्रतीति के दृष्टान्त से तृतीय कारिका में ब्रह्म सम्बन्धी भेद प्रतीति का उपपादन किया है। व्याख्याकार ने यहाँ अविद्या-निवर्त्तक वेदान्तवाक्य अध्ययन विधि की नित्यता के उपर विस्तृत परामर्श प्रदर्शित किया है। उसके बाद अन्तःकरण शुद्धि, यज्ञदानादि की कर्त्तव्यता, नित्यानित्यविवेक वैराग्य-शमदमादि-

मुमुक्षा, अधिकार संपादन, संन्यास की अधिकारिविशेषणता, आतुरसंन्यास और उसका फल, तत्त्वज्ञान के बाद प्रारब्धकर्म इत्यादि विषयों पर दीर्घ विवेचन किया है।

४-५-६ कारिका से वेदान्तमत विरुद्ध उत्तर पक्ष का प्रारम्भ किया है-अविद्या सत् से पृथक् न होने से भेदाध्यवसाय की आकस्मिकता की आपत्ति, अभेदरूप अविद्या से भेदप्रतीति में प्रमाण का अभाव और प्रमेयव्यतिरिक्त प्रमाणाभ्युपगम में अद्वैत भंग की आपत्ति प्रदर्शित की गयी है। ७वीं कारिका की व्याख्या में अद्वैतवाद की विस्तार से समालोचना प्रस्तुत है। बीच-बीच में वेदान्ती की ओर से की गई अवशिष्ट शंकाओं का भी समाधान किया गया है। महाविद्या अनुमान का विस्तार से निरूपण और उसका निराकरण बोधप्रद है। प्रपञ्च मिथ्यात्व साधक अनुमान का भी अन्त में निराकरण करके प्रपञ्च में ब्रह्मवत् परमार्थसत्त्व की प्रतिष्ठा की गयी है।

आठवीं कारिका में अद्वैतवाद देशना का मूल आशय व्यक्त करते हुये कहा गया है कि वेद जिसका प्राचीनतम नाम जैनों के मत से श्रावकप्रज्ञप्ति है, उसमें शत्रु-मित्रादि में द्वेष और राग को निर्मूल करके समभाव की प्रतिष्ठा के लिये केवल ब्रह्म की पारमार्थिक एकमात्र सत्ता की भावना के ऊपर भार दिया गया है, 'ब्रह्म' से अतिरिक्त वास्तव में कोई तत्त्व ही नहीं है-ऐसा उसका आशय नहीं है।

९वीं और १०वीं कारिका में क्रमशः उस गर्भित आशय की उपपत्ति और विपरीत कल्पना में बाधकापत्ति प्रदर्शित की गयी है। संसार और मोक्ष का द्वैत वास्तविक होने पर ही मुमुक्षुओं का तदर्थ यत्न सार्थक हो सकता है। यदि अद्वैत देशना समभाव साधना के लिये न होकर वास्तविक अद्वैत प्रतिष्ठा के आशयवाली मानी जाय तो फिर मोक्षार्थी के सभी अनुष्ठान व्यर्थ हो जाने की आपत्ति अटल रहेगी। १०वीं का० की व्याख्या में विपरीत कल्पना में बाधक आपत्ति का सपूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष से विस्तृत मीमांसा की गयी है। महोपाध्यायजी की तीक्ष्ण प्रज्ञा का हमें यहां परिचय मिल जाता है।

चरम तीर्थङ्कर भगवान महावीरदेव, प० पू० कर्मसाहित्य निष्णात सिद्धान्तमहोदधि स्व० आचार्यदेव श्री विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज एवं न्यायविशारद उग्रविहारी गुरुदेव आचार्य भगवंत श्री विजयभुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज की महती कृपा इस ग्रन्थ के सम्पादन में साद्यन्त अन्वित रही है। एवं प० पू० स्व० गुरुदेव शान्तमूर्ति मुनिराजश्री धर्मघोषविजयजी महाराज के शिष्यावतंस गीतार्थरत्न गुरुदेव प० पू० पं० श्री जयघोषविजयजी महाराज ने दिलचस्पी से इस ग्रन्थ के सम्पादन कार्य में उदार सहायता प्रदान की है-किन शब्दों से इन सभी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की जाय-यह मैं नहीं जानता।

अधिकृत मुमुक्षु वर्ग इस ग्रन्थ के पठन-पाठन से सम्यग्दर्शन को विशुद्ध बना कर आत्मकल्याण के पथ पर अग्रसर बनें यही शुभेच्छा।

सं० २०३८ अषाढ शुक्ला ११
पालनपुर (बनासकांठा)

—जयसुन्दर विजय

卐 विषयानुक्रम 卐

*** समाप्त ***

—: शुद्धिप्रदर्शिका :—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	१८	भेदबद्धि	भेदबुद्धि
९	२६	प्रीतीति	प्रतीति
९	८	पृथ्वोभ्यां	पृथीभ्यां
९	२७	नहीं ह	नहीं है
१४	६	अक्षण्ण	अक्षुण्ण
१६	२	वेदान्द	वेदान्त
१६	२८	क्वचित्	'क्वचित्
१७	२७	स्र्वत्र	सर्वत्र
१८	४	चैतत्य	चैतन्य
२२	१	मूल ज्ञान	मूलाज्ञान
२३	१२	मत है ति	मत है कि
२३	२०	घंट ज्ञानस्य	घंटाऽज्ञानस्य
२७	१९	सात्व	सत्त्व
२७	२७	प्रतिबिम्बऽ	प्रतिबिम्बाऽ
३०	११	अस्मतपद	अस्मत्पद
३०	२०	प्रतीसंधीयते	प्रतिसंधीयते
३१	४	बिम्भभूत	बिम्बभूत
३२	१८	अंश	अंश में
३२	२२	मुखभाव	मुखाभाव
३२	३२	व्यव था	व्यवस्था
३४	१०	शक्तिकों	शक्तियों
३४	२७	(=ब्रह्म ने मन)	ब्रह्म ने मन
३६	२८	पाप्म दि	पाप्मादि
३७	७	उन के	उन का
३७	२१	हीप्र तिपादन	ही प्रतिपादन
४०	१४	उपाघरे-	उपाधेर-
४१	७	चक्षुइ:'	चक्षु:'इ-
४२	१९	अपत्ति	आपत्ति
४८	१६	वह्न् युशे	वह्न्यंशे
४९	१६	एवैश्वरस्यापि	एवेश्वरस्यापि
४९	२८	हो होता	ही होता
५०	११	भाव के	भान के
५३	३२	गाह्यत्वेन	ग्राह्यत्वेन
५८	६	पासना	उपासना
७०	९	श्रुत्वा	श्रुत्या
७१	२४	अनुष्ठन	अनुष्ठान
७७	५-६	विदेश	विशेष
८७	२	वाक्यैक्वा	वाक्यैकवा
९१	२०	वह दु:शक्य है, क्योंकि	× × × ×
९१	२५	विशिण्ट	विशिष्ट
९१	३२	इयभेव	इयमेव
९२	२६	अभेदा	अभेद
९९	२७	पदर्थाभ्यां	पदार्थाभ्यां
१००	२९	साक्षात्;	साक्षात्
१००	३०	श्मनिवा	श्मनि वा
१०२	१३	त्रयां	त्रपां
१०४	२१	ह्यात्मक	द्वयात्मक
१०६	१७	तायाज्ञान	ताया ज्ञान
१०७	१०	मिथ्यात्वनिमित्तं मिथ्यात्वे	मिथ्यात्वं निमित्तमिथ्यात्वे
१०८	१	विषयक के	विषय के
१०८	८	सर्वोत्पत्त्य	सर्पोत्पत्त्य
१०८	२१	विवयत्वे	विषयत्वे
११०	६	लक्षण	लक्षणा
११२	२०	इदभेव	इदमेव
११७	८	भेकत्वे	मेकत्वे
१२०	३२	तब जो	तब तो
१२२	७	प्रतीत्याग	प्रतीत्य याग
१२३	२७	नामत्क	नात्मक
१२५	२१	स्वफुरणस्भा	स्फुरणस्वभा
१२५	२४	उस से	उस के
१२८	१२	ऽग्रहेणे	ऽग्रहेण
१३२	३-४	ईश्वरादि में और प्रतियोगिविधया स्वविषयावरण-	

पृष्ट	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
		निवृत्ति के प्रति-		१५४	१५	निमर्थं	किमर्थं
		योगिभूत	× × ×	१५६	१२	पश्चाद्	पश्चाद्
१३२	९	व्यभिचार	व्यभिचारी	१५७	१२	त्यन्त्ाभाव	त्यन्ताभाव
१३४	३२	से शब्द से	शब्द से	१५८	१६-१८	निर्त्यत्व	निवर्त्यत्व
१३५	३२	आदर्शस्थत्वस्थ	आदर्शस्थत्वस्य	१५९	९	लज्ञणा	लक्षणा
१३६	३	प्रतिबिम्बा	प्रतिबिम्ब	१५९	२७	लक्षण	लक्षणा
१३८	७	जीदवेश्वर	जीवेश्वर	१६०	१२	निर्विकल्प	निर्विकल्प
१३८	२५	वस्तु का	वस्तु का जो	१६२	३४	प्याम	प्यात्म
१४०	३	सामयग्दृष्टि	सम्यग्दृष्टि	१६५	२०	निरस्तं	निरस्तं ?
१४७	२	नात्येज्ञा	नास्त्येवाज्ञा	१६६	१	स्पट	स्पष्ट
१४८	३०	प्रवत्त	प्रवृत्त	१६६	३५	हेतुत्वादेव	ऽहेतुत्वादेव
१५३	१५	दर्शन को	दर्शन का	१६७	३१	बन्ध का भाव	बन्धकाभाव

स्तबक ८ की मूलकारिका

		पृष्ठ
अन्ये त्वद्वैतमिच्छन्ति सद्ब्रह्मादि व्यपेक्षया।		
सतो यद्भेदकं नान्यत्तच्च तन्मात्रमेव हि	॥१॥	२
यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।		
संकीर्णमिव मात्राभिभिन्नाभिरभिमन्यते	॥२॥	६१
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया।		
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रकाशते	॥३॥	६४
अत्राप्यन्ये वदन्त्येवमविद्या न सतः पृथक्।		
तच्च तन्मात्रमेवेति भेदाभासोऽनिबन्धनः	॥४॥	६७
सैवाथाऽभेदरूपापि भेदाभासनिबन्धनम्।		
प्रमाणमन्तरेणैतदवगंतुं न शक्यते	॥५॥	६८
भावेऽपि च प्रमाणस्य प्रमेयव्यतिरेकतः।		
ननु नाऽद्वैतमेवेति तदभावेऽप्रमाणकम्	॥६॥	६८
विद्याऽविद्यादिभेदाच्च स्व-तन्त्रेणव बाध्यते।		
तत्संशयादियोगाच्च प्रतीत्या च विचिन्त्यताम्	॥७॥	६९
अन्ये व्याख्यानयन्त्येवं समभावप्रसिद्धये।		
अद्वैतदेशना शास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्त्वतः	॥८॥	१४२
न चैतद्बाध्यते युक्त्या सच्छास्त्रादिव्यवस्थितेः।		
संसारभावमोक्षाच्च तदर्थं यत्नसिद्धितः	॥९॥	१४३
अन्यथा तत्त्वतोऽद्वैते हन्त ! संसार-मोक्षयोः।		
सर्वानुष्ठानवैयर्थ्यमनिष्टं संप्रसज्यते	॥१०॥	१४४

॥ अर्हं ॥

हिन्दी विवेचनालंकृत

स्याद्वादकल्पलताव्याख्याविभूषित

卐 शास्त्रवार्त्तासमुच्चय 卐

अष्टमः स्तबकः



[व्याख्याकारमंगलाचरणम्]

समवसरणभूमौ यस्य गीर्वाणकीर्णा, सुमततिरतिशोभां जानुदघ्नी ततान ।
जितकुसुमशरास्त्रत्यागवर्षां पयन्ती, स जयति यतिनाथः शङ्करो वर्धमानः ॥ १ ॥

स्मरणमपि यदीयं विघ्नवल्लीकुठारः, श्रयति यदनुरागात् संनिधानं निधानम् ।
तमिह निहतपापव्यापमापद्भिदायामतिनिपुणचरित्रं पार्श्वनाथं प्रणौमि ॥ २ ॥

हंसीव वदनाम्भोजे, या जिनेन्द्रस्य खेलति बुद्धिमांस्तामुपासीत, न कः शुद्धां सरस्वतीम् ।३।

[वर्धमानस्वामी की जय हो]

व्याख्याकार श्री यशोविजयजी महाराज ने अपने आठवें स्तबक की व्याख्या के प्रारम्भ में दो मंगल पद्यों की रचना की है जिनमें प्रथम पद्य में भगवान महावीर के उत्कर्ष का मङ्गलमय वर्णन किया गया है । इसका भावार्थ यह है कि देवनिर्मित उपदेशपीठ से अलङ्कृत तीन किल्लेमय समवसरण नाम की विशिष्ट रचना की ऊपर की भूमि पर जब भगवान् वाणी बरसाते हैं तो देवगण हर्षातिरेक से उस भूमि पर पुष्पों की वर्षा करते हैं । बरसाई गई पुष्पराशि जानु की ऊंचाई तक पहुँच जाती है और उन पुष्पों से उपदेश भूमि की निरतिशय शोभा का विस्तार होता है । भगवान के आगे प्रसरी हुई पुष्पराशि से ऐसा लगता है कि भगवान ने जो पुष्पधन्वा-कामदेव पर विजय प्राप्त की है उसके कारण उसने आत्मसमर्पण के रूप में अपने समस्त पुष्पास्त्रों का भगवान के सामने त्याग कर दिया है । इस प्रकार पुष्पसमूह से आच्छादित उपदेशभूमि में विराजमान और अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन यमों का पालन करने वाले यतियों के स्वामी एवं जगत् के प्राणीमात्र का कल्याण करने वाले वर्धमान-भगवान महावीर आत्मोत्कर्ष के उच्चतम शिखर पर विराजमान हैं ॥ १ ॥

[पार्श्वनाथ भगवान को प्रणाम]

दूसरे पद्य में उन्होंने भगवान् पार्श्वनाथ का अभिवादन किया है जिसका भावार्थ यह है कि–जिन भगवान् का स्मरणमात्र ही विघ्नों के बेसुमार लतासमूह के लिये कुठार स्वरूप है और जिनके अनुराग से अर्थात् जिसके चरणों में प्रीति करने से सम्पूर्ण निधि सन्निहित होती है, एवं जिन्होंने पाप के प्रसार को पूर्ण रूप से निरुद्ध कर दिया है, तथा जिनका चरित्र समस्त आपत्तिओं के परिहार में पूर्ण समर्थ है वे भगवान् सारे विश्व के लिये प्रणम्य हैं ॥ २ ॥

[जिनेश्वर वाणी की उपासना]

तीसरे पद्य में व्याख्याकार ने जिनेश्वर की वाणी की सर्वग्राह्यता बतायी है। आशय यह है कि-विशुद्धवर्णा सरस्वती वाणी जिनेश्वर भगवान् के मुखकमल पर उसी प्रकार क्रीडा करती है जिस प्रकार कमल वन में राजहंसी क्रीडा करती है। भगवान की इस वाणी की उपासना कौन समझदार व्यक्ति नहीं करेगा ? तात्पर्य यह कि बुद्धिमान् मनुष्यमात्र को भगवान के उपदेश-वचनों का अनुसरण करना चाहिये ॥ ३ ॥

इस आठवें स्तबक में वेदान्त मत की समीक्षा की जाने वाली है इसलिये प्रथम कारिका में वेदान्त सिद्धान्त की चर्चा का उपक्रम किया गया है—

वार्त्तान्तरमाह—

मूलं—अन्ये त्वद्वैतमिच्छन्ति सद्ब्रह्मादिव्यपेक्षया ।
सतो यद्भेदकं नान्यत्तच्च तन्मात्रमेव हि ॥१॥

अन्ये तु = वेदान्तिनः **सद्ब्रह्मैव** = परब्रह्मैव **आदिः** = सकलव्यवहारकारणं, **तद्व्यपेक्षया** = तदाश्रयणेन, **अद्वैतमिच्छन्ति** = एकमेव तत्त्वमुपयन्ति । द्वाभ्यामितं द्वीतं, द्वीते भवं द्वैतं, न द्वैतमद्वैतमिति योगार्थः । कुतः ? इत्याह—**यत्** = यस्मात्, **सतः** = परमब्रह्मणः, **अन्यत्** = स्वातिरिक्तम्, न भेदकम् । **तच्च** = भेदकत्वाभिमतं नीलादि च **तन्मात्रमेव** = ब्रह्ममात्रमेव, अनवच्छिन्नस्याकाशस्य घट-पटाद्युपाधिभिरिव, अनवच्छिन्नस्य ब्रह्मणो नीलादिभिर्भेदायोगात् ।

[वेदान्तमत का सिद्धान्त कलाप]

अन्य विद्वान्-जो वेदों के शीर्ष तुल्य उपनिषद् भाग का परिशीलन करने के कारण 'वेदान्ती' कहे जाते हैं, उनका मंतव्य यह है कि–अद्वैत ब्रह्म ही परमार्थरूप में सत् है। कारण यह कि वह सम्पूर्ण जागतिक व्यवहारों का कारण है, क्योंकि वही सम्पूर्ण जगत् का कारण है। अतः उससे भिन्न किसी वस्तु की सत्ता पारमार्थिक नहीं है। आशय यह है कि ब्रह्म अनादिकाल से अविद्या से संश्लिष्ट है। अविद्या में दो शक्ति होती हैं (१) आवरणशक्ति और (२) विक्षेप शक्ति। आवरणशक्ति से अविद्या ब्रह्म के स्वरूप को आच्छादित कर देती है और यह आच्छादन वस्तुतः ब्रह्म का न होकर जीव

की दृष्टि का आच्छादन होता है किन्तु जीव अज्ञानवश अपनी दृष्टि का आच्छादन न मान कर ब्रह्म का आच्छादन मानता है। इस आच्छादन से ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप का स्फुरण नहीं हो पाता। दूसरी शक्ति से ब्रह्म में जगत् का विक्षेप अर्थात् जगत् की उत्पत्ति और प्रतीति का प्रवाह प्रवृत्त होता है। इस प्रकार ब्रह्म जगत् प्रवृत्ति को सापेक्ष होने से ब्रह्म (१) जगत् का अपने अविद्यात्मक शरीर से उसका उपादान और (२) अपने चैतन्यात्मकस्वरूप से उसका निमित्त कारण होता है–यह बात ठीक उसी प्रकार उपपन्न होती है जैसे लूता (मकरी नामक कीडा) अपने शरीर से तन्तुजाल का उपादानकारण और अपने ज्ञान एवं प्रयत्न से उसका निमित्त कारण होती है। इस प्रकार ब्रह्म जगत् का निमित्त –उपादान होने से ब्रह्म की ही परमार्थ सत्ता मानी जाती है। (३) अविद्या विषय और आश्रय के रूप में ब्रह्म की मुखापेक्षिणी होती है अत एव उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं होती। वह उस समय समाप्त हो जाती है जब ब्रह्म के वास्तव-स्वरूप का मनुष्य को साक्षात्कार होता है। इसी अभिप्राय से वेदान्ती ने ब्रह्म को अद्वैत कहा है।

[अद्वैत शब्द की विविध व्युत्पत्तियाँ]

व्याख्याकार ने अद्वैत शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतायी है 'द्वाभ्याम् इतम्=द्वीतम्, द्वीते भवं द्वैतम्–न द्वैतम्=अद्वैतम्।' इस व्युत्पत्ति से प्रतीत होने वाले उनके अभिप्रायानुसार इसका यह अर्थ किया जा सकता है–द्वाभ्याम्=सम्बन्धिभ्याम्, इतं=ज्ञातं द्वीतम्, अर्थात् दो सम्बन्धियों से ज्ञात होने वाला सम्बन्ध द्वीत है और उसमें स्वप्रतियोगिकत्व और स्वानुयोगिकत्व से विद्यमान होने वाला सम्बन्धी द्वैत है–जो ऐसा नहीं है वह अद्वैत है। इस प्रकार अद्वैत शब्द का अर्थ होता है असंसृष्ट–असङ्ग। इससे यह सूचित होता है कि ब्रह्म का किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

दूसरा अर्थ हो सकता है कि द्वाभ्यां=विशेष्यविशेषणाभ्यां इतम्=ज्ञातम्-द्वीतम्, अर्थात् विशेष्यविशेषण से ज्ञात होने वाला विशिष्ट, उसमें घटक होकर विद्यमान होने से विशेषण और विशेष्य का द्वैत है। ब्रह्म उनसे भिन्न होने से अद्वैत है। इससे यह सूचित होता है कि ब्रह्म विशेष्य-रूप अथवा विशेषणरूप अथवा विशिष्ट रूप न होकर इन सभी से परे है।

तीसरा अर्थ यह हो सकता है कि सजातीय और विजातीय से होने वाला ज्ञान द्वीत; और उसमें विषयता सम्बन्ध से रहने वाला है सजातीय और विजातीय। उससे भिन्न होने के कारण ब्रह्म अद्वैत है। इससे यह सूचित होता है कि ब्रह्म किसी का सजातीय और विजातीय नहीं है।

अथवा द्वैत का यह अर्थ किया जा सकता है कि दो प्रतियोगि-अनुयोगी से ज्ञात होने वाला भेद है द्वीत; और उसमें आधेयता सम्बन्ध से विद्यमान होने से 'भिन्न' हुआ द्वैत। किसी से भिन्न न होने से ब्रह्म हुआ अद्वैत। इस प्रकार अद्वैत शब्द की उक्त व्युत्पत्ति देकर व्याख्याकार ने ब्रह्म की असंगता, अखण्डता-सजातीय-विजातीयशून्यता एवं अभिन्नता सूचित की है।

अद्वैत शब्द की अन्य ग्रन्थों में भी कुछ व्युत्पत्ति प्राप्त होती है जिसमें एक यह है–'द्वयोर्भावः द्विता, द्विता अस्ति अस्येति द्वैतम् न द्वैतम्–अद्वैतम्'–इस व्युत्पत्ति के अनुसार अद्वैत शब्द का अर्थ है द्वित्व का अनाश्रय। इससे ब्रह्म का द्वितीयराहित्य सूचित होता है। दूसरी व्याख्या यह है–'द्वयोः इतम्—द्वीतम्, द्वीतमेव द्वैतम् न द्वैतं यत्र तद् अद्वैतम्'-दो में आश्रित होने से अर्थात् द्वयसापेक्ष

होने से द्वैत का अर्थ है भेद और जिसमें भेद न हो वह है अद्वैत । कहने का तात्पर्य यह है कि अद्वैत शब्द की अनेक व्युत्पत्ति की जा सकती है किन्तु सभी के अनुसार ब्रह्म को अद्वैत कहने से उसकी परमार्थ रूप में एकमात्रता सूचित होती है ।

[एकमात्र ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता का उपपादन]

व्याख्याकार ने ब्रह्म को अद्वैत कह कर जो अद्वैत शब्द की व्युत्पत्ति की है उसकी, ब्रह्म के अद्वैतत्व समर्थन में उक्त हेतु से अभिप्रार्थकता प्रतीत होती है । अर्थात्–व्याख्याकार ब्रह्म को अद्वैत कह कर ब्रह्म को भेदरहित बताना चाहते हैं । उनका आशय यह है कि मूल ग्रन्थकार ने अद्वैत शब्द से ब्रह्म का भेदराहित्य यह अर्थ बताकर सूचित किया है कि ब्रह्म से भिन्न कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो ब्रह्म को भिन्न सिद्ध कर सके; क्योंकि नील-पीतादि जो अन्यों को भेदकरूप से अभिमत हैं वह भी ब्रह्ममात्र ही हैं-ब्रह्म से अतिरिक्त उनकी सत्ता नहीं है । इस कथन का समर्थन व्याख्याकार ने यह कहते हुये किया है कि,–जैसे निसर्गतः अनवच्छिन्न-अपरिमित आकाश का घट-पटादि उपाधिओं से भेद नहीं होता, उसी प्रकार नीलपीतादि पदार्थों से भी निसर्गतः निस्सीम होने से ब्रह्म का भी भेद नहीं हो सकता । इस कथन से यह स्पष्ट है कि ब्रह्म में ब्रह्म का भेद कथमपि सम्भव नहीं है । फलतः वह सजातीयद्वितीय से रहित है ।

[ब्रह्म स्वगतद्वितीयभेद से भी शून्य है]

इस के अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि वह केवल सजातीय द्वितीय से ही रहित नहीं है अपितु विजातीय और स्वगत द्वितीय से भी रहित है । अर्थात्–जैसे ब्रह्म से अतिरिक्त ब्रह्म की कोई सजातीयवस्तु न होने से उसमें सजातीय भेद का अभाव है उसी प्रकार ब्रह्म से विजातीय भी किसी की परमार्थसत्ता न होने से उसमें विजातीय भेद का भी अभाव है एवं ब्रह्म के निरंश और निर्धर्मक होने से इसमें कोई ऐसी भी वस्तु नहीं है जो धर्मरूप से या घटकरूप से अथवा आश्रितरूप से ब्रह्मगत कहा जाय और ब्रह्म उस से भिन्न हो । अतः ब्रह्म में स्वगत का भी भेद नहीं है, जैसा कि वृक्ष में वृक्षगत शाखा-पत्रादि का और रूपस्पर्शादि का भेद होता है । इस प्रकार ब्रह्म सजातीय विजातीय और स्वगत, इन तीनों के भेद से शून्य है । इस त्रिविध शून्यता को बताने के लिये ब्रह्म के विषय में 'एकमेवाऽद्वितीयम्' इन शब्दों का प्रयोग उपनिषदों में किया गया है । इस तथ्य का निरूपण करते हुये व्याख्याकार ने वेदान्तीओं की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया है कि—

किञ्च, भेदस्य वस्तुस्वभावत्वे तस्यैकस्यानेकवृत्तित्वाद् वस्तुनामपि भेदो न स्यात् । नैकस्मादभिन्नमभिन्नस्वभावं भिन्नं युज्यते । अर्थान्तरत्वे च तस्य वस्त्वरूपत्वात् स्वरूपेण भावा न व्यावृत्ताः स्युः । कल्पितात्तु भेदात् कल्पितमेव नीलादिनानात्वम्, न तु पारमार्थिकम् । अथ परापेक्षं वस्तुनो भिन्नत्वं, स्वरूपेण त्वेकत्वमिति न दोष इति चेत् ? न, न हि वस्तु स्वहेतु-बलोदितं स्वभावव्यवस्थितये परमपेक्षत इति पुरुषप्रत्ययधर्म एव परापेक्षत्वमिति न ततो वस्तुभेदः । यदि च भेदस्वरूपो भावः प्रतियोग्यपेक्षः स्यात् । स्वहेतोरनिकलस्य तस्योत्पत्तिर्न

स्यात् । 'स्वहेतोरेव प्रतियोग्यपेक्षभेदाख्यरूपस्तदनपेक्षस्वरूपश्च भाव उत्पन्न' इति चेत् । ननु क इहापेक्षार्थः ? । न तावदुत्पत्तिः, स्वहेतुत एव तदुदयात् । नाप्यर्थक्रिया, प्रतियोग्यसंनिधानेऽप्यर्थक्रियादर्शनात् । प्रतीतिश्चेत् तर्हि रूपादेः स्वरूपस्य चक्षुरादित इव भेदस्यापि ज्ञानात् प्रतियोगिनः प्रतीतावपि न सापेक्षस्वभावत्वम् । 'कथं तर्हि कत्रापि पित्रत्वादयः' ? इति चेत् ? एकत्र ह्रस्वत्व-दीर्घत्वादिवत् कल्पिता एव ।

[भेद वस्तु स्वभावरूप और अर्थान्तररूप होने पर द्वैत की असिद्धि]

भेद द्वारा ब्रह्म की एकमात्रता का भङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि भेद यदि वस्तुस्वभाव होगा तो वह एक ही अनेकवृत्ति होगा और उस स्थिति में वस्तुओं का परस्पर भेद सिद्ध न हो सकेगा क्योंकि सभी का भेदात्मक एकस्वभाव होने से सभी में अभेद हो जायेगा, क्योंकि यह नियम है कि जो वस्तु जिसके साथ अभिन्नस्वभाव होती है वह उससे भिन्न नहीं होती । यदि भेद को वस्तुस्वभाव न मान कर अर्थान्तर माना जायगा तो वस्तुओं में परस्पर स्वरूप से भिन्नता की सिद्धि नहीं होगी । क्योंकि वे वस्तुस्वरूपानात्मक भेद द्वारा कैसे व्यावृत्त होंगे ? यदि भेद को वस्तुस्वभाव तथा वस्तु से भिन्न अर्थान्तर न मान कर कल्पित माना जाय तो नील पीतादि का जो परस्पर में भेद है वह भी काल्पनिक हो जायगा, पारमार्थिक नहीं होगा । अतः ब्रह्म की भेद से किसी भी प्रकार भिन्नता सम्भव न होने से उसकी अद्वैतरूपता अक्षुण्ण रहती है । यदि यह कहा जाय कि-'वस्तु की भिन्नता परापेक्ष है और एकत्व स्वरूप-निबन्धन है इस प्रकार आत्मा में परापेक्ष भिन्नता और एकता दोनों सिद्ध हो सकती है । अतः ब्रह्म को स्वरूपतः एक और परापेक्षया भिन्न मानने में कोई दोष नहीं है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अपने हेतुओं के बल से उत्पन्न होने वाली वस्तु, स्वस्वभाव की व्यवस्था के लिये अन्य की अपेक्षा नहीं करती किन्तु उसका स्वभाव उसके उत्पादक हेतुओं से ही व्यवस्थित होता है । अतः भेद के सम्बन्ध में जो परापेक्षता प्रतीत होती है वह भेदगत न होकर पुरुष के ज्ञान का धर्म होती है । अर्थात् वस्तुनिष्ठभेद परापेक्ष नहीं होता, किन्तु उसका ज्ञान परापेक्ष होता है । अतः भेद को परापेक्ष कह कर वस्तुभेद की सिद्धि नहीं की जा सकती ।

[भेदात्मकस्वभाव का व्यवस्थापक मात्र हेतु नहीं]

यदि यह कहा जाय कि-"भेदस्वरूपभाव प्रतियोगिसापेक्ष होता है अतः उसके हेतुमात्र से उसके भेदात्मक स्वभाव की व्यवस्था नहीं हो सकती, उससे केवल उसकी उत्पत्ति होती है । किन्तु यह स्वभाव प्रतियोगी की अपेक्षा से ही निष्पन्न होता है"-तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर भाव के हेतु से भाव की आंशिक उत्पत्ति होगी, पूर्ण उत्पत्ति न हो सकेगी । जब कि ऐसी उत्पत्ति अनुभवविरुद्ध है । यदि यह कहा जाय कि-'भाव अपने हेतु से ही प्रतियोगिसापेक्ष भेदात्मकरूप और प्रतियोगिनिरपेक्षभेदान्य स्वस्वरूप से सम्पन्न ही उत्पन्न होता है और यह उत्पत्ति उसकी पूर्ण उत्पत्ति है ।"-तो यह भी ठीक नहीं है, कारण, उसके भेदात्मक रूप में जो प्रतियोगिसापेक्षता है उसका निर्वचन नहीं हो सकता, क्योंकि यदि अपेक्षा का अर्थ उत्पत्ति हो तो उसमें प्रतियोगी की कोई उपयोगिता न होगी क्योंकि भाव के रूप की उत्पत्ति भाव के हेतु से ही होती है ।

अतः जब भेद भाव का रूप है तो उसकी भाव के हेतु से ही उत्पत्ति होगी। प्रतियोगी उसके लिये आवश्यक न होगा।

[अर्थक्रिया प्रतियोगिनिरपेक्ष हो सकती है]

यदि यह कहा जाय कि-'अपेक्षा का अर्थ है अर्थ क्रिया।' अतः उसके लिये प्रतियोगी अवश्य उपादेय होगा, क्योंकि भाव स्वेतरभिन्नरूप से ही अपनी अर्थ क्रिया का सम्पादक होता है। स्वेतरभिन्नता स्वेतरात्मक प्रतियोगी से ही सम्पन्न होती है।'–तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि प्रतियोगी के असंनिधान में भी अर्थक्रिया देखी जाती है। यदि यह कहा जाय कि-'अर्थक्रिया का अर्थ है प्रतीति अतः भेदप्रतीति ज्ञात होते हुए प्रतियोगी से साध्य होने के कारण भेदस्वरूप की प्रतियोगीसापेक्षता निर्बाध सम्भव है"-तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे घटादिआत्मक अभाव का रूपादिआत्मकस्वरूप चक्षु आदि से ज्ञात होता है उसी प्रकार उसका भेदात्मक स्वरूप भी उन्हीं से ज्ञात हो सकता है। अतः प्रतीति द्वारा भी भाव में प्रतियोगिसापेक्षस्वभावता नहीं हो सकती।

[पुत्रत्व-पितृत्वादि भेद कल्पित हैं]

यदि यह शंका की जाय कि 'अगर वस्तुओं में विविधता नहीं है तो एक व्यक्ति में पितृत्व आदि कैसे सम्भव होगा? एक ही व्यक्ति अपना ही पिता और पुत्र नहीं हो सकता' तो-इसका उत्तर यह है कि जैसे एक ही वस्तु में ह्रस्वत्व-दीर्घत्व कल्पित है उसी प्रकार एक ही व्यक्ति में पितृत्व-पुत्रत्वादि भी कल्पित है और कल्पित वस्तु के अनुरोध से अकल्पित वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। आशय यह है कि ह्रस्वत्व और दीर्घत्व वास्तव न होकर कल्पित है, उसी प्रकार पितृत्व और पुत्रत्व की उपपत्ति परस्परापेक्ष होने से कल्पित है। अतः उसके अनुरोध से वास्तव विविधता की कल्पना नहीं हो सकती किन्तु एक ही व्यक्ति में अज्ञानवश वैविध्य की कल्पना से वस्तुदृष्टया उसी व्यक्ति में पितृत्व-पुत्रत्वादि का व्यवहार होता है।

स्यान्मतम्, 'अर्थक्रियाभेदाद् वस्तुभेदः स्यादिति'। न, दाह-पाकविभागेनापि कृशानोरभेदात्। 'तत्राऽदृष्टयाऽर्थक्रिययाऽर्थभेदः, यथा चक्षुष्मत्यपि बधिरेऽदृष्टया शब्दबुद्ध्येन्द्रियभेद' इति चेत्? नाऽद्वैते किञ्चिदेकत्राऽदृष्टं नाम। ततश्च तत्राऽदृष्टार्थक्रियासिद्धौ तद्भेदसिद्धिः, सिद्धे च भेदे तत्रादर्शनमितीतरेतराश्रयः। अपिच, सन्मात्रे सर्वत्र प्रत्यक्षाद् निश्चिते तत्र भेदानवकाशः, कालभेदाभावेन 'सोऽयम्' इत्यवमर्शाभावेऽपि निर्विकल्पकलब्धविधिरूपाबाधात्, अलब्धरूपस्य चानिषेधात्, खपुष्पादिनिषेधेऽपि सिद्धेषु खादिष्वेव पुष्पादीनां निषेधात्। 'कुतश्चिद् निमित्तात् बुद्धौ लब्धरूपाणां तेषां बहिर्निषेधः' इत्यन्ये।

[अर्थ क्रियाभेद से वस्तुभेद सिद्ध नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि-'अर्थ क्रिया के भेद से वस्तु में भेद की सिद्धि आवश्यक है क्योंकि एक ही कारण से समस्त अर्थ क्रियाओं का उदय युक्तिसंगत नहीं है।' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही अग्नि से दाह-पाकादि विभिन्न अर्थ क्रियाओं का उदय होता है। अतः अर्थ क्रिया का भेद वस्तुभेद

के साधन में व्यभिचरित है। यदि यह कहा जाय कि-'जैसे चक्षुष्मान् बधिर में अनुपलब्ध शब्द श्रवणरूप अर्थ क्रिया से चक्षु में शब्दग्राहक इन्द्रिय का भेद सिद्ध होता है उसी प्रकार पाक और दाह के कारण भूत अग्नि में दाह और पाक के भेद की सिद्धि न होने पर भी जो अर्थक्रिया उस अग्नि से नहीं उपलब्ध होती उस अर्थ क्रिया के द्वारा उसमें भी भेदसिद्धि आवश्यक है।''–तो यह भी ठीक नहीं है, कारण कि अद्वैत सिद्धान्त में कोई कार्य एकत्र अदृष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि एकत्र अदृष्टता अन्यत्र दृष्टता पर निर्भर है, अतः अमुक कारण से अमुक अर्थक्रिया अदृष्ट है यह सिद्ध होने पर ही अमुक कारण में अमुक अर्थक्रिया के कारण का भेद सिद्ध होगा और उस भेद के सिद्ध होने पर ही अमुक कारण से अमुक अर्थक्रिया का अदर्शन सिद्ध होगा। अतः अदृष्ट अर्थक्रिया के भेद से अर्थभेद की सिद्धि अद्वैतवाद में परस्पराश्रय(अन्योन्याश्रय नामक दोष से)ग्रस्त है।

['घटः सन्' इत्यादि प्रत्यक्ष से सन्मात्ररूपता की सिद्धि]

दूसरी बात यह है कि–'घटः-सन्' 'पटः-सन्' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीति से घटपटादि समस्त पदार्थ केवल सन्मात्र रूप सिद्ध हैं। अत एव उनमें भेदसिद्धि का कोई अवसर नहीं है। यद्यपि अद्वैतवाद में कालभेद न होने के कारण 'सोऽयम्' इस प्रकार की बुद्धि सम्भव नहीं है; अतः इस बुद्धि में 'अयं न सः' इस प्रकार की भेद बुद्धि का बाध सम्भव न होने के कारण भेदसिद्धि का सम्भव प्रतीत होता है। तो भी भेदबुद्धि की निरवकाशता निर्विवाद है, क्योंकि निर्विकल्पक अर्थात् अप्रामाण्यसंशय से अनास्कन्दित 'घटः सन्' 'पटः सन्' इत्यादि प्रत्यक्ष निश्चय से घट-पटादि पदार्थों का विधिरूप यानी सन्मात्रात्मकता सिद्ध है, अतः भेदबुद्धि से उसका बाध नहीं हो सकता और घटपटादि का सत् स्वरूप से अतिरिक्त स्वरूप द्वारा अभेद प्राप्त नहीं है, फलतः भेदबुद्धि से उसका भी निषेध नहीं हो सकता, अतः भेदबुद्धि निष्प्रयोजन होने से निरवकाश है। यदि यह कहा जाय कि–'जैसे असिद्ध भी आकाशपुष्पादि का 'आकाशपुष्पं नास्ति' इसी प्रकार निषेध होता है उसी प्रकार सत्स्वरूपता अतिरिक्त स्वरूप से घटपटादि के असिद्ध अभेद का भी 'घटाऽभिन्नः पटादिः न' इस प्रकार निषेध हो सकता है। अतः भेदबुद्धि निष्प्रयोजन होने से निरवकाश नहीं हो सकती।''–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'आकाशपुष्पं नास्ति' 'आकाशपुष्पं नास्ति', यह आकाश पुष्प का निषेध नहीं है, किन्तु 'आकाशे पुष्पं नास्ति' इस प्रकार आकाश में पुष्प का निषेध है। अतः उक्त दृष्टान्त से घट-पटादि के असिद्ध अभेद के निषेध की उपपत्ति नहीं की जा सकती।

यदि यह कहा जाय कि–'घटाभिन्नः पटो न' इस निषेध को भी 'पटः न घटाभिन्नः' इस रूप में व्याख्या की जा सकती है'–तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पुष्प अन्यत्र सिद्ध है अतः आकाश में उसका निषेध हो सकता है किन्तु घटाभेद कहीं ऐसे पदार्थ में सिद्ध नहीं है जिसका निषेध पट में किया जा सके।

[घटाभेद किसी भी प्रकार सिद्ध न होने से निषेध अशक्य]

यदि यह कहा जाय कि–'घटाभेद घट में सिद्ध है अतः पट में उसका निषेध हो सकता है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'घटो घटः' इस प्रकार की बुद्धि न होने से घट में भी घटाभेद सिद्ध नहीं है। यदि यह कहा जाय कि–'कम्बुग्रीवादिमान् घटः' इस बुद्धि से कम्बुग्रीवादिमत्स्वरूप से घटमें घटाभेद

सिद्धि है अतः पटादि में उसका निषेध किया जा सकता है'–तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे कम्बुग्रीवादिमत्त्वरूप से घटाभेद सिद्ध होने के कारण कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्न में घटाभेद का निषेध नहीं होता, उसी प्रकार घटपटादि में सत्त्वरूप से परस्पराभेद सिद्ध होने से पट में घट के अभेद का निषेध नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि–'सत्त्वरूप से घट में घटाभेद सिद्ध होने पर भी पटत्वविशिष्ट में घटाभेद का निषेध हो सकता है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि भेद व्याप्यवृत्ति होने से कोई वस्तु एक ही वस्तु से भिन्न और अभिन्न नहीं हो सकती। एवं दूसरी बात यह है कि घटत्व-पटत्वादि सभी धर्म एक ही सत् पदार्थ में कल्पित है, अतः उनमें विरोध न होने से एक धर्मावच्छिन्न में अन्य धर्मावच्छिन्न का भेद नहीं हो सकता। लोक में जो 'घटः पटो न' 'घट यह पट नहीं है' इस प्रकार का व्यवहार होता है वह काल्पनिक है, इसलिये उससे अद्वैत की वास्तविकता का भङ्ग नहीं हो सकता।

[आकाश पुष्प के निषेध में मतान्तर की चर्चा]

इस संदर्भ में व्याख्याकार ने आकाश पुष्प निषेध के सम्बन्ध में एक अन्य मत की चर्चा की है जिसका आशय यह है कि–किसी निमित्त विशेष से बुद्धिगत होने वाले आकाश पुष्पादि का 'आकाशपुष्पं नास्ति' इस रूप में बाह्यदेश में निषेध किया जाता है। जिसका तात्पर्य यह है कि आकाशपुष्पादि की केवल बौद्धिक सत्ता है, बाह्य सत्ता नहीं है। इस मत के उल्लेख से यह सूचित होता है कि प्रस्तुत विषय में घटपटादि के अभेद के निषेध की उस प्रकार भी उपपत्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि घटपटादि का घटत्व-पटत्वादिरूप से अभेद किसी निमित्त विशेष से बुद्धिगत भी नहीं है। अतः अद्वैतवाद में भेदबुद्धि नितान्त निष्प्रयोजन होने से निरवकाश है।

किञ्च एकस्य द्व्यात्मकस्याभावात्, भेदा-ऽभेदयोरेकतरस्य मिथ्यात्वनियमे भेदानामेव तत्त्वकल्पनमुचितम्, सर्पादिप्रतीतौ(तद्)दर्शनात् न तु वस्तुमात्रस्य। अपि च, गन्धसमवायि-कारणतावच्छेदकं यथा पृथिवीत्वमेवेति तत्रैव गन्धः, तत्संबन्धादेव च जलादौ गन्धवत्त्वव्यवहारः, तथा सत्त्वाश्रयतावच्छेदकमपि चित्त्वमेवेति चिदेव सती तदधीनत्वात् सर्वव्यवहारस्य, तत्संबन्धादेव च प्रपञ्चे सत्त्वव्यवहारः।

(भेदाभेद में से भेद ही मिथ्या है)

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि, एक वस्तु द्व्यात्मक-द्विरूप अर्थात् भिन्न अभिन्न नहीं हो सकती। इसलिये भेद और अभेद में किसी एक को मिथ्या मानना आवश्यक है। तब अभेद को मिथ्या मानने की अपेक्षा भेद को ही मिथ्या मानना उचित है, जैसे कि, रज्जु में प्रतीयमान होने वाले सर्प में रज्जुसत्ता से अतिरिक्तसत्ता शून्यत्वरूप रज्जु का अभेद मिथ्या नहीं होता किन्तु रज्जु-सत्ताऽतिरिक्तसत्ता रूप रज्जुभेद ही मिथ्या होता है, अतः रज्जु और सर्पात्मक-वस्तुमात्र मिथ्या नहीं होता उसी प्रकार वस्तु में प्रतीत होने वाले भेदाभेद में भेद ही मिथ्या होता है-अभेद एवं अभिन्नरूप में प्रतीत होने वाली वस्तु यह सब मिथ्या नहीं होता। अतः वह अद्वैत वस्तु प्रामाणिक है, जिसमें भेदाभेद बुद्धियों का उदय होता है।

[पृथ्वी में गन्धवत्ता की तरह चित् में ही सत्ता]

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि, जैसे समवाय से गन्ध के प्रति तादात्म्यसम्बन्ध से पृथ्वी कारण होती है और पृथ्वी में विद्यमान गन्धसमवायिकारणता का पृथ्वीत्व अवच्छेदक होता है, कहते भी हैं कि पृथ्वीत्वयां पृथ्वीत्वावच्छेदेन गन्धसमवायिकारणता है, अत एव पृथ्वी में ही गन्ध होता है किन्तु गन्धाश्रय पृथ्वी के सम्बन्ध से जल आदि में वास्तव गन्ध नहीं, वहां औपाधिक गन्धवत्त्व का व्यवहार होता है उसी प्रकार सत्ता के आश्रयता का चित्त्व अवच्छेदक होता है अत एव चित् ही सत् होता है, जगत का सम्पूर्ण व्यवहार चित् के अधीन होता है। जगत् की समस्त वस्तुओं के साथ सत्ताश्रय चित् का सम्बन्ध होने से जगत् में सत्त्व व्यवहार होता है। इस प्रकार जगत में, उसके अधिष्ठानभूत चित् की सत्ता से ही सत्त्वव्यवहार की उपपत्ति हो जाती है, अतः जगत में स्वतन्त्र सत्ता मानने में कोई युक्ति नहीं है।

अपि च पराभिमतात्मविशेषादर्शनान्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वात् प्रपञ्चप्रतिभासस्य भ्रमत्वम्। न च तदन्वय-व्यतिरेकयोर्देहतादात्म्यप्रतिभासेनाऽन्यथासिद्धिः, विनिगमकाभावात्, मुक्तौ देहतादात्म्याऽप्रतिभासवत् प्रपञ्चाऽप्रतिभासनात्, संसारदशायां देहतादात्म्यप्रतिभासवत् प्रपञ्चप्रतिभासनाच्च। वस्तुत आत्मविशेषाऽदर्शनजन्यतावच्छेदकं नात्म-देहतादात्म्यभ्रमत्वम्, गौरवात्, किन्तु दृश्यदर्शनत्वमेव, लाघवात्। अत एव ब्रह्मणः सकलप्रपञ्चविषयत्वं संयोगादिसम्बन्धाऽनिरूपणात् स्वरूपस्य च संबन्धत्वाऽभावात् काल्पनिकज्ञेयतादात्म्याश्रयणेनोपपद्यत इति युक्तम्।

[आत्मतत्त्व के अदर्शन से प्रपञ्च का भ्रमज्ञान]

यह भी ज्ञातव्य है–जगत् का जो प्रतिभास होता है। वह, पर (वेदान्ती) को अभिमत जो अद्वितीय आत्मा है, उस के अदर्शन के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान करता है। अर्थात् जब तक आत्मा का अज्ञान रहता है तब तक जगत् की प्रतीति होती है और जब आत्मा का तत्त्वदर्शन होने पर उस अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तब जगत् की प्रतीति नहीं होती। अत एव जगत् की प्रतीति उसी प्रकार भ्रम रूप है जैसे रज्जु के वास्तव स्वरूप के अदर्शन के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान करने वाला रज्जु में सर्पज्ञान भ्रम होता है। यदि यह कहा जाय कि–'आत्मा के अदर्शन का जो अन्वयव्यतिरेक है वह आत्मा में देहतादात्म्य के प्रतिभास का निमित्त होता है। अत एव वह प्रपञ्च की प्रतीति के साधन में अन्यथा सिद्ध है।'–तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वह क्या देहात्मतादात्म्य के प्रतिभास का साधक है? या प्रपञ्चप्रतीति का साधक है? इसमें कोई विनिगमक नहीं है, क्योंकि मोक्ष होने पर जैसे देहात्मतादात्म्य के प्रतिभास का अभाव होता है उसी प्रकार प्रपञ्चप्रतिभास का भी अभाव होता है। एवं संसार दशा में जैसे देहात्म-तादात्म्य का प्रतिभास होता है उसी प्रकार प्रपञ्च का भी प्रतिभास होता है। अतः देहात्मतादात्म्य-प्रतिभास और प्रपञ्च प्रतिभास दोनों में आत्मतत्त्व के अज्ञान का अन्वयव्यतिरेक समान होने से यह कहना असङ्गत है कि वह देहात्मतादात्म्यप्रतिभास का ही हेतु है–प्रपञ्चप्रतिभास का नहीं।

[आत्माऽज्ञान जन्यतावच्छेदक दृश्यदर्शनत्व होने में लाघव]

सच बात तो यह है कि यदि आत्मतत्व के अज्ञान को देहात्म-तादात्म्यभ्रम के प्रति कारण माना जायगा तो उसका जन्यतावच्छेदक देहात्मतादात्म्यभ्रमत्व होगा अतः कार्यतावच्छेदक कुक्षि में आत्मा और देह तथा उन के तादात्म्य का प्रवेश होने से गौरव है। अतः लाघव से दृश्य-दर्शन के प्रति ही उसको कारण मानना उचित है, क्योंकि दृश्य-दर्शनत्व को कार्यतावच्छेदक मानने में लाघव है। यदि यह कहा जाय कि 'दृश्य-दर्शन में विद्यमान कार्यता के अवच्छेदक कोटि में दृश्य का दृश्यत्व रूप से प्रवेश होता है और दृश्यत्व वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यविषयत्वरूप है, अतः दृश्य-दर्शनत्व की कुक्षि में भी वृत्तिप्रतिबिम्ब और चैतन्य का प्रवेश होने से कुछ भी लाघव नहीं है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि दृश्यदर्शनत्व की कुक्षि में दृश्य का वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यविषयत्व रूप से प्रवेश न कर आत्मभिन्नत्वरूप से उसका प्रवेश करने पर लाघव निर्विवाद है।

[ब्रह्म के साथ प्रपञ्च का काल्पनिक तादात्म्य है]

आत्मतत्व का अदर्शन आत्मभिन्न सम्पूर्ण वस्तु के दर्शन का कारण होता है, इसीलिये ब्रह्मस्वरूप दर्शन में सकलप्रपञ्चविषयत्व की उपपत्ति उसमें प्रपञ्च का काल्पनिक तादात्म्य मानने से सम्भव होती है, अन्यथा ब्रह्म के साथ प्रपञ्च का कोई अन्य सम्बन्ध सम्भव न होने से उसमें सकल-प्रपञ्च-विषयत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। ब्रह्म में प्रपञ्च का काल्पनिक तादात्म्य से अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता यह तो स्पष्ट है, क्योंकि ब्रह्म के साथ प्रपञ्च का संयोग सम्बन्ध सम्भव नहीं है, कारण, प्रपञ्च ब्रह्म में ही प्रादुर्भूत होने के कारण ब्रह्म से अप्राप्त नहीं है। अप्राप्त की प्राप्ति ही संयोगरूप है अतः ब्रह्म के साथ प्रपञ्च का सम्भवित सम्बन्ध अप्राप्तिपूर्वक न होने से वह संयोगरूप नहीं हो सकता। इसी प्रकार ब्रह्म के साथ प्रपञ्च का समवायसम्बन्ध भी नहीं हो सकता। क्योंकि समवायसम्बन्ध निर्युक्तिक है। 'नित्येषु कालिकाऽयोगात्'=नित्यपदार्थों में कालिक संबन्ध नहीं लगता इस नियम के कारण नित्य ब्रह्म के साथ प्रपञ्च का कालिक संबंध नहीं हो सकता। स्वरूप सम्बन्ध भी उन दोनों के बीच सम्भव नहीं है। क्योंकि स्वरूप की सम्बन्धता ही निर्युक्तिक है। अतः अन्य कोई गति न होने से ब्रह्म के साथ प्रपञ्च का काल्पनिक तादात्म्य ही मानना होगा। क्योंकि, प्रपञ्च ब्रह्म में प्रादुर्भूत होता है, ब्रह्म प्रपञ्च का निमित्त कारण होने के साथ ही उपादान कारण भी होता है और उपादानकारण वही होता है जिस में कार्य का तादात्म्य हो, जहाँ कार्यकारण की सत्ता में साम्य होता है वहां उपादान कारण के साथ वास्तव तादात्म्य होता है, जैसे सुवर्ण के साथ कुण्डलादि का और मिट्टी के साथ घटशरावादि का। किन्तु जहाँ उपादान कारण में कार्य का वास्तवतादात्म्य सम्भव नहीं है वहां कल्पित तादात्म्य मानना आवश्यक है। ब्रह्म नित्य और निर्विकार है एवं प्रपञ्च अनित्य और सविकार है अतः उन दोनों में कल्पित ही तादात्म्य हो सकता है। इस का अभ्युपगम इस लिये आवश्यक है कि इस कल्पित तादात्म्य के बिना ब्रह्म में प्रपञ्च की उपादान कारणता नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाय कि–"ब्रह्म में प्रपञ्च का यदि वास्तव तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है तो ब्रह्म को प्रपञ्च का निमित्तकारण ही माना जाय उपादान न माना जाय"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि ब्रह्म प्रपञ्च का उपादान कारण न होकर निमित्त कारण ही होगा तो प्रपञ्च में अपने अस्तित्व पर्यन्त जो सद्रूप से ब्रह्म का अन्वय-सम्बन्ध होता है उसकी उपपत्ति न हो सकेगी, क्योंकि कार्य में उपादान कारण का ही अन्वय सर्वत्र उपलब्ध होता है।

अपि च, आत्म-खपुष्पवदुत्पत्त्ययोगात् सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयः प्रपञ्चः, रज्जौ सर्पवत् । न हि सन्नेव सः, बाधानुभवात् । नाऽप्यसन्, अपरोक्षानुभवात् । 'देशान्तरे सन्नेवे'ति चेत् ? न, मानाभावात्, तत्र प्रतीयमाने सर्पे देशान्तरसत्त्वस्य प्रत्यक्षेणाऽप्रतीतेः । 'कल्प्यते' इति चेत् ? यत्र प्रतिपन्नं तत्रैव किमिति न कल्प्यते ! 'बाधानुभवादि'ति चेत् ? बाधयोग्यं तर्हि कल्प्यताम् । युक्तं चैतद् यद् यथा प्रतीयते तत् तथैवाभ्युपगम्यत इति । 'सर्पसत्त्वे तुल्येऽपि कथमेको ग्राह्यो नाऽपरः' इति चेत् ? कथं प्रतीतितुल्यत्वे एकत्र सत्त्वमपरत्राऽसत्त्वम् ! 'बाधप्रतीतेरि'ति चेत् ! तुल्यं ममापि ।

[प्रपञ्च सत् नहीं, असत् नहीं, अनिर्वचनीय है]

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि प्रपञ्च को सत् अथवा असत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रपञ्च यदि सत् हो तो जैसे आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार उसकी भी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये । यदि असत् हो तो जैसे असत् आकाश पुष्प की उत्पत्ति नहीं होती उसी प्रकार प्रपञ्च की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती । किन्तु प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है, अतः रज्जु में उत्पन्न और प्रतीत होने वाले सर्प के समान प्रपञ्च को सत और असत् से विलक्षण मानना अनिवार्य है ।

यदि यह कहा जाय कि—"सदसद् रूप में प्रपञ्च की अनिर्वचनीयता के साधन में रज्जु-सर्प का दृष्टान्त उचित नहीं है क्योंकि रज्जु-सर्प को केवल सत् अथवा असत् माना जा सकता है"—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि रज्जु में प्रतीयमान सर्प को केवल सत् मानने पर उसका बाध नहीं होना चाहिये, जब कि-'अयं न सर्पः' इस प्रकार रज्जु में सर्प का बाध अनुभव सिद्ध है । उसी प्रकार उसे असत् भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका अपरोक्ष अनुभव होता है । अतः सत्-असत् रूप में अनिर्वचनीय होने के कारण रज्जु-सर्प का दृष्टान्त रूपेण प्रयोग सङ्गत है ।

[रज्जु में भासमान सर्प अन्यत्र सत् हो—इसमें प्रमाणाभाव]

यदि यह कहा जाय कि-'रज्जु में प्रतीत होने वाला सर्प रज्जुस्थल में यद्यपि सत् नहीं है किन्तु अन्य स्थान में वन आदि में वह सत् ही है, अतः उसे सत्-असत् रूप से अनिर्वचनीय नहीं कहा जा सकता'—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'रज्जु में प्रतीत होने वाला सर्प अन्य स्थान में सत् है' इसमें कोई प्रमाण नहीं है । क्योंकि, रज्जु में सर्पप्रतीतिकाल में उसमें देशान्तरसत्त्व की प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती ।

यदि यह कहा जाय कि- देशान्तरसत्त्व की यद्यपि प्रत्यक्षप्रतीति नहीं होती है, किन्तु उसमें उसकी कल्पना होती है'—तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि यदि रज्जु-सर्प में अस्तित्व की कल्पना ही करनी है तो अन्यदेश में अस्तित्व की कल्पना करने की अपेक्षा जिस देश में वह दिखाई दे रहा है उसी देश में उसके अस्तित्व की कल्पना ही उचित है । यदि यह कहा जाय कि-'रज्जु-देश में प्रतीयमान सर्प का रज्जुदेश में सत्त्व होने की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि उस देश में उसके बाध का अनुभव होता है'—तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि बाधयोग्य सत्त्व की कल्पना में कोई बाधक नहीं है, प्रत्युत यही उचित भी है कि जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है उसका उसी रूप

में अभ्युपगम किया जाय। अतः रज्जुसर्प में ऐसे रज्जुदेशास्तित्व की प्रतीति होती है जिसका उत्तर-काल में बाध हो जाता है–यही मानना उचित है अतः रज्जुसर्प का किसी देश में अबाधितसत्त्व नहीं है किन्तु रज्जुदेश में बाधित ही सत्त्व है।

[रज्जुसर्प–वास्तवसर्प दो में एक अवाच्य, अन्य वाच्य कैसे ?]

यदि यह प्रश्न किया जाय कि–'यदि रज्जुसर्प को भी सत् माना जायगा तो रज्जुसर्प और व्यावहारिक वास्तवसर्प दोनों में समान सत्त्व होने से यह कहना कैसे सम्भव होगा कि व्यावहारिक वास्तव सर्प वाच्य है और रज्जुसर्प अवाच्य है ?'–तो यह प्रश्न मूलविहीन है, क्योंकि इस प्रकार का प्रश्न रज्जु सर्प को सत् न मानने पर भी ऊठ सकता है–जैसे व्यावहारिक वास्तवसर्प की प्रतीति होती है उसी प्रकार रज्जुसर्प की भी प्रतीति होती है अतः दोनों प्रतीतिओं में साम्य होने पर व्यावहारिक वास्तव सर्प की प्रतीति सत्य है और रज्जु सर्प को प्रतीति असत्य-अप्रमा है, यह कथन कैसे सम्भव होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में यदि कहा जाय कि–'रज्जु-सर्प प्रतीति के बाद रज्जुसर्प के बाध की भी प्रतीति होती है अतः वह प्रतीति असत्य होती है और व्यावहारिक वास्तवसर्प की प्रतीति में बाध न होने से यह प्रतीति सत्य होती है'–तो इस प्रकार का उत्तर रज्जुसर्प को सत् मानने के पक्ष में भी दिया जा सकता है, अर्थात् यह कहा जा सकता है कि व्यावहारिक वास्तवसर्प में सत्त्व का बाध-ज्ञान न होने से वह सर्प सद्रूप से वाच्य होता है और रज्जुसर्प में सत्त्व के बाध की प्रतीति होने से रज्जुसर्प सद्रूप से अवाच्य होता है।

किञ्च, साधकतावच्छेदकत्वं न प्रमानुभवत्वम्, गौरवात्; किन्त्वनुभवत्वम्, लाघवात्। ततश्चावच्छेदकलाघवेन पुरोवर्तिनि सर्पसिद्धिः, तस्य च मिथ्यात्वमनुभवादेव 'मिथ्या सर्पः' इति। 'अज्ञानाद्युपादानकल्पनागौरवप्रसङ्ग एवं' इति चेत् ? न, अवच्छेदकलाघवेन तस्य फलमुखत्वात्। वस्तुतस्तु विपरीतमेव गौरवं परेषाम्, अत्र प्रतिपन्ने देशान्तरसत्त्वस्याऽप्रत्यासन्नस्याऽपरोक्षत्वस्य ज्ञानस्य प्रत्यासत्तित्वस्य दोषस्य तादृक्सामर्थ्यादेः कल्पनात्।

[अनुभवमात्र वस्तुसाधक मानने में लाघव]

दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि वस्तु को सिद्ध करने वाला प्रमानुभव है यह न मान कर अनुभव सामान्य है यह मानना उचित है, क्योंकि प्रथमपक्ष में प्रमानुभवत्व को वस्तु की साधकता का अवच्छेदक मानने में गौरव होगा और द्वितीयपक्ष में अनुभवत्वमात्र को साधकतावच्छेदक मानने में लाघव होगा। इस प्रकार जब अनुभवत्वरूप से अनुभवमात्र वस्तु का साधक है तब पुरोवर्त्ती रज्जु में सर्प का अनुभव होने से उसमें भी सर्प की सिद्धि निर्बाध है। अनुभव द्वारा उसके सिद्ध होने पर भी वह मिथ्या इसलिए होता है कि जैसे सर्पानुभव से सर्प सिद्ध है उसी प्रकार 'सर्पः मिथ्या' इस रूप में सर्प में मिथ्यात्व भी सिद्ध है। यदि यह कहा जाय कि–'रज्जुसर्प का अस्तित्व मानने पर उसकी उत्पत्ति के लिये उसके उपादान कारणादिरूप में अतिरिक्त अज्ञानादि की कल्पना करनी पड़ेगी, क्योंकि जिन कारणों से व्यावहारिक वास्तव सर्प की उत्पत्ति होती है वे कारण रज्जुदेश में अनुपस्थित है। अतः रज्जु सर्प की सत्ता मानने पर उसके अतिरिक्त कारणों की कल्पना आवश्यक होने से गौरव है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमानुभवत्वरूप से वस्तु की साधकता मानने की अपेक्षा अनुभवत्व-

रूप से वस्तु की साधकता मानने में लाघव होने के कारण जब अनुभवबल से रज्जु सर्पादि की सिद्धि अपरिहार्य है तो उसके बाद जो उसके कारणादि की कल्पना के प्रश्न से गौरव उपस्थित होता है वह फलमुख होने से अर्थात् रज्जु सर्प के सत्त्व की सिद्धि के बाद में उपस्थित होने से रज्जुसर्प के सत्त्व की सिद्धि में बाधक नहीं हो सकता।

[देशान्तरस्थित सर्प की रज्जु में प्रतीति मानने में गौरव]

सत्य बात तो यह है कि रज्जु-सर्प की प्रतीतिकाल में अतिरिक्त रज्जु-सर्प की सत्ता न मानने में ही गौरव है। क्योंकि जब रज्जुस्थल में अतिरिक्त सर्प की प्रतीति न मानकर देशान्तरस्थ सर्प की प्रतीति मानी जायगी तो रज्जुस्थल में प्रतीयमान सर्प में देशान्तरसत्त्व, और असंनिकृष्टसर्प में अपरोक्षत्व, और ज्ञान में इन्द्रियसंनिकर्षत्व, तथा सादृश्यज्ञानादिरूप दोष में ज्ञानात्मकसंनिकर्ष द्वारा सन्निहित वस्तु के प्रत्यक्ष जनन का सामर्थ्य इत्यादि की कल्पना करनी पड़ेगी।

किञ्च, परैरपि विशेषाऽदर्शनस्य भ्रमहेतुत्वमुपेयते। तत्र तैरभावत्वं कल्प्यते, अस्माभिस्तु भावत्वं लघुभूतम्। तैश्च निमित्तत्वं कल्प्यते अस्माभिस्त्वन्तरङ्गमुपादानत्वम् इति। 'स्वाश्रयनिष्ठाऽत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपं कथं मिथ्यात्वम्, सर्पस्य स्वाभावसामानाधिकरण्यविरोधाद्' इति चेत्? न, पृथिव्यां रूपे गन्धसामानाधिकरण्याऽविरोधवद् रज्जौ सर्पे स्वाभावसामानाधिकरण्यस्याप्यविरोधात्। 'कथं तर्हि भ्रान्तित्वम्'? इति चेत्? स्वाभावाश्रये सत्त्वात्। परेषां स्वाभावाश्रये सत्त्वावगाहित्वं भ्रान्तित्वप्रयोजकम्, अस्माकं तु स्वाभावाश्रये सत्त्वम्, इति लाघवम्। 'पुरोवर्तिनि सर्पसत्त्वे व्यवहारः स्याद्' इति चेत्? भ्रमदशायां स्यादेव; बाधदशायां तु बाधस्य प्रतिबन्धकत्वादेव, अन्यदा च सामग्री विरहादेव न स्यादिति। तदेवमनिर्वचनीयस्य सर्पस्य रज्जुरिव अनिर्वचनीयस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मैव तत्त्वम्।

[विशेषाऽदर्शन की अपेक्षा विशेषविषयक अज्ञान की कारणता में लाघव]

इस के अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि नैयायिकादि अन्य विद्वान् भी विशेषाऽदर्शन अर्थात् भ्रम-अधिष्ठान-असाधारण धर्म के अदर्शन को भ्रम का कारण मानते हैं, जैसे रज्जुत्व का अज्ञान सर्प भ्रम का और शुक्तित्व का अज्ञान रजत भ्रम का कारण होता है। यह विशेषाऽदर्शन उनके मत में विशेषदर्शनाभाव रूप होता है, अतः विशेष दर्शनाभावस्वरूप से भ्रम के प्रति कारणता मानने में कारणतावच्छेदक में गौरव होता है। अब वेदान्ती के मत में विशेषादर्शन विशेषविषयक भावात्मक अज्ञानरूप होता है। अत एव विशेष विषयक अज्ञानत्वरूप से कारण मानने में लाघव होता है। दूसरी बात यह है कि नैयायिकादि विशेषादर्शन को निमित्त कारण मानते हैं, अतः वह भ्रम का बहिरङ्ग कारण है और वेदान्ती उसे भ्रम का उपादान कारण मानते हैं अत एव अन्तरङ्ग कारण होता है। इस प्रकार नैयायिकादि के मत में विशेषादर्शन और भ्रम इन दोनों में भेद होता है और वेदान्ती के मत में विशेषादर्शन और भ्रम में तादात्म्य होता है अतः वेदान्तमत में लाघव स्पष्ट है।

[स्वाश्रय में स्वात्यन्ताभाव विरुद्ध होने का आक्षेप]

यदि वेदान्तमत के सम्बन्ध में यह आक्षेप किया जाय कि वेदान्ती द्वारा वस्तु को मिथ्या मानना असङ्गत है, क्योंकि स्वाश्रय में विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही वेदान्तमत में मिथ्यात्व है किन्तु यह किसी भी वस्तु में सम्भव नहीं है, क्योंकि भावाभाव में परस्पर विरोध होने से सर्पादि के आश्रय में सर्पादि का अत्यन्ताभाव सम्भव न होने के कारण उस में स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व असम्भव है'—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जैसे पृथ्वी में रूप में गन्धसामानाधिकरण्य होने में कोई विरोध नहीं है उसी प्रकार रज्जु स्थलीय सर्प में भी स्वाभाव के सामानाधिकरण्य में कोई विरोध नहीं है। अर्थात् रज्जु में सर्प और उसका अभाव दोनों रह सकता है। अत एव सर्प में स्वाश्रयनिष्ठ अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व अक्षुण्ण है। इस पर यदि यह शंका की जाय कि रज्जु में यदि सर्प का भी अस्तित्व है तो रज्जु में प्रतीयमान सर्प भ्रान्त यानी भ्रम का विषय कैसे होगा ? तो इसका उत्तर यह है कि सर्प स्वाभाव के आश्रय रज्जु में विद्यमान होने से भ्रम का विषय है। नैयायिकादि भी स्वभाव के आश्रय में सत्त्वेन ज्ञायमानत्व को ही भ्रान्तित्व का प्रयोजक कहते हैं। उसकी अपेक्षा वेदान्त में स्वाभावाश्रय में सत्त्व को ही भ्रान्तित्व का प्रयोजक मानने में लाघव है।

[रज्जुसर्प के व्यवहारापत्ति होने की आपत्ति मिथ्या]

रज्जु में सर्पसत्ता मानने पर यदि यह शंका की जाय कि—पुरोवर्त्ती रज्जु में सर्पसत्ता है तो उसमें सर्प का व्यवहार होना चाहिये—तो इसका उत्तर यह है कि भ्रम दशा में यह आपत्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि भ्रमदशा में यह व्यवहार होता ही है और बाधदशा में भी वह आपत्ति नहीं है, क्योंकि उस समय बाध ही उसका प्रतिबन्धक हो जाता है। तथा भ्रम और बाध दोनों की अभाव दशा में भी उक्त व्यवहार की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उस दशा में व्यवहार के कारणभूत व्यवहर्त्तव्य ज्ञानादि सामग्री ही नहीं होती। तो इस प्रकार उक्त युक्तियों से यह निर्विवादरूप से सिद्ध होता है कि जैसे रज्जु में प्रतीत होने वाला सर्प सत्-असत् रूप से अनिर्वचनीय होता है, अतः रज्जु ही उस का तात्त्विक रूप है, उसी प्रकार प्रपञ्च भी सत्-असत् रूप से अनिर्वचनीय है और ब्रह्म ही प्रपञ्च का तात्त्विक रूप है।

तच्चाऽद्वितीयम्, प्रपञ्चाऽसिद्ध्या विजातीयभेदशून्यत्वात्। अखण्डमपि, सजातीयभेदशून्यत्वात्। तथाहि-न तावच्चेतनभेदः प्रत्यक्षसिद्धः। न हि चेतना घटादय इव भेदेनानुभूयन्ते। 'तत्तच्छरीरप्रवृत्त्या भिन्नाः कल्प्यन्ते' इति चेत्? न, एकेनैव तत्तच्छरीरप्रवृत्त्युपपत्तावनेककल्पनानुपपत्तेः। 'सुख-दुःखादिवैचित्र्यादनेकत्वं' इति चेत्? न, तस्याप्युपाधिभेदत एवोपपत्तेः। दृष्टं हि गगनस्यैकस्यैव भेरी-कर्णाद्युपाधिभेदेन शब्दविशेषहेतुत्वशब्दग्राहकत्वादिवैचित्र्यम्। इष्यत एव चानेकात्मवादिभिरपि प्रतिचेतनमन्तःकरणेन्द्रियादिभेदः। ततस्तदुपाधित एव सुख-दुःखादिवैचित्र्योपपत्तिः, भानाऽभानव्यवस्थापि तेनैवोपपद्यते।

[ब्रह्म सर्वसजातीय-विजातीय भेद शून्य है]

उक्त विचारों से प्रपञ्च के उपादानकारण रूप से जो ब्रह्म सिद्ध हुआ वह अद्वितीय है, क्योंकि प्रपञ्च ब्रह्म से विजातीयरूप में सिद्ध न होने से ब्रह्म में विजातीयभेद का अभाव है। एवं, ब्रह्म अखण्ड

भी है, क्योंकि ब्रह्म का ब्रह्म से भिन्न कोई सजातीय पदार्थ न होने से उस में सजातीयभेद का भी अभाव है। ब्रह्म का सजातीय कोई नहीं है–इस विषय में शंका करने का कोई अवसर नहीं है, क्योंकि ब्रह्म से भिन्न ब्रह्मसजातीय का कोई साधक प्रमाण नहीं है। अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि चेतनों में परस्परभेद का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि जैसे घटादि का परस्पर भिन्नतया अनुभव होता है उस प्रकार चेतन के परस्परभेद का अनुभव नहीं होता। यदि अनेकान्तवादी की ओर से यह कहा जाय कि–'तत्तच्छरीर में भिन्न-भिन्न चेतन की कल्पना आवश्यक होने से चेतन का परस्पर भेद सिद्ध होना आवश्यक है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि सभी शरीरों में एक चेतन के द्वारा ही प्रवृत्ति की उपपत्ति सम्भव होने से शरीरों में शरीरभेद से चेतनभेद की कल्पना असङ्गत है।

[अन्तःकरण(उपाधि)भेद से सुखादिवैचित्र्य की उपपत्ति]

सुख-दुःखादि के वैचित्र्य से भी चेतन में अनेकत्व का अनुमान नहीं हो सकता किन्तु विभिन्न अन्तःकरणरूप उपाधि के भेद से एक चैतन्य में ही सुख-दुःखादि के वैचित्र्य की उपपत्ति हो सकती है, अर्थात् यह कहा जा सकता है कि सुख-दुःखादि विभिन्न अन्तःकरणों में प्रादुर्भूत होता है। अतः जिस अन्तःकरण में सुख उत्पन्न होता है उस अन्तःकरण द्वारा उपहित चैतन्य सुखी होता है और जिस अन्तःकरण में दुःख उत्पन्न होता है उस अन्तःकरण द्वारा उपहित चैतन्य दुःखी होता है।

यह तथ्य आकाश के दृष्टान्त से सुखबोध्य है-यह स्पष्ट है कि एक ही आकाश नैयायिक मत में भेरी(वाद्यविशेष)रूप उपाधि के द्वारा शब्दविशेष का उपादान कारण भी होता है और कर्णरूप उपाधि द्वारा शब्दग्राहक भी होता है। तथा अनेकान्तवादी भी प्रत्येकात्मा के लिये विभिन्न अन्तःकरण और विभिन्न इन्द्रिय आदि स्वीकार करते ही हैं। अतः जब विभिन्न अन्तःकरण आदि का अभ्युपगम अनिवार्य है तो उसी को आत्मा की उपाधि मान लेने से उन उपाधियों के भेद से एक आत्मा में भी सुख-दुःखादि के वैचित्र्य की उपपत्ति तथा एककाल में एक वस्तु के ज्ञान और अज्ञान की व्यवस्था हो सकती है तो आत्मभेद की कल्पना गौरवग्रस्त होने से त्याज्य है।

किञ्च घटादयः, शरीरादयः, बुद्ध्यादयः, तदाधारश्च स्फुरन्तीत्यविवादम्। स्फुरणं चोपाधिभेदं विनाऽविभाव्यमानभेदतया लाघवेन चैकम्। ततश्च परेषामनुव्यवसायशब्दाभिधेयं स्फुरणं नित्यमेकमात्मेत्युच्यते। तच्च न सुखादिमत्, तद्विषयत्वात्, अननुभवाच्च। एवं च सुखादिवैचित्र्येण तदाधारभेदेऽपि न स्फुरणभेदः। इष्यते च नैयायिकैरपि व्यापकमेकं नित्यमीश्वरज्ञानम्। वस्तुतः कार्यमात्रोपादानतया नित्यैकज्ञानस्यैव सिद्धिः, न तु तदाश्रयस्यापि, तस्यैव च तत्तदुपाधिभेदप्रतिभाससंभवे सुखादिवैचित्र्य-बद्धमोक्षादिव्यवस्थोपपत्तौ न पारमार्थिकभेदकल्पनावकाशः, जीवेश्वरादिभागस्याप्यज्ञानोपाधिकत्वात्।

[सर्वग्राही नित्य एकात्मस्वरूप स्फुरण की सिद्धि]

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि घटादि असन्निहित पदार्थ, शरीरादि सन्निहितपदार्थ, बुद्धि आदि आन्तरपदार्थ और उनका आधार द्रव्य, इन सभी का स्फुरण होता है इसमें किसी को विवाद नहीं है। अब इस स्फुरण में घटादिविषयरूप उपाधिभेद के बिना भेद का ज्ञान नहीं होता,

अतः लाघव से एक स्फुरण सिद्ध होता है। अतः नैयायिकादि जिस स्फुरण को 'अनुव्यवसाय' शब्द से व्यवहृत करते हैं वह वेदान्तमत में नित्य एक आत्मस्वरूप है। आत्मस्वरूप स्फुरण ही घटादि विषयों को और उसके अन्तःकरणवृत्तिरूप प्रतिभासों को ग्रहण करता है। जैसे, न्याय मत में अनुव्यवसाय घटादि के ज्ञान को और ज्ञान के विशेषणरूप घटादि को ग्रहण करता है। यह स्फुरणस्वरूपात्मा सुखादि का आश्रय नहीं है क्योंकि सुखादिविषयक है, जो यद्विषयक होता है वह उसका आश्रय नहीं होता—यह नैयायिकादि को भी मान्य है। दूसरी बात यह है कि, स्फुरण में सुखादिमत्त्व का 'स्फुरणं सुखादिमत्' ऐसा अनुभव नहीं होता है। इस प्रकार सुखदुःखादि के वैचित्र्य से उसके आधार में भेद होने पर भी जो उनका स्फुरण है उसमें भेद नहीं है। एवं यह सर्वग्राही एक नित्यज्ञान की वेदान्तीओं की कल्पना सर्वथा अपूर्व भी नहीं है, क्योंकि नैयायिकादि भी ईश्वरज्ञानरूप में ऐसे ज्ञान का अभ्युपगम करते हैं।

[समस्त कार्यों का उपादान कारण एक नित्य ज्ञान]

सच बात यह है कि कार्यमात्र के कारण रूप में एक नित्यज्ञान की सिद्धि होती है। ज्ञान के आश्रय को कार्यमात्र के कारण रूप में सिद्धि नहीं होती। जो नित्य एकज्ञान कार्यमात्र के कारणरूप में सिद्ध होता है उसमें विभिन्न उपाधि के भेद से विविधप्रतिभास सम्भव है अतः जैसे एक ही चेतन में उपाधिवैचित्र्य से सुख-दुःखादि का वैचित्र्य उपपन्न होता है, उसी प्रकार एक ही में बन्ध-मोक्षादि की व्यवस्था भी उपपन्न हो सकती है। अत एव आत्मा में औपाधिक ही भेद होता है। उसमें पारमार्थिकभेद कल्पना का कोई प्रयोजन नहीं है।

जीव-ईश्वरादि का जो विभाग है वह भी अज्ञानोपाधिमूलक है। अर्थात् अज्ञानसमष्टि से उपहितात्मचैतन्य ईश्वर है और अज्ञानव्यष्टि से उपहितात्मचैतन्य जीव है। अज्ञान में व्यक्तिगत भेद होने से तत्तद् अज्ञान से उपहित जीव चैतन्य में भी औपाधिक भेद होता है। किन्तु ईश्वर एक ही होता है क्योंकि समस्त अज्ञानों की एक समष्टि से वह उपहित होता है। अतः ईश्वर की उपाधि में भेद न होने से ईश्वर में औपाधिक भेद भी नहीं होता।

अज्ञानं च मायाऽविद्यादिशब्दाभिधेयम्। मानं च तत्र—'अहमज्ञः', 'मामन्यं च न जानामि', 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि', 'शास्त्रार्थं न जानामि', इत्याद्यनुगतः प्रत्ययः, अनुगतविषयं विना तदनुपपत्तेः, अन्यथा सत्तादिसामान्योच्छेदप्रसङ्गात्, 'ज्ञानसामान्याभावोऽत्र विषय' इति चेत्? न, आत्मनि तस्याभावात्, अर्थेन सहानुभवाच्च।—'अर्थं न जानामि' इत्यर्थगतसंख्याज्ञानाभावो विषय इति चेत्? न, 'संख्यां न जानामि' इत्यत्राऽगतेः। 'तत्रापरोक्षज्ञानाभावो विषय' इति चेत्? न, 'शास्त्रार्थं न जानामि' इत्यत्रानुपपत्तेः। क्वचित् संख्याज्ञानाभावः, क्वचिदपरोक्षज्ञानाभावः, क्वचिद् निश्चयाभावो विषय' इति चेत्? न, अननुगमात्।

'तच्च चिन्मात्राश्रयविषयमि'ति विवरणाचार्याः, आश्रयविषयभेदकल्पनायां गौरवात्। कल्पितं चेदम्, तेनाखण्डत्वादेर्वस्तुतश्चिद्रूपत्वात्, चिद्रूपस्य चानावृतत्वाद् नानुपपत्तिः,

'चैतन्यं स्फुरति नाखण्डत्वादि' इत्येवं तेनावरणेन भेदकल्पनात्। 'आश्रयमेव कथमावृणोति तत्?' इति चेत्? सत्यम्, अन्धकारे तथादर्शनात्।

[अज्ञानसाधक प्रतीतियाँ 'मैं अज्ञानी हूँ' इत्यादि]

वेदान्तदर्शन में स्वीकृत अज्ञान यह माया-अविद्यादि शब्दों से अभिहित होता है। 'अहमज्ञः = मैं अज्ञानी हूँ' 'मां अन्यं च न जानामि = 'मैं अपने को और अन्य को नहीं जानता हूँ', त्वदुक्तमर्थं न जानामि = 'मैं तुम से कथित अर्थ को नहीं जानता हूं,' 'शास्त्रार्थं न जानामि = शास्त्र का अर्थ नहीं जानता' इत्यादि अज्ञानांश में अनुगत प्रतीति अज्ञान के अस्तित्व में प्रमाण है। क्योंकि ये प्रतीति अनुगत है और प्रतीति का अनुगम विषय के अनुगम के बिना उपपन्न नहीं हो सकता। यदि विषयानुगम के बिना भी प्रतीति का अनुगम माना जायगा तो सत्ता आदि सभी सामान्यों का उच्छेद होगा। यदि यह कहा जाय कि- 'उक्त प्रतीति का विषय ज्ञान सामान्य का अभाव है और यह अनुगत है अत एव उससे इन अनुगत प्रतीतियों की उपपत्ति हो सकती है।'-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मा में ज्ञानसामान्याभाव नहीं रहता। अतः आत्मा में ज्ञानसामान्याभाव का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो सकता। 'अर्थं न जानामि' इस प्रकार अर्थ के साथ ही अज्ञान का अनुभव होता है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि-'जिस समय किसी अर्थ का ज्ञान नहीं है उस समय ज्ञानसामान्याभाव आत्मा में रहता है अतएव उस समय आत्मा में ज्ञानसामान्याभाव का प्रत्यक्ष हो सकता है।'

['अर्थं न जनामि' इस प्रतीति का विषय क्या है ?]

यदि यह कहा जाय कि-"अर्थ के साथ अज्ञान का जो 'अर्थं न जानामि' इस प्रकार अनुभव होता है उस का विषय अर्थगत संख्या के ज्ञान का अभाव है। अतः अर्थ के अनुभव के साथ ज्ञानाभाव के भी अनुभव में बाधा नहीं हो सकती"-तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि फिर भी 'संख्यां न जानामि' इस अनुभव को उपपन्न करने के लिये कोई गति-मार्ग नहीं है। क्योंकि यह अनुभव संख्याविषयक है। अत एव इस अनुभवकाल में संख्याज्ञान का अभाव न रहने से इसे संख्याज्ञानाभावविषयक नहीं माना जा सकता। यदि कहा जाय कि-"यह अनुभव संख्या के अपरोक्षज्ञानाभाव को विषय करता है अतः इसकी उपपत्ति में बाधा नहीं हो सकती। क्योंकि इस अनुभव के काल में संख्या का अपरोक्षज्ञान नहीं रहता।"- तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर 'शास्त्रार्थं न जानामि' इस अनुभव की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि शास्त्रार्थ का अपरोक्षज्ञान ज्ञात न होने से उसके अभाव का भी अनुभव नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि उक्त सभी अनुभव में सर्वत्र एक ही प्रकार का ज्ञानाभाव विषय नहीं है किन्तु कहीं पर संख्याज्ञानाभाव-जैसे 'अर्थं न जानामि' इस अनुभव में, कहीं पर अपरोक्षज्ञानाभाव जैसे 'संख्यां न जानामि' इस अनुभव में, और कहीं निश्चयाभाव जैसे 'शास्त्रार्थं न जानामि' इस अनुभव में, विषय है"—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर उक्त प्रतीतियों में 'न जानामि' इस अंश में अनुगताकारता की उपपत्ति न हो सकेगी। अतः उस अंश में अनुभवसिद्ध अनुगताकारता के अनुरोध से एक अनुगत अज्ञान की कल्पना आवश्यक है।

[अज्ञान का आश्रय और विषय चैतन्य है-विवरणाचार्य]

अनुभवों से जो अभावविलक्षण अज्ञान सिद्ध होता है उस विषय में विवरणाचार्य का यह मत है कि उस अज्ञान का आश्रय और विषय चैतन्यमात्र है। क्योंकि यदि उसके आश्रय और विषय में भेद माना जायगा तो दो पदार्थ की कल्पना में गौरव होगा। चैतन्य में आश्रित चैतन्य विषयक अज्ञान कल्पित है अतः उसके कारण चैतन्य के अखण्डत्व आदि की अनुपपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि अखण्डत्वादि वस्तुतः चैतन्यरूप ही है और वह चैतन्यरूप अज्ञान से आवृत नहीं होता। अखण्डत्व के चैतन्यरूप होने पर भी 'चैतन्यं स्फुरति नाखण्डत्वादि'=चैतन्य का स्फुरण होता है किन्तु उसके अखण्डत्वादि का स्फुरण नहीं होता'-यह व्यवहार अज्ञानात्मकआवरण से चैतन्य और अखण्डत्वादि में भेद की कल्पना से उपपन्न होता है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि 'अज्ञान का आश्रय यदि चैतन्य है तो वह अपने आश्रय का ही आवरण कैसे करता है?" तो इस का उत्तर यह है कि-यह सत्य है कि अपने आश्रय को ही अपने द्वारा आवृत करने में कुछ असमञ्जसता प्रतीत होती है किन्तु यह दुर्घट नहीं है, क्योंकि अन्धकार में अपने आश्रय की ही आवारकता देखी जाती है।

अथ चैतन्यनिष्ठावरणे मानसत्त्वे तदसत्त्वे वाऽवरणाऽनिवृत्ति-तदसिद्धिप्रसङ्ग इति चेत् ? न, साक्षिसिद्धत्वात् तस्य, 'अहं मां न जानामि' इत्यनुभवात्। अत्र च 'माम्' इति द्वितीयार्थस्य विषयत्वस्याऽज्ञानजन्यावरणरूपातिशयशालित्वेनोल्लेखात्। ननु चिन्मात्रनिष्ठ आवरणे 'घटोऽज्ञातः' इति कथम्?। 'अस्ति' 'प्रकाशते' इति स्वतः स्फुरति चैतन्ये अज्ञप्यपि तथा-व्यवहारप्रसक्तौ 'नास्ति' 'न प्रकाशते' इति व्यवहारार्थमेवावरणकल्पनात्; घटादौ तु स्वतो-ऽप्रकाशे तस्य व्यर्थत्वादिति चेत् ?

अत्राहुः 'विषयैः सहाज्ञानस्य साक्षिचैतन्येऽध्यासात् प्रतिभासः' इति। अस्यार्थः-ईश्वरस्योपाधिवशाद् बिम्बादिप्रतिबिम्बवत् साक्षिण एव ततो जीवेश्वरभावेन द्वैविध्यात्, साक्षिणीश्वरत्वावच्छेदेन तत्र सत्त्वाद् विषयनिष्ठतयाऽज्ञानावरणप्रतीतिः 'अज्ञातो घटः' इति, यथा लौहित्य-मुखयोः स्फटिकाचलप्रतिबिम्बितयोः 'लोहितं मुखम्' इति परस्परसंसर्गो भासते। तेन कुसुमादिनिष्ठलौहित्यसंसर्ग इव मुखे चिन्निष्ठावरणसंसर्गो घटादावनिर्वचनीयः, अन्यथा-ऽन्यथाख्यात्यापत्तेः। अत एव घटादेरप्यज्ञानविषयत्वम्, अज्ञानजन्यावरणसंसर्गरूपातिशय-शालित्वात्। स चायमावरणसंसर्गो घटज्ञानेन नश्यति, घटज्ञानदशायाम्, 'अज्ञातो घटः' इत्यननुभवात्।

अस्मिन् पक्षे मूलाज्ञानादेवोक्तविधया शुक्तिविषयाद् रजतोत्पत्तिः, शुक्तिज्ञानेन चावरण-संसर्गनाशे शुक्तिविषयता मूलाज्ञानस्य नष्टा, इति विशिष्टाज्ञाननाशात् सविलासाज्ञाननिवृत्ति-रूपबाधव्यवहारः, न त्वज्ञाननिवृत्तिः।

[चैतन्यनिष्ठ आवरण साक्षि सिद्ध है]

यदि यह शंका हो कि 'आवरण की चैतन्यनिष्ठता में यदि प्रमाण होगा तो उस आवरण की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रमाणसिद्ध का निषेध नहीं होता। यदि प्रमाण न होगा तो उसकी सिद्धि हो नहीं हो सकती है। अतः यह कहना कि 'चैतन्यविषयक अज्ञान चैतन्य में ही आश्रित है-ठीक नहीं है' तो इस शंका का उत्तर यह है कि-चैतन्य में अज्ञान का आवरण साक्षि-प्रमाण से सिद्ध है-क्योंकि 'अहं मां न जानामि'-यह अनुभव होता है और इस अनुभव के अभिव्यंजक वाक्य में जो 'मां' शब्द है उसमें द्वितीया का अर्थ होता है विषयत्व और वह विषयत्व अज्ञानजन्य आवरण रूप अतिशयस्वरूप है। इस प्रकार 'अहं मां न जानामि' का अर्थ है-मैं आत्मनिष्ठावरणजनक अज्ञान का आश्रय हूं। अतः इस अनुभव से चैतन्य में अज्ञानजन्यावरण की सिद्धि स्पष्ट है।

[अज्ञातो घटः-इस व्यवहार की उपपत्ति का प्रश्न]

कर्म कारक में अम् प्रत्ययका अज्ञानजन्यावरणरूप अतिशय। अर्थ मानने पर यह प्रश्न हो सकता है कि अज्ञानजन्य आवरण तो चिन्मात्र निष्ठ ही होता है तो 'घटोऽज्ञातः' यह व्यवहार कैसे उपपन्न होगा? प्रश्नकार का आशय यह है कि ब्रह्म चैतन्य स्वतः प्रकाश है। अतः उस में सर्वदा 'अस्ति' 'प्रकाशते' इस व्यवहार की प्रसक्ति होती है और 'नास्ति' 'न प्रकाशते' यह सर्वसम्मत व्यवहार की अनुपपत्ति प्रसक्त होती है। अतः 'अस्ति-प्रकाशते, इस व्यवहार का अभाव और 'नास्ति' न प्रकाशते' इस व्यवहार की उपपत्ति के लिये ब्रह्म चैतन्य अज्ञानजन्यावरण की कल्पना तो युक्तिसंगत है-किन्तु घटादि तो स्वप्रकाश है नहीं, अतः उसमें सदा 'अस्ति' 'प्रकाशते' इस व्यवहार की प्रसक्ति न होने से 'नास्ति' 'न प्रकाशते' इस व्यवहार के होने में कोई बाधा नहीं हो सकती। अतः घटादि में अज्ञान-जन्यावरण की कल्पना व्यर्थ है। अतः यदि 'अज्ञात' शब्द का अज्ञानजन्यआवरणाश्रयत्व अर्थ होगा तो 'घटोऽज्ञातः' इस व्यवहार की उपपत्ति कैसे हो सकेगी?-इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्ती विद्वानों का यह कहना है कि साक्षिचैतन्य में विषयों के साथ अज्ञान का अध्यास होने से विषयों में अज्ञान-जन्य आवरणाश्रयत्वरूप अज्ञातत्व का प्रतिभास हो सकता है। वेदान्तीओं के इस कथन का तात्पर्य यह है कि जैसे एक ही ईश्वर सत्वप्रधान अविद्या, रजःप्रधानाविद्या एवं तमःप्रधानाविद्या रूप उपाधि के भेद से 'विष्णु-ब्रह्मा और रुद्र' ऐसे तीन प्रकार का होता है, उसी प्रकार साक्षिचैतन्य जीव और ईश्वरभाव से दो प्रकार का होता है, अर्थात् साक्षी के दो भेद होते हैं-जीवसाक्षी और ईश्वरसाक्षी। ईश्वरसाक्षी में ईश्वरस्वात्मच्छेदेन विषयों का अध्यास होता है-अज्ञान और आवरण भी चिन्मात्राश्रित होने से साक्षी में विद्यमान होते हैं। अतः साक्षी में अध्यस्तरूप से विद्यमान विषय में अज्ञानावरण की 'अज्ञातो घटः' इस प्रकार प्रतीति हो सकती है। यह ठीक उसी प्रकार सम्भव है जैसे स्फटिकशिला में संनिहित रक्तकुसुम के लौहित्य और संनिहित मनुष्य के मुख का प्रतिबिम्ब होने पर 'लोहितं मुखम्' इस प्रकार मुख में लौहित्य के संसर्ग का भान होता है। तो जैसे मुख में कुसुम के लौहित्य का संसर्ग अनिर्वचनीय होता है, उसी प्रकार घटादि विषय में चिन्निष्ठावरण का संसर्ग भी अनिर्वचनीय होता है। यदि ऐसा न मानकर मुख में कुसुमस्थलौहित्यसंसर्ग का ही और घटादि में चिद् में विद्यमान आवरण संसर्ग का ही भान माना जायगा तो अन्यथाख्याति की आपत्ति होगी। जो युक्तिसंगत न होने से वेदान्ती को मान्य नहीं है। अतः उक्त रीति से घटादि में अज्ञानजन्य आवरणसंसर्गरूप अतिशय के

होने से घटादि में भी अज्ञानविषयता हो सकती है। इसलिये घटोऽज्ञातः इस व्यवहार के होने में कोई बाधा नहीं है। चिन्मात्र में विद्यमान अज्ञानजन्यावरण का जो अनिर्वचनीय संसर्ग घट में उत्पन्न होता है उसका घटज्ञान से नाश हो जाता है क्योंकि घट ज्ञानदशा में 'घटोऽज्ञातः' इस प्रकार अनुभव नहीं होता।

[शुक्ति रजत में बाधव्यवहार की उपपत्ति का बीज]

इस पक्ष में शुक्तिरजत स्थल में उक्तरीति से शुक्तिविषयक मूलाज्ञान से ही रजत की उत्पत्ति होती है और शुक्तिज्ञान से शुक्तिरजतअनिर्वचनीयावरणसंसर्ग का नाश होने पर मूलाज्ञान में शुक्तिविषयत्व का नाश हो जाता है। शुक्तिविषयकत्व का नाश होने से विशेषणनाश से विशिष्टनाश की मान्यता के कारण शुक्तिविषयकत्वविशिष्टमूलाज्ञान का भी नाश होता है। अतः शुक्तिविषयकत्वविशिष्ट मूलाज्ञान में उपादान के साथ शुक्तिरजत की निवृत्ति होने से उस में बाधव्यवहार होता है—क्योंकि कार्यसहित कार्योपादान की निवृत्ति ही कार्य का बाध कहा जाता है। इसप्रकार स्पष्ट है कि शुक्तिज्ञान होने पर रजत के उपादानभूत मूलाज्ञान की स्वरूपतः निवृत्ति नहीं होती किन्तु शुक्तिविषयकत्वरूप जिस विशेषण से विशिष्ट होने से मूलाज्ञान शुक्तिरजत का उत्पादक होता है उस विशेषण के नाश से विशिष्टमूलाज्ञान की ही निवृत्ति होती है।

[बाध और निवृत्ति के बीच अन्तर]

उस संदर्भ में इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि वेदान्तमत में निवृत्ति और बाध में अन्तर है। निवृत्ति का अर्थ होता है कार्य का स्वरूपेण अभाव और बाध का अर्थ होता है उपादानसहित कार्य का अभाव। अतः शुक्ति आदि का साक्षात्कार होने पर शुक्तिरजतादि का बाध होता है क्योंकि शुक्तिरजत की निवृत्ति के साथ शुक्तिविषयकत्वविशिष्ट मूलाज्ञानरूप शुक्तिरजतोपादान की भी निवृत्ति होती है। किन्तु व्यावहारिक रजतादि को छैनी से काटने पर अथवा आग में जलाने पर रजत की निवृत्ति होती है किन्तु उस का बाध नहीं होता, क्योंकि व्यवहारिकरजतादि का उपादान चिन्मात्रविषयक अज्ञान होता है उस की निवृत्ति तब तक नहीं होती जब तक चिन्मात्र का अपरोक्षज्ञान नहीं होता।

अथवा, तद्विषयवृत्त्यभाव एव घटोऽज्ञात इति ज्ञानविषयः। अस्मिन्नपि पक्षे मूलाज्ञानकार्यमेव रजतम्, शुक्तिविषयवृत्त्यभावस्त्वन्वय-व्यतिरेकाभ्यां मूलाज्ञानाद् रजतोत्पत्तौ फलोपधानावच्छेदकतया प्रयोजकः, न तु कारणम्, अभावस्य कारणत्वाभावात्। शुक्तिज्ञानेन रजताध्यासस्य स्वकारणे प्रविलयमात्रं क्रियते, नाज्ञाननिवृत्तिः, घटादिवृत्तिश्चिदुपरागार्था नावरणसंसर्गनिवृत्त्यर्था, घटेऽनिर्वचनीयावरणसंसर्गे मानाभावात्, जडत्वेन चावरणाभावात्।

['अज्ञातो घटः' इसकी उपपत्ति में दूसरा पक्ष]

अथवा 'घटोऽज्ञातः' इस ज्ञान का विषय अज्ञान जन्यावरण न होकर घटविषयकवृत्तिस्वरूप ज्ञान का अभाव है। इस प्रकार 'घटोऽज्ञातः' का अर्थ है घट वृत्तिरूपज्ञान की विषयता से शून्य है। जिस समय घटाकारवृत्तिरूपज्ञान नहीं होता उस समय घट में वृत्ति इस ज्ञानविषयत्व का अभाव

होता है अतः घट में अबाधित होने से उसका ज्ञान हो सकता है। इस पक्ष में भी शुक्तिरजत मूलाज्ञान का ही कार्य है। किन्तु उसमें मूलाज्ञान से रजत की उत्पत्ति में शुक्तिविषयक वृत्ति का अभाव अन्वयव्यतिरेक से फलोपधान का अवच्छेदक होने से प्रयोजक है, कारण नहीं है, क्योंकि अभाव कारण नहीं होता। आशय यह है कि यद्यपि मूलाज्ञान शुक्तिरजत का उपादान है, किन्तु शुद्धमूलाज्ञानत्व स्वरूप से नहीं किन्तु शुक्तिविषयक वृत्त्यभावविशिष्ट मूलाज्ञानत्व रूप से। अतः जब शुक्ति का वृत्तिरूप ज्ञान नहीं होता तभी शुक्तिरजत की उत्पत्ति होती है और जब शुक्तिज्ञान होता है तब मूलाज्ञानरूप कारण में रजताध्यास का विलय हो जाता है। किन्तु उसके उपादानभूत मूलाज्ञान की निवृत्ति नहीं होती। किन्तु शुक्तिविषयकवृत्ति का अभाव हो जाने से तादृशाभावविशिष्ट मूलाज्ञान की निवृत्ति होने से शुक्तिरजत का बाधव्यवहार होता है। इस संदर्भ में इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस में घटाकाकार जो अन्तःकरणवृत्ति होती है वह विषयनिष्ठ अनिर्वचनीय आवरणसंसर्ग की निवृत्ति के लिए नहीं होती, क्योंकि घटादि में अनिर्वचनीय आवरणसंसर्ग होता है इस में कोई प्रमाण नहीं है। अपितु घटादि के जड होने से प्रयोजनाभाव से उन में आवरण का अभाव ही होता है। अतः इस मत में घटादिआकारवृत्ति घटादि के साथ 'चैतन्य का उपराग=संबंध स्थापित करने के लिये होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब तक घटादि के साथ प्रमाता का सम्बन्ध नहीं होगा तब तक उसका ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि प्रमाता से सर्वथा असम्बद्ध वस्तुओं का प्रमाता को ज्ञान नहीं होता। अतः घटादि के साथ प्रमातृ-चैतन्य का सम्पर्क आवश्यक होता है, क्योंकि जिस वस्तु के साथ प्रमाता का सम्पर्क नहीं होता उस वस्तु का ज्ञान नहीं होता। अतः विषय के साथ प्रमाता-चैतन्य का सम्पर्क स्थापित करने के लिये विषयाकार वृत्ति का अभ्युपगम आवश्यक है। वृत्ति मानने पर विषय के साथ प्रमातृ-चैतन्य का सम्पर्क सुघट हो जाता है क्योंकि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता है अतः जब अन्तःकरण की घटादिविषयाकार वृत्ति होती है तो अन्तःकरण में आकारात्मना घटादि विषयों का संनिधान होने से अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का उस के साथ सम्बन्ध बन जाता है और इस सम्बन्ध से अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूप प्रमाता के द्वारा घटादि का ज्ञान सम्पन्न होता है। किन्तु यह सम्पर्क विषय के परोक्षज्ञान के लिये ही प्राप्त होता है। अपरोक्षज्ञान के लिये आकारात्मना विषय के साथ प्रमाता का सम्बन्ध पर्याप्त नहीं होता, किन्तु सीधे पुरोवर्ती विषय के साथ उस का सम्बन्ध अपेक्षित होता है। जब घटादि विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति चक्षुरादि इन्द्रियों के मार्ग से विषय देश में जाती है तो वहाँ अन्तःकरण और अन्तःकरण की वृत्ति तथा घटादि विषय एकदेशस्थ हो जाते हैं अतः एकदेशस्थ होने के नाते प्रमातृ-चैतन्य का विषय के साथ सीधा सम्बन्ध हो जाता है क्योंकि वहाँ प्रमातृ-चैतन्य-प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य अभिन्न हो जाते हैं। इस प्रकार इस मत में विषय के साथ चैतन्य का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए विषयाकारवृत्ति की अपेक्षा होती है।

यद्वा, 'मां न जानामि' इत्यनुभूयमानं मूलाज्ञानावरणं चैतन्यनिष्ठमन्यदेव 'तत्त्वमसि' आदिवाक्यजन्यतत्त्वज्ञाननिवर्त्यम्। अन्यच्च घटावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठमावरणं मूलाज्ञानकृतम्। ततश्च घटावच्छिन्नचैतन्यस्य मूलाज्ञानजन्यावरणान्तरशालित्वात् तद्विषयत्वम्, घटस्य तु जडत्वादावरणाभावेऽप्यदूरविप्रकर्षाद् विषयत्वम्। तस्मादावरणान्तरमादाय 'अज्ञातो घटः' इति

प्रतीतिः घटज्ञानेन चावरणान्तरनिवृत्तिः। अस्मिन्नपि पक्षे मूलाज्ञानकार्यमेव रजतम्, आवरणसंसर्गपक्षवद् बाधव्यवहारः।

['अज्ञातो घटः' इसकी उपपत्ति में तीसरा पक्ष]

अथवा यह कहा जा सकता है कि–'अहं मां न जानामि' इस प्रकार जिस चैतन्यनिष्ठ मूलाज्ञानजन्य आवरण का अनुभव होता है वह एक भिन्न ही आवरण है जिसकी निवृत्ति 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों से आत्मतत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान होने पर ही होती है। किन्तु मूलाज्ञानजन्य उससे भिन्न एक और भी आवरण है जो घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य में आश्रित होता है। उसीसे घटादि विषयों में अज्ञानविषयता की उपपत्ति होती है क्योंकि घटावच्छिन्न चैतन्य में मूलाज्ञानजन्य आवरण रहता है और उसी चैतन्य में घट भी अध्यस्त है। अतः घट के जड होने से उसमें आवरण का अभाव होने पर भी चैतन्यगत आवरण का दूरविप्रकर्ष-दैशिकविप्रकर्ष न होने से घट में भी उस आवरण की विषयता हो जाती है। अतः चैतन्यमात्रनिष्ठावरण से भिन्न जो घटाद्यवच्छिन्न चिद् में मूलाज्ञानजन्यावरण होता है उसके द्वारा 'अज्ञातो घटः' इस प्रतीति की उपपत्ति हो सकती है। इस आवरण की निवृत्ति घटादि ज्ञान से होती है। इस पक्ष में भी शुक्तिरजतादि मूलाज्ञान का ही कार्य है और इस पक्ष में उसमें बाधव्यवहार भी उसी प्रकार उपपन्न होता है जिस प्रकार शुक्त्यादि में चैतन्यमात्रनिष्ठाज्ञानावरण का अनिर्वचनीय संसर्ग के अभ्युपगम पक्ष में होता है। आशय यह है कि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यगत आवरणविशिष्ट मूलाज्ञान रजत का उपादान होता है अतः शुक्तिज्ञान होने पर शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यगत आवरण की निवृत्ति होने पर उक्तावरणविशिष्ट मूलाज्ञान की भी निवृत्ति होती है। अतः शुक्तिरजतोपधायकोपादान के साथ शुक्तिरजत की निवृत्ति होने से शुक्तिरजत बाधित होता है।

अथवा 'अज्ञातो घटः' इति प्रतीतिस्तूलाज्ञानविषया, सविलासाज्ञाननिवृत्तिर्बाधः, अज्ञाननिवर्तकं ज्ञानं प्रमाणम्, 'इममर्थं पूर्वं ज्ञातवान्, इदानीं न जानामि' इत्यादि व्यवहारसौकर्याय तत्स्वीकारात्। तूलाज्ञानानि च मूलाज्ञानकार्याणि, 'तच्छक्तिविशेषा एव तानि अत एवाऽनादित्वात् तेषां "अनादिभावरूपं ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानं" इति लक्षणयोगात्' इत्यन्ये।

['अज्ञातो घटः' इसकी उपपत्ति में तूलाज्ञानवादी का पक्ष]

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि अज्ञान दो प्रकार का होता है–१ मूलाऽज्ञान और २ तूलाज्ञान। चिन्मात्रविषयक-अनवच्छिन्नचैतन्यविषयक अज्ञान मूलाज्ञान होता है जो ब्रह्म साक्षात्कार से ही निवृत्त होता है। अवच्छिन्नचैतन्यविषयक अज्ञान तूलाज्ञान होता है, जो अवच्छेदकीभूत घटादिविषयों के ज्ञान से निवृत्त होता है। जैसे तूल शीघ्र दग्ध हो जाता है–उसी प्रकार अवच्छेदकीभूत विषयों के ज्ञान से ब्रह्मसाक्षात्कार के पूर्व ही नष्ट हो जाने से वह तूलाज्ञान कहा जाता है। इन अज्ञानों में तूलाज्ञान ही 'अज्ञातो घटः' इस प्रतीति का विषय होता है। जब घट का प्रमाणभूत ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह प्रमाणज्ञान अज्ञान का निवर्त्तक होने से उस ज्ञान से 'अज्ञातो घटः' इस प्रतीतिरूप कार्य के साथ तूलाज्ञान की निवृत्तिरूप बाध हो जाता है। यह ज्ञातव्य है कि मूलाज्ञान से भिन्न

तूलाज्ञान का भी अभ्युपगम आवश्यक है, क्योंकि उसे स्वीकारने पर ही 'इममर्थं पूर्वं ज्ञातवान्'- मुझे पूर्वकाल में इस अर्थ का ज्ञान था, किन्तु 'इदानीं न जानामि'–इस समय इस अर्थ का अज्ञान है– इत्यादि व्यवहार सरलता से उपपन्न होता है। आशय यह है कि यदि तूलाज्ञान न मानकर एकमात्र मूलाज्ञान को ही माना जाय और उसीसे घटादि विषयों के अज्ञानादिव्यवहार की उपपत्ति की जायगी तो 'मुझे इस विषय का ज्ञान पूर्व में था और अब अज्ञान है' यह व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता क्योंकि इस व्यवहार से यह सूचित होता है कि पूर्वकाल में इस विषय का ज्ञान नहीं था किन्तु इस काल में इस अर्थ का अज्ञान है। यह सूचितार्थ मूलाज्ञानमात्र के अभ्युपगम पक्ष में सम्भव नहीं है, क्योंकि मूलाज्ञान ब्रह्मज्ञानमात्र से नाश्य होने के कारण ब्रह्मज्ञान के पूर्व सभी काल में है, अतः उसका एक काल में अभाव और कालान्तर में सद्भाव सम्भव नहीं हो सकता।

तूलाज्ञान मूलाज्ञान का कार्य है और वह तत्तद्विषयों में मूलाज्ञान से उस समय उत्पन्न होता है जब तत्तद्विषयों के प्रमाणभूत ज्ञान की सामग्री उपस्थित नहीं रहती।

अन्य विद्वानों का मत है कि तूलाज्ञान मूलाज्ञान की ही विभिन्न शक्तियाँ हैं। अतः मूलाज्ञान के समान ये भी अनादि हैं। यही मानना उचित है, क्योंकि यदि तूलाज्ञान अनादि न होकर मूलाज्ञान का कार्य होगा तो 'अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्'–अज्ञान के इस लक्षण से संगृहीत न होने के कारण अज्ञानपद से व्यपदिष्ट ही न हो सकेगा।

"तन्न, तेषामावरणविक्षेपहेतुत्वेन शक्तत्वात्, शक्तौ शक्त्ययोगात्, अज्ञानत्वात् तदनादित्वे तदावरणस्याप्यनादित्वापत्तेः; इष्टापत्तौ घटबोधदशायामपि समयान्तरभाविज्ञान-निवर्त्यावरणप्रसङ्गात्, अनुभवविरोधात्। व्यवहारसौकर्याय तज्जन्यत्वाश्रयणे च तूलाज्ञाना-नामपि जन्यत्वस्याश्रयितुं युक्तत्वात्, अनुपादनत्वस्यैवाज्ञानलक्षणत्वात्, प्रागुक्तस्याविद्या-संबन्धादावतिव्याप्तेः। किञ्च, घटबोधदशायामावरणाभावेऽनादेर्घट ज्ञानस्य निर्विषयत्वप्रसङ्गः, तज्जन्यावरणरूपातिशयाभावात्। न चाज्ञानं निर्विषयं संभवति, साक्षिमास्यं वा" इत्यपरे। तत् सिद्धं चिन्मात्राश्रयविषयं मूलाज्ञानम्।

[मूलाज्ञानशक्तिरूप तूलाज्ञान अनादि है इस का खण्डन]

किन्तु दूसरे विद्वान् अन्य विद्वानों के इस विचार से सहमत नहीं है क्योंकि तूलाज्ञान 'आवरण और विक्षेप' का कारण होने से आवरण-विक्षेप की शक्ति के आश्रय होते हैं। यदि उन्हें स्वयं शक्तिरूप माना जायगा तो शक्ति में शक्ति न होने से उन में आवरणविक्षेपशक्ति न रह सकेगी अतः उन से आवरणविक्षेप न हो सकने से उनकी कल्पना ही निरर्थक होगी एवं अज्ञान होने के कारण, यदि तूलाज्ञान अनादि होगा तो तज्जन्यावरण भी अनादि होगा और उस आवरण को अनादि मानना इष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि उस आवरण के अनादि होने पर घटज्ञानदशा में भी कालान्तर में होने वाले घटज्ञान से निवर्त्यआवरण की आपत्ति होगी, जो अनुभवविरुद्ध होने से अनिष्ट है। आशय यह है कि मूलाज्ञान के शक्तिरूप अनादि तूलाज्ञान से जन्य आवरण को अनादि मानने पर यदि वह आवरण एक होगा तो इसी विषय का एक बार ज्ञान हो जाने पर वह विषय पुनः अज्ञात न हो सकेगा। यदि भविष्य में विषय की अज्ञातता के अनुरोध से वर्तमानज्ञान को उसका निवर्तक न माना

जायगा तो वर्त्तमानज्ञान की निरर्थकता होगी। क्योंकि उसके होने पर भी आवरण की निवृत्ति न होने के कारण विषय का प्रकाश नहीं हो सकेगा। यदि अनेक अनादि आवरण माने जायेंगे तो वर्त्तमान ज्ञान से एक आवरण की निवृत्ति होने पर भी वह आवरण तो बना ही रहेगा जिसकी निवृत्ति उस विषय के भावी ज्ञान से होने वाली है। इस प्रकार वर्त्तमानज्ञानकाल में उसके विषय को तूलाज्ञान के एक आवरण से मुक्त और तूलाज्ञान के दूसरे आवरण से युक्त मानने में अनुभवविरोध स्पष्ट है क्योंकि एक आवरण की निवृत्ति होने से विषय का प्रकाश भी प्राप्त होगा और अन्य आवरण के बने रहने से उसका अप्रकाश भी प्राप्त होगा। यदि उक्त व्यवहार की सरलता के लिये तूलाज्ञान के आवरण को जन्य माना जायगा तो उसकी अपेक्षा तूलाज्ञान को ही जन्य मान लेना युक्ति संगत है। तूलाज्ञान को जन्य मानने पर जो उसमें अज्ञानलक्षण की अनुपपत्ति-रूप दोष बताया गया था वह अकिञ्चित्कार है क्योंकि उक्त लक्षण मूलाज्ञानमात्र का लक्षण है। अज्ञान सामान्य का लक्षण भ्रमोपादानत्व है और वह तूलाज्ञान में भी सुघट है। अब सत्य तो यह है कि भ्रमोपादानत्व ही अज्ञान का युक्त लक्षण है, उक्त लक्षण मूलाज्ञान का भी लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि वह अविद्या के सम्बन्धादि में अतिव्याप्त है। उसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि यदि घटाज्ञान आदि तूलाज्ञान अनादि होगा तो घटज्ञान दशा में आवरण का अभाव होने से घटाज्ञान निर्विषयक हो जायगा, क्योंकि उस समय घटाज्ञानजन्य आवरणरूप अतिशय घट में नहीं रहता। अत एव घटनिष्ठ आवरणरूप अतिशयजनकत्वस्वरूप घटविषयकत्व अज्ञान में असम्भव है। किन्तु घटादिविषयक तूलाज्ञान को अनित्य मानने पर घटज्ञान दशा में घटाज्ञान के स्वयं न रहने से उसमें उक्तदशा में निर्विषयत्व की आपत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि–उस दशा में अज्ञान निर्विषयक ही है–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि निर्विषयक होने पर वह साक्षिभास्य नहीं हो सकता क्योंकि साक्षी ज्ञान और अज्ञान का विषयद्वारा ही अवभासक होता है।

उक्त विचारों के अनुसार यह तो सिद्ध है कि मूलाज्ञान का विषय और आश्रय दोनों चैतन्य-मात्र ही है।

वाचस्पतिमिश्रास्तु–'जीवाश्रयं ब्रह्मविषयं च तत्। न च जीवनिष्ठत्वेऽविद्याया जीवे प्रपञ्चोत्पत्त्यापत्तिः, अहंकारादिप्रपञ्चोत्पत्तेरिष्टत्वात् आकाशादिप्रपञ्चोत्पत्तेस्तु विषयपक्ष-पातिन्याऽविद्ययेश्वर एव संभवात्, तस्य सर्वज्ञत्वश्रुतेः, अज्ञातायां शुक्तौ रजतोत्पादवदज्ञाते ब्रह्मण्याकाशादिसकलप्रपञ्चोत्पत्त्यविरोधात्। यद्यपि चित्त्वापेक्षया–ऽविद्योपहितचित्त्वस्याविद्या-श्रयतावच्छेदकत्वे गौरवम्, तथापि 'अहमज्ञः' इति प्रतीतेः, ईश्वरे च तथाऽप्रतीतेः प्रामाणि-कत्वाद् न दोषः। न च 'अहमज्ञः' इति प्रतीतेरन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्यैवाविद्याश्रयत्वम्, तस्य जन्यतयाऽनाद्यविद्याश्रयत्वायोगात्' इत्याहुः।

[जीव अज्ञान का आश्रय है, ब्रह्म विषय है–वाचस्पति]

वाचस्पतिमिश्र का मतः–यह है, कि अज्ञान का आश्रय जीव, एवं विषय ब्रह्म होता है। अविद्या जीवनिष्ठ होने पर उसमें प्रपञ्च की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि जीव में अहंकारादि आन्तर प्रपञ्च की उत्पत्ति इष्ट है और आकाशादि बाह्यप्रपञ्च की उत्पत्ति उसमें

इसलिये नहीं होती कि अविद्या का स्वभावतः विषय में पक्षपात होता है। इसलिये अविद्या के विषय-भूत ब्रह्म में ही बाह्य प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है। अविद्या का विषयपक्षपात शुक्तिरजतादिस्थल में दृष्ट है। क्योंकि शुक्ति आदि की अविद्या से शुक्तिरजतादि की उत्पत्ति शुक्ति के अज्ञानाश्रय जीव में न होकर उसके विषयभूत शुक्ति आदि में ही होती है। अतः ब्रह्मविषयक अविद्या से भी उसके आश्रयभूत जीव में प्रपञ्च की उत्पत्ति न होकर ब्रह्म में ही होना उचित है। तथा ब्रह्म में प्रपञ्च की उत्पत्ति में ब्रह्मसर्वज्ञता की प्रतिपादक श्रुति भी प्रमाण है। आशय यह है कि ब्रह्म में प्रपञ्च की उत्पत्ति होने से ही समस्त प्रपञ्च के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध होने से सर्वज्ञता उपपन्न हो सकती है। यदि प्रपञ्च जीव में उत्पन्न होता तो जीव ही सर्वज्ञ हो जाता क्योंकि उस स्थिति में समस्त प्रपञ्च के साथ जीव का सम्बन्ध होता है। प्रत्युत, ईश्वर की ही सर्वज्ञता में बाधा होती, क्योंकि जीवगतप्रपञ्च के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध नहीं होता है। इस पक्ष में यद्यपि यह बात अवश्य है कि जीव को अविद्या का आश्रय मानने पर अविद्या के आश्रयता का अवच्छेदक अविद्योपहित चित्त्व होता है और ब्रह्म को अविद्या का आश्रय मानने पर उस की आश्रयता का अवच्छेदक केवल चित्त्व होता है। अतः जीव में अविद्याश्रयता के पक्ष में गौरव है। तथापि 'अहमज्ञः' इस प्रतीति प्रामाणिक होने से और ईश्वर में अज्ञानाश्रयता की प्रतीति का अभाव होने से जीव में ही अज्ञान की आश्रयता मानना उचित है। अतः उक्त गौरव दोष रूप नहीं हो सकता, क्योंकि प्रामाणिक गौरव को दोष नहीं माना जाता। अहमज्ञः इस प्रतीति के अनुरोध से अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को ही अविद्या का आश्रय मानना उचित नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण के जन्य होने से तदवच्छिन्न चैतन्य भी जन्य हो जाता है अतः वह अनादि अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता, अतः 'अहमज्ञः' यह प्रतीति अविद्योपहित चैतन्य की ही अविद्या-श्रयता में प्रमाण होती है।

तत्र माया-ऽविद्याशब्दद्वयनिमित्तं शक्तिद्वयम्-विक्षेपशक्तिः, आवरणशक्तिश्च। कार्य-जननशक्तिर्विक्षेपशक्तिः, तिरोधानशक्तिरावरणशक्तिः। यथाऽवस्थारूपस्य रज्ज्वज्ञानस्य सर्पजननशक्तिः, रज्जुतिरोधानशक्तिश्च, एवं मूलाज्ञानस्याऽद्वितीयपूर्णानन्दैकरसचिदावरण-शक्तिः, आकाशादिप्रपञ्चजननशक्तिश्च इति। 'आवरणमेव शक्तिः' इत्यपव्याख्यानम्, तस्या-त्मनिष्ठत्वात्, तच्छक्तेश्चाऽज्ञाननिष्ठत्वात्।

अज्ञान के लिये माया और अविद्या इन दो शब्दों का बाहुल्येन प्रयोग होता है। अतः अज्ञान में दो शक्ति मानी जाती है-विक्षेपशक्ति और आवरणशक्ति। विक्षेपशक्ति का अर्थ है कार्य उत्पादक शक्ति और आवरणशक्ति का अर्थ है वस्तु के निजस्वरूप के तिरोधान की शक्ति। जैसे-मूलाज्ञान के अव-स्थाविशेषरूप रज्जुविषयक अज्ञान में सर्पजनन की शक्ति विक्षेपशक्ति है और रज्जुस्वरूप के तिरोधान की शक्ति आवरणशक्ति है। इसी प्रकार, ब्रह्मचैतन्यस्वरूपमूलाज्ञान में, अद्वितीय पूर्णानन्दस्वरूप सर्वदा एकत्वभाव ब्रह्म के स्वरूप का तिरोधान करने वाली आवरणशक्ति रहती है और आकाशादि प्रपञ्च को उत्पन्न करने वाली विक्षेपशक्ति भी रहती है। फलतः विक्षेपशक्तिविशिष्ट अज्ञान माया शब्द से और आवरणशक्तिविशिष्ट अज्ञान अविद्या शब्द से अभिहित होता है।

कुछ लोग अज्ञानजनितावरण को ही अज्ञान की शक्ति कहते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि आवरण आत्मनिष्ठ होता है क्योंकि आत्मविषयक अज्ञान से आत्मा का आवरण होता है और उस

आवरण की शक्ति आत्मविषयक अज्ञान में रहती है। अतः आश्रयभेद से आवरण और शक्ति में ऐक्य नहीं माना जा सकता।

तत्रैवाऽज्ञाने प्रपञ्चस्य परमार्थव्यवहारप्रतिभाससत्त्वप्रतीत्यनुकूलास्तिस्रः शक्तयः। आद्या श्रवणाद्यभ्यासपरिपाकतः प्राक्, यया पश्यन्ति नैयायिकादयः 'पारमार्थिकोऽयम्' इति प्रपञ्चम्। द्वितीया तत्परिपाके तत्त्वज्ञानात् प्राक्, यया पश्यन्ति विदितवेदान्ताः 'व्यावहारिकोऽयम्' इति प्रपञ्चम्। तृतीया तु तत्त्वज्ञानोत्पत्तौ यावत्प्रारब्धमनुवर्तते। तस्याश्च कार्यं यद्यपि न प्रातिभासिकसत्त्वप्रतीतिः, व्यवहारवादे तथा वक्तुमशक्यत्वात्, व्यावहारिके प्रातिभासिकत्वप्रतीतौ तत्त्वज्ञानिनामत्यन्तभ्रान्तत्वप्रसङ्गात्, दृष्टिसृष्टिवाद एव वस्तुतः प्रातिभासिकस्याप्यन्यथाभासमानस्य शक्तित्रयेण क्रमेण तथाभानोपपत्तेः, तथापि व्यावहारिकस्यापि प्रपञ्चस्य तत्त्वज्ञानेन बाधितस्यापि प्रारब्धवशेन बाधितानुवृत्त्या प्रतिभासस्तत्कार्यम्।

[परमार्थसत्त्व–व्यवहारसत्त्व–प्रतिभाससत्त्व प्रतीतिजनक तीन शक्तियाँ]

मूलाज्ञान में और तीन शक्ति होती हैं–१. प्रपञ्च में परमार्थ सत्त्व की प्रतीति की जनक, एवं २. प्रपञ्च में व्यावहारिकसत्त्व की प्रतीति की जनक, एवं ३. प्रपञ्च के प्रातिभासिकसत्त्व की प्रतीति की जनक। पहली शक्ति आत्मा के श्रवण मनन और निदिध्यासन के अभ्यास का परिपाक होने के पूर्व रहती है जिस से नैयायिकादि को प्रपञ्च में पारमार्थिकसत्त्व की बुद्धि होती है। द्वितीयशक्ति श्रवणादि के परिपाक के उत्तर होने वाली आत्मतत्त्वज्ञान के पूर्व रहती है जिस से वेदान्तवेत्ता को प्रपञ्च में व्यावहारिकसत्ता की प्रतीति होती है। तृतीयशक्ति तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी तत्त्वज्ञानी का प्रारब्धकर्म जब तक रहता है तब तक रहती है।

तृतीयशक्ति के कार्य के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रपञ्चव्यावहारिकत्व के पक्ष में उस का कार्य प्रातिभासिक सत्त्व की प्रतीति नहीं है क्योंकि उस पक्ष में प्रपञ्च में प्रतिभासिक सत्त्व की प्रतीति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि तत्त्वज्ञानी को व्यावहारिक प्रपञ्च में यदि प्रतिभासिक सत्त्व की प्रतीति होगी तो उस प्रतीति के भ्रम होने से तत्त्वज्ञानी को भ्रान्तत्व की आपत्ति होगी। किन्तु दृष्टिसृष्टिवाद में ही प्रपञ्च में प्रतिभासिक सत्त्व की प्रतीति उसका कार्य हो सकती है। क्योंकि उस मत में सृष्टि की यावद्दर्शन ही सत्ता होने से प्रपञ्च वस्तुतः प्रातिभासिक सत् ही होता है। अतः उस में उक्त शक्तिओं से क्रम से पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्त्व की प्रतीति होती है। अतः प्रपञ्च के व्यावहारिकत्व पक्ष में तत्त्वज्ञान से प्रपञ्च का बाध हो जाने पर भी प्रारब्धवश जो बाधितप्रपञ्च का प्रतिभास होता है वही तृतीयशक्ति का कार्य है।

प्राच्यशक्तेरुत्तरशक्तिकार्यप्रतिबन्धकत्वाच्च न युगपच्छक्तित्रयकार्यप्रसङ्गः। प्रारब्धक्षये चान्तिमतत्त्वज्ञानेन सहाऽज्ञाननिवृत्तिः। तथा च श्रुतिः–"तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इति। अयमर्थः–तस्य = परमात्मनः, अभिध्यानात् = अभिमुखाद् ध्यानात्, श्रवणाद्यभ्यासपरिपाकादिति यावत्, विश्वारम्भकमायानिवृत्तिः, आद्यशक्तिनाशेन

विशिष्टनाशात्, युज्यतेऽनेनेति योजनं तत्त्वसाक्षात्कारस्तस्मादपि, द्वितीयशक्तिनाशेन विशिष्ट-नाशात्, तत्त्वभावो = विदेहकैवल्यं तस्मात्, अन्ते = प्रारब्धक्षये, तृतीयशक्त्या सह निःशेष-मायानाशः, अभिध्यान-योजनाभ्यां शक्तिद्वयनाशेन विशिष्टनाशापेक्षया भूयःशब्दोऽभ्यासार्थक इति । तदेवं निरूपितमज्ञानम् ।

[तत्त्वज्ञान के बाद प्रारब्धक्षय होने पर अज्ञाननिवृत्ति]

यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि यद्यपि उक्त तीनों शक्ति अनादि है किन्तु एक साथ तीनों शक्ति का कार्य नहीं होता क्योंकि पूर्वशक्ति उत्तरशक्ति के कार्य की प्रतिबन्धक होती है । प्रारब्ध कर्म का क्षय हो जाने पर अन्तिम तत्त्वज्ञान से तत्सहितमूलअज्ञान की निवृत्ति होती है। जैसा कि 'तस्याभिध्यानात्०' इत्यादि श्रुति से सिद्ध है। श्रुति में अभिध्यान शब्द का अर्थ है अभिमुखध्यान, जो श्रवण, मनन और निदिध्यासन के परिपाक में पर्यवसित होता है। तदनुसार इस श्रुति का अर्थ होता है कि आत्मा के श्रवण मनन और निदिध्यासन के परिपाक से पारमार्थिक सत्त्व की प्रत्यायकशक्ति से विशिष्ट मूलाज्ञान की निवृत्ति होती है । और 'युज्यतेऽनेन जीवभावापादकोपाधिनिवृत्तिमुखेन जीवः परमात्मना सह तादात्म्यं प्रतीयतेऽनेन' इस व्युत्पत्ति से योजन शब्द का अर्थ है तत्त्वसाक्षात्कार । तत्त्वभाव का अर्थ है विदेहकैवल्य. क्योंकि तत्त्व केवल-अद्वितीय है । अतः तत्त्व-केवल का भाव कैवल्य हुआ और विदेहत्व उसका नान्तरीयक है क्योंकि देहसम्बन्ध का अत्यन्त उच्छेद होने पर ही सम्पन्न होता है । इसमें अन्त शब्द का अर्थ है प्रारब्धक्षय, विश्वमाया शब्द का अर्थ है विश्व को उत्पन्न करने वाली अविद्या, भूयः शब्द का अर्थ है अभ्यास, जिस से अविद्यानिवृत्ति की निःशेषता सूचित होती है । इस प्रकार उक्त श्रुति का अर्थ है कि ब्रह्म के अभिध्यान = श्रवण-मनन-निदिध्यासन के परिपाक से विश्व में पारमार्थिक सत्त्वप्रतीति को उत्पन्न करनेवाली शक्ति से विशिष्ट अज्ञान का नाश होता है । एवं ब्रह्म के तत्त्वसाक्षात्कार से विश्व में व्यावहारिक सत्त्व की प्रतीति को उत्पन्न करनेवाली शक्ति से विशिष्ट अज्ञान का नाश होता है । और प्रारब्धकर्म का क्षय होने पर विश्व में प्रातिभासिक सत्त्व को प्रतीति उत्पन्न करने वाली अथवा तत्त्वसाक्षात्कार से बाधित विश्व के प्रतिभास को उत्पन्न करने वाली अविद्या का निःशेष नाश होता है । इस प्रकार यह अज्ञान का संक्षिप्त निरूपण है ।

ततो जीवेश्वरादिप्रपञ्चः । तत्र 'अविद्याप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीवः' इति विवरणाचार्याः । सिद्धं चैतत्,—"रूपं रूपं प्रतिरूपोबभूव" इति श्रुतेः, "एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" इत्यादिस्मृतेश्च । न चाऽमूर्तस्य प्रतिबिम्बाऽयोगः, आकाशादेस्तद्दर्शनात् । नन्वविद्यावच्छिन्नं चैतन्यमेव जीवोऽस्तु । 'एवं सति सर्वनियन्तृत्वमीश्वरस्य न स्यात्, जीवभावेनोपाध्यवच्छिन्नस्य पुनरवच्छेदान्तरासंभवात्, घटाकाशादौ तथादर्शनात्, द्विगुणीकृत्य वृत्त्ययोगाद्'इति चेत् ? न, बिम्बचैतन्यस्यापीश्वरस्य प्रतिबिम्बान्तर्द्विगुणीकृत्य वृत्त्ययोगात् । न हि जलगते स्वाभाविकाकाशे सत्यपि बिम्बस्य दूरविशालाकाशस्य साभ्रनक्षत्रस्य जलान्तरवस्थानं संभवति, कल्पना तूभयत्र तुल्येति चेत् ? अत्राहुः—बिम्बं शुद्धमेव चैतन्यम्, अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं साक्षि,

आवरणशक्तिप्रतिबिम्बभूतो जीवः, विक्षेपशक्तिप्रतिबिम्बभूतश्चेश्वर इति न किञ्चिद् दूषणम्, उपाधिभूतस्य शक्तिद्वयस्य व्यापकतया तत्प्रतिबिम्बयोर्जीवेश्वरयोरपि व्यापकत्वात्, जीवान्तर्यामित्वस्य ब्रह्मणः श्रुतिसिद्धस्याऽव्याहतत्वादिति ।

[जीव–ईश्वरादि प्रपञ्च संबंधी विवरणाचार्य मत]

अज्ञान से जीव- ईश्वरादि सम्पूर्ण प्रपञ्च निष्पन्न होता है। उन में, जीव के विषय में विवरणाचार्य का यह मत है कि अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म चैतन्य जीव है और यह बात श्रुति एवं स्मृति से सिद्ध है। जैसे–'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' यह श्रुति स्पष्ट उद्घोष करती है कि ब्रह्म चैतन्य रूप रूप में अर्थात् प्रत्येक अज्ञान व्यक्ति में अनादिकाल से प्रतिरूपी अर्थात् प्रतिबिम्बित है। एवं स्मृति भी अतिस्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करती है कि–जैसे जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र जल के एकत्व-अनेकत्व के अनुसार एकानेकरूप दृष्टिगत होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचैतन्य एकानेक अज्ञान में प्रतिबिम्बित होने से एकानेक रूप में परिज्ञात होता है।

इस संदर्भ में यह शंका नहीं की जा सकती कि ब्रह्म अमूर्त्त है इसलिये उस का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश-रूप आदि अमूर्त्त पदार्थों का भी प्रतिबिम्ब होता है।

[अविद्यावच्छिन्न चैतन्यरूप जीव होने की आशंका]

इस प्रसङ्ग में किसी का यह प्रश्न है कि अविद्यावच्छिन्न चैतन्य को ही जीव माना जाय, अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब मानने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के विरुद्ध यदि यह शंका की जाय कि–"अविद्यावच्छिन्न चैतन्य को जीव मानने पर ईश्वर में सर्वनियन्तृत्व की हानि होगी। क्योंकि जीवभाव से अविद्यारूप उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य, ईश्वरभाव से उपाध्यन्तर से अवच्छिन्न नहीं हो सकता। अर्थात् चैतन्य ईश्वरभाव से अविद्यासमष्टिरूप उपाध्यन्तर से अवच्छिन्न होकर जीव के आधारभूत एक एक अज्ञान आत्मक उपाधि में नहीं रह सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर चैतन्य के द्विगुण यानी द्विधा वर्त्तन की प्रसक्ति होगी और द्विगुणवर्त्तन मान्य नहीं है क्योंकि घटाकाशादि में द्विगुणवर्त्तन नहीं होता। आशय यह है कि घट में आकाश का वर्त्तन घटावच्छिन्नाकाशरूप में ही होता है। अन्यावच्छिन्नाकाश के रूप में नहीं होता।"–तो यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि उक्त दोष प्रतिबिम्ब पक्ष में भी समान है। क्योंकि बिम्बभूत ईश्वर चैतन्य का भी प्रतिबिम्ब अधिष्ठान में द्विगुणवर्त्तन यानी प्रतिबिम्ब तथा बिम्ब रूप में वर्त्तन अयुक्त है। क्योंकि स्वाभाविक आकाश के साथ दूरस्थ अभ्रनक्षत्रयुक्त बिम्बभूत विशालाकाश का जल के मध्य में अवस्थान सम्भव नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि जल के सीमित होने से जलान्तर्गत आकाश भी सीमित है और ऊपर का आकाश जो जल में प्रतिबिम्बिताकाश का बिम्ब है वह दूरस्थ है, और प्रतिबिम्बाकाश से विशाल है तथा अभ्र-मेघ और नक्षत्र से युक्त है। अतः जैसे उस का अवस्थान जल में नहीं होता क्योंकि ऐसा मानने पर जल में आकाश के द्विगुणवर्त्तन की प्रसक्ति होती है, उसी प्रकार बिम्बभूत ईश्वरचैतन्य का भी प्रतिबिम्बभूत जीव के साथ वर्त्तन नहीं हो सकता। यदि इसका समाधान प्रतिबिम्ब में बिम्ब के कल्पितवर्त्तन से किया जाय तो यह समाधान अवच्छेद पक्ष में भी सम्भव है अतः अविद्या अवच्छिन्न चैतन्य को ही जीव मानना उचित है।

[प्रतिबिम्ब जीव का बिम्ब शुद्ध चैतन्य ही है–उत्तर]

इस प्रश्न के उत्तर में प्रतिबिम्बवादी का कहना है कि ईश्वरचैतन्य प्रतिबिम्ब जीव का बिम्ब नहीं है किन्तु एकमात्र शुद्ध चैतन्य ही बिम्ब है। वही अज्ञान और तद्गत आवरणशक्ति और विक्षेप शक्तिमें प्रतिबिम्बित होता है। अज्ञानगत शुद्ध चैतन्य प्रतिबिम्ब साक्षी होता है। आवरणशक्तिगत शुद्ध चैतन्यप्रतिबिम्ब जीव होता है और विक्षेपशक्तिगत चैतन्यप्रतिबिम्ब ईश्वर होता है ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीव और ईश्वर की उपाधिभूत उक्त दोनों शक्ति व्यापक है अतएव उन में विद्यमान प्रतिबिम्ब रूप जीव और ईश्वर भी व्यापक है। अतः ईश्वरब्रह्म में श्रुतिसिद्ध 'जीवान्तर्यामित्व' का भी व्याघात नहीं हो सकता। प्रतिबिम्बवाद की इस व्याख्या में, ईश्वर में जीवान्तर्यामित्व की उपपत्ति के लिये, जीव और ईश्वर के संनिधान के लिये, चैतन्य के ईश्वर चैतन्यरूप बिम्ब एवं जीवात्मक प्रतिबिम्ब रूप में द्विगुण वर्त्तन का प्रसङ्ग नहीं होता, किन्तु अवच्छेद पक्ष में वह दोष अवस्थित है।

'अज्ञानावच्छिन्नं चैतन्यं जीवः' इति वाचस्पतिमिश्राः। न चात्रेश्वरस्य सर्वान्तर्यामित्वानुपपत्तिः, अज्ञानोपाध्यवच्छिन्नं चैतन्यं जीवः, अज्ञानविषयतोपाध्यवच्छिन्नं चैतन्यं चेश्वर इत्युपाधेर्व्यापकत्वेनोपहितस्येश्वरस्यापि व्यापकत्वात्। न च तथाप्यज्ञानचैतन्यस्येश्वरत्वे 'अहं मां न जानामि' इत्यनुभवादीश्वरस्य प्रत्यक्षत्वापातः। न चाज्ञाततया सर्वस्य साक्षिभास्यत्वादिष्टापत्तिः, अनुभूयमानस्य 'अहम्' इत्यज्ञानचैतन्यस्येश्वरस्य स्वरूपतः प्रत्यक्षत्वापातात्। इष्यते च 'ईश्वरं न जानामि' इत्येतावन्मात्रमेवेति चेत्? न, 'अहं मां न जानामि' इत्यत्राखण्डस्यैव[1] अज्ञा(ज्ञा)धिष्ठानस्य चैतन्यस्यावभासनात्, अज्ञाततोपहितचैतन्यस्येश्वररूपस्यानवभासनात्, अज्ञातत्तारूपोपाधिस्फुरणेऽप्ययोग्यत्वेन तदुपहिताऽस्फुरणात्, घटस्फुरणे घटोपहिताकाशाऽस्फुरणवत्।

[अज्ञानविशिष्ट चैतन्य ही जीव है–वाचस्पतिमिश्र]

वाचस्पति के मतानुसार 'अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य' ही जीव है। ऐसा मानने पर ईश्वर में सर्वान्तर्यामित्व की अनुपपत्ति की आशंका नहीं हो सकती, क्योंकि अज्ञानोपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य जीव है और अज्ञानविषयतारूप उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है। ईश्वर की यह उपाधि व्यापक है अतः उस से उपहित ईश्वर भी व्यापक है। अतः जीव के साथ उस का सम्बन्ध होने से वह जीव अन्तर्यामी हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि–"अज्ञानविषयता से अवच्छिन्न अथवा विषयतासम्बन्ध से अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य को ईश्वर मानने पर 'अहं मां न जानामि' इस अनुभव से ईश्वर में प्रत्यक्षत्व की आपत्ति होगी। इस आपत्ति को यह कहकर इष्ट नहीं माना जा सकता कि 'अज्ञान के विषयरूप में सभी साक्षिभास्य है इसलिये ईश्वर में भी अज्ञानविषयरूप में साक्षिभास्यत्वरूप प्रत्यक्षत्व है'

---

१. 'व भ्रमाधि' इति पाठान्तरम्।

क्योंकि उक्त अनुभव में 'अहं' शब्द से अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य का स्वरूपतः मुख्य-विशेष्यविधया अज्ञानविषयतानापन्नरूप में भी भान होता है । अतः अज्ञानविषयतानापन्नरूप में भी ईश्वर में प्रत्यक्षत्वापत्ति दुर्वार है क्योंकि 'ईश्वरं न जानामि' इस रूप में ईश्वर का केवल अज्ञानविषयरूप में ही प्रत्यक्ष इष्ट है ।

किन्तु विचार करने पर यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'अहं मां न जानामि' इस प्रतीति में ब्रह्म आदि विश्वप्रपञ्च के अधिष्टानभूत अखण्ड चैतन्य का ही द्वितीयान्त अस्मत् पद से उल्लेख होता है, क्योंकि ब्रह्म की प्रत्यक्षयोग्यता 'साक्षात् अपरोक्षाद्ब्रह्म' इत्यादि श्रुति से सिद्ध है । अज्ञान विषयतोपहित चैतन्यरूप ईश्वर का उसमें अवभास नहीं होता । क्योंकि अज्ञाततारूप उपाधि का स्फुरण होने पर भी ईश्वर के अयोग्य होने से अज्ञानविषयतोपहित ईश्वर का स्फुरण उसी प्रकार नहीं हो सकता जैसे घटशब्दोल्लेख्य प्रत्यक्ष में घट का स्फुरण होने पर भी घटोपहित आकाश का स्फुरण नहीं होता । इसी लिये उक्त प्रत्यक्ष में प्रथमान्त अस्मतपद से भी ईश्वर का उल्लेख नहीं हो सकता किन्तु उस से जीव का ही उल्लेख होता है क्योंकि वह साक्षिप्रत्यक्ष का विषय है ।

आभासवादिनस्तु दर्पणादौ मुखान्तरोत्पत्तिं स्वीकुर्वाणाश्चैतन्याभासमज्ञानेऽभ्युपगच्छन्त-स्तत्तादात्म्यापन्नं चैतन्यं जीवमाहुः । तत्स्वीकारश्च निरुपाधिकाध्यासमात्रे सादृश्यापेक्षणादा-भासतादात्म्यापन्नेऽन्यसादृश्यापन्ने चैतन्ये तादृशाहङ्काराध्याससंभवाय । जन्याध्यास एव निरुपाधिके सादृश्यापेक्षणाच्च नाभासाध्यासेऽपि तदपेक्षायामनवस्थापत्तिः, तस्याना-दित्वात् । न चाज्ञानाध्यासेन सादृश्यसिद्धिः, जाड्येन तदापत्त्यसिद्धेः । तद्धि जडतादात्म्यम्, न चाज्ञानं तादात्म्येनाध्यस्तम्, संसर्गेणाध्यस्तत्वात् 'अहमज्ञः' इति । अतोऽनाद्याभासतादात्म्या-ध्यासेन जाड्यापत्त्या सादृश्ये सत्यहङ्काराध्यासो युज्यत इति । न चाभासे मानाभावः, 'आदर्शे-मुखम्' इति स्पष्टं मुखान्तराभासात् । 'एकत्र क्लृप्तमन्यत्रापि प्रतीसंधीयते' इति न्यायेना-ज्ञानेऽपि चैतन्याभासाङ्गीकारात् । एवमन्तःकरणादावपि । अज्ञानगतचैतन्याभासस्तु जीव-शब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्, तत्तादात्म्यापन्नस्य जीवत्वादिति ।

[अज्ञान में आभासित चैतन्य से अभिन्न चैतन्य ही जीव है–आभासवाद]

वेदान्त दर्शन में जीव के प्रसङ्ग में एक आभासवाद नाम का मत प्रसिद्ध है । उसके प्रतिपादकों का कहना यह है कि जैसे दर्पणादि प्रतिबिम्बग्राही द्रव्यों में मुखादि बिम्बभूत द्रव्यों से अतिरिक्त मुखादिरूपप्रतिबिम्ब की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार अज्ञान में ब्रह्मचैतन्य का आभास अर्थात् अति-रिक्त प्रतिबिम्ब होता है । उस चैतन्याभास से तादात्म्यापन्न चैतन्य ही जीव है, जीव में अहंकार का निरुपाधिक अध्यास होता है । यह अध्यास अज्ञान में चैतन्याभास माने बिना सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि निरुपाधिक अध्यासमात्र में अध्यस्यमान पदार्थ के सादृश्य की अपेक्षा होती है । किन्तु चैतन्य में किसी का सादृश्य नहीं है । अतः उसमें सादृश्य की उपपत्ति के लिये अज्ञान में चैतन्याभास मानना आवश्यक है । उसके मानने पर उसका तादात्म्यरूप अध्यास चैतन्य में सम्भव होने से उसमें अहंकार के निरुपाधिक अध्यास की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं होती । अज्ञान में चैतन्य का

आभास अनादि है अतः उस अध्यास के निरुपाधिक होने पर भी उस के लिये सादृश्य की अपेक्षा न होने से सादृश्य की उपपत्ति के लिये अनेक चैतन्याभासों की कल्पना प्रयुक्त अनवस्था की आपत्ति नहीं होती क्योंकि सादृश्य की अपेक्षा निरुपाधिक जन्य अध्यास में ही होती है ।

यदि यह शंका की जाय कि–"चैतन्य में अज्ञान का अनादि अध्यास है ही, अत एव अज्ञान के सादृश्य से चैतन्य में अहंकार का निरुपाधिक अध्यास हो सकता है । अतः सादृश्य के लिये अज्ञान में चैतन्याभास की कल्पना निष्प्रयोजन है ।"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अज्ञान जड है । अत एव चैतन्य में उसके सादृश्य की आपत्ति यानी प्राप्ति असिद्ध है । क्योंकि अज्ञान जड होने से उस का सादृश्य जडतादात्म्यरूप होगा और यह चैतन्य में तब सम्भव होता यदि उस में अज्ञान तादात्म्यसम्बन्ध से अध्यस्त होता । किन्तु वह तादात्म्यसम्बन्ध से चैतन्य में अध्यस्त नहीं है अपितु तादात्म्यभिन्नसम्बन्ध से अध्यस्त है इसलिये 'अहमज्ञानम्' ऐसी प्रतीति न होकर 'अहमज्ञः'=मैं अज्ञानी हूं, इस प्रकार की प्रतीति होती है । किन्तु जब अज्ञान में चैतन्य का आभास माना जाता है तब उस चैतन्याभास का चैतन्य में तादात्म्याध्यास होने से चैतन्य में जाड्य संभव होने से चैतन्याभासरूप जड का तादात्म्यलक्षण सादृश्य उपपन्न होने से चैतन्य में अहंकार का अध्यास उपपन्न हो सकता है ।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि–'आभास में बिम्बभिन्न प्रतिबिम्ब में कोई प्रमाण न होने से अज्ञान में जड चैतन्याभास नहीं माना जा सकता ।'–क्योंकि 'आदर्शे मुखम्=आदर्श में मुख है' इस यथार्थ प्रतीति के अनुरोध से आदर्श में ग्रीवास्थमुख से भिन्नमुख की उत्पत्ति सिद्ध होती है । क्योंकि यदि प्रतिबिम्बभूतमुख ग्रीवास्थमुख से भिन्न न होगा, तो उस में ग्रीवास्थत्व का ही ज्ञान होता, आदर्शवृत्तित्व का ज्ञान न होता । तो जब इस प्रकार एक स्थान में बिम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब का होना सिद्ध है तो जो बात एक स्थान में सिद्ध होती है, अन्यत्र भी इसी प्रकार की बात मानना युक्तिसङ्गत है । इस न्याय से अज्ञान में भी चैतन्य से भिन्न चैतन्याभास माना जा सकता है । और जैसे अज्ञान में चैतन्य से भिन्न चैतन्याभास स्वीकार्य हो सकता है उसी प्रकार अन्तःकरणादि में भी चैतन्य का आभास होता है किन्तु अन्तःकरणगत चैतन्याभास जीव शब्द का प्रवृत्ति निमित्त नहीं होता किन्तु अज्ञानगत चैतन्याभास ही जीव शब्द का प्रवृत्ति निमित्त होता है क्योंकि अज्ञानगतचैतन्याभास तादात्म्यापन्न चैतन्य ही जीव है ।

प्रतिबिम्बवादे तु न मुखान्तरोत्पत्तिः, मुखेऽधिष्ठानभेदमात्रस्य द्वित्वापरपर्यायस्यादर्शस्थत्वस्य चानिर्वचनीयस्यैवोत्पत्त्यैव निर्वाहात् । अधिष्ठाने मुखे कतिपयावयवाच्छेदेनेन्द्रियसंनिकर्षादपरोक्षभ्रमोपपत्तेः । ननु–आदर्श एवाधिष्ठानमस्तु, तत्र मुखाभावाऽज्ञानेन यदि मुखमपरोक्षम् तदा तत्संसर्गस्य, अन्यथा तस्यैवोत्पत्त्योपपत्तेः, मुखाधिष्ठानत्वस्यानुभवाननुसारित्वादिति चेत् ? न, सोपाधिक–निरुपाधिकभ्रमव्यवस्थाविप्लवप्रसङ्गात् । 'लोहितः स्फटिकः' इत्यत्रापि शुक्त्यज्ञानाद् रजतभ्रमवज्जपाकुसुमत्वाज्ञानाल्लोहिते तस्मिन् स्फटिकतादात्म्यभ्रमस्य सुवचत्वात् । अधिष्ठानस्योपाधित्वे च सर्वभ्रमाणां सोपाधिकत्वप्रसङ्गः, प्रत्यभिज्ञानाच्च न मुखान्तरोत्पत्तिः । ननु एवं ततोऽज्ञाननिवृत्तौ भेदभ्रमोऽपि निवर्तेतेति चेत् ? न, सोपाधिक-

भ्रमनिवृत्तावुपाधिनिवृत्तेः पुष्कलकारणत्वात् । भेदाध्यासे दर्पणस्योपाधित्वात्, सत्यपि प्रत्यक्ष-प्रत्यभिज्ञाने यावदुपाधि भेदाऽध्यासानुवृत्तेः । तस्माद् मुखमधिष्ठानं तत्र च भेदोऽध्यस्यते इति स्थितम् । एवं चाज्ञानादौ प्रतिबिम्बे सत्यपि नाभासान्तरम्, मानाभावात्, अज्ञानाध्यासेन परिच्छिन्नत्वापत्त्यैव सादृश्यसंभवादिति विशेषः ।

[आदर्श में अन्य मुख की उत्पत्ति नहीं होती–प्रतिबिम्बवाद]

आभासवाद के समान जीव के सम्बन्ध में प्रतिबिम्बवाद के नाम से भी एक मत वेदान्त–सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है । उस मत के समर्थकों का यह कहना है कि प्रतिबिम्बग्राही द्रव्यों से बिम्ब से भिन्न प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु बिम्बभूत पदार्थ ही उन द्रव्यों में ज्ञात होता है, अत: आदर्श में ग्रीवास्थमुख से भिन्नमुख की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु आदर्श के आभिमुख्यरूप दोष सहकृत अज्ञान से मुख में ग्रीवास्थत्व के ज्ञान का प्रतिबन्ध हो जाता है और उस मुखरूप अधिष्ठान में ही अनिर्वचनीय आदर्श सम्बन्ध और उसी में उस के अनिर्वचनीय भेद की –जिसे शब्दान्तर से द्वित्व नाम से भी अभिहित किया जाता है- उत्पत्ति हो जाती है । इसलिये उस एक ही मुख में द्वित्व और आदर्शवृत्तित्व की प्रतीति होती है । यह प्रतीति परोक्षभ्रमरूप न होकर अपरोक्ष भ्रमरूप होती है । क्योंकि आदर्श के सन्मुख स्थित मनुष्य के चक्षु की किरण आदर्श में प्रतिहत होकर जब उस मनुष्य की ओर लौटती है तब उस के मुख के कतिपयभाग के साथ चक्षु का संनिकर्ष हो जाता है । अत: 'आदर्शे मुखम्' इस भ्रम में मुख का इन्द्रिय संनिकर्ष से भान होता है । अत एव यह मुख का अपरोक्ष भ्रम है । यदि आदर्श में अन्य मुख की उत्पत्ति होती तो वह मुख अनिर्वचनीय होता अत: उस मुख में आदर्श सम्बन्ध की होने वाली बुद्धि मुख अंश इन्द्रियजन्य न होने से मुख अंश में परोक्षरूप होती ।

[भ्रम का अधिष्ठान मुख नहीं आदर्श है–शंका]

इस पर यह शंका हो सकती है कि 'आदर्शे मुखम्' इस भ्रमात्मक ज्ञान का अधिष्ठान मुख नहीं है, किन्तु आदर्श ही है । और उस में यद्यपि मुखभाव है फिर भी उस का ज्ञान न होने से आदर्श में मुखज्ञान उत्पन्न होता है । इस ज्ञान के सम्बन्ध में यदि यह अनुभव हो कि 'यह ज्ञान मुखांश में अपरोक्ष है' तो आदर्श में बिम्बभूत मुख के अनिर्वचनीय संसर्ग की ही उत्पत्ति मान्य होगी । यदि ऐसा अनुभव न हो किन्तु उक्त प्रतीति मुखांश में भी परोक्ष ही हो तो आदर्श में अनिर्वचनीय मुखांतर की भी उत्पत्ति हो सकती है । इस के अतिरिक्त इस प्रतीति को आदर्शाधिष्ठान वाली मानना इसलिये भी उचित है कि मुख में उस प्रतीति की अधिष्ठानता अनुभवविरुद्ध है । क्योंकि प्रत्येक आदर्शद्रष्टा व्यक्ति को यही अनुभव होता है कि 'मैं आदर्श में मुख देखता हूं न कि मुख में आदर्श सम्बन्ध देखता हूं ।'

[सोपाधिक–निरुपाधिक भ्रम विभाग उच्छेद की आपत्ति-समाधान]

किन्तु यह शंका उचित नहीं है क्योंकि यदि 'आदर्शे मुखम्' इस प्रत्यक्ष को आदर्शाधिष्ठान वाला माना जायगा तो सोपाधिक और निरुपाधिक भ्रम की व्यवस्था का लोप हो जायगा, क्योंकि जिस ज्ञान में उपहितवस्तु में उपाधिगत धर्म का भान होता है वही सोपाधिक भ्रम होता है ।

अतः यदि 'आदर्शे मुखम्' इस भ्रम को उपहित मुखाधिष्ठान वाला न मानकर उपाधिभूता-दर्शाधिष्ठानवाला माना जायगा तो 'लोहितः स्फटिकः' इस प्रसिद्ध सोपाधिक भ्रम के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि जैसे शुक्ति के अज्ञान से इदन्त्वेन ज्ञायमान शुक्ति में निरुपाधिक रजत-भ्रम होता है उसी प्रकार संनिहित जपाकुसुम में जपाकुसुमत्व के अज्ञान से लोहित्यमात्ररूप से गृहीत जपाकुसुमरूप उपाधि में स्फटिक का तादात्म्यभ्रम होता है। इस प्रकार वह भ्रम भी उपहित में उपाधिधर्म का ग्राहक न होने से सोपाधिक न हो सकेगा। यदि अधिष्ठान को ही उपाधि मानकर 'आदर्शे मुखम्' और 'लोहितः स्फटिकः' इन में सोपाधिकत्व की उपपत्ति की जायगी तो भ्रम मात्र के साधिष्ठान होने से सोपाधिक हो जाने के कारण निरुपाधिकभ्रम का उच्छेद ही हो जायगा।

दूसरी बात यह है कि आदर्श में दृश्यमान मुख और ग्रीवास्थ मुख में ऐक्याध्यवसायरूप 'आदर्शे मम मुखम्' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है। अतः आदर्श में ग्रीवास्थमुख से भिन्न मुख की उत्पत्ति मानना असङ्गत है।

[प्रत्यभिज्ञा होने पर भी उपाधि रहने पर भेदाध्यास]

यदि यह कहा जाय कि–"यदि आदर्श में दृश्यमान मुख और ग्रीवास्थ मुख में ऐक्यग्राहिणी प्रत्यभिज्ञा होती है तब तो उसी से दर्पण में दृश्यमानमुख और ग्रीवास्थमुख में ऐक्य के अज्ञान की निवृत्ति हो जायगी। अतः जो मुख में भेदभ्रम-द्वित्वग्रह होता है उसी की भी निवृति हो जाएगी।" तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि सोपाधिकभ्रम की निवृत्ति में उपाधि निवृत्ति की पुष्कल यानी चरम कारण होती है। मुख में आदर्श के सम्मुखीन मनुष्य को जो भेदाध्यास होता है वह आदर्शोपाधिक होता है। अत एव दर्पणस्थ और ग्रीवास्थ मुख में ऐक्य की प्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञा होने पर भी जब तक उपाधि है तब तक भेदाध्यास का अनुवर्त्तन अपरिहार्य है। अतः युक्तिसंगत यही है कि 'आदर्शे मुखम्' इस भ्रमात्मक बुद्धि में बिम्बभूत मुख ही अधिष्ठान है। उसी में आदर्श में दृश्यमान मुख और ग्रीवास्थमुख में ऐक्य के अज्ञान से भेद का अध्यास होता है। इस प्रकार अज्ञान में चैतन्य का प्रतिबिम्ब होने पर भी उसे आभास रूप–बिम्बभूत चैतन्य से भिन्न नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

इस संदर्भ में अज्ञान में चैतन्याभास के समर्थन करने के लिये जो यह बात कही गयी कि अज्ञान में चैतन्याभास न मानने पर जीव चैतन्य में किसी का सादृश्य न होने से उस में अहंकार का निरुपाधिक अध्यास न हो सकेगा–वह बात महत्त्व-हीन है क्योंकि चैतन्य में अज्ञान के अनादिसिद्ध अध्यास से अज्ञान का परिच्छिन्नत्व चैतन्य में आ जाता है। अतः परिच्छिन्नत्वरूप से चैतन्य में अज्ञान का सादृश्य होने से उस में अहंकार का निरुपाधिक अध्यास चैतन्याभास के अभाव में भी सम्भव है।

स च जीवोऽज्ञानबहुत्ववादे हिरण्यगर्भ-विराडादिभेदेन नाना 'तदैक्येऽपि तच्छक्तिभेदात् तज्ञान्तःकरणभेदाद् वा नाना' इत्यप्याहुः। अज्ञानभेदे प्रत्यज्ञानमावरणविक्षेपशक्तिकल्पने गौरवम्, तदैक्ये त्वेकत्रैव तावच्छक्तिकल्पनाल्लाघवम्। न च तावत्यः शक्तय एव सन्तु, किमज्ञानेन ? इति वाच्यम्; तासां साश्रयत्वनियमात्। चैतन्यं च न तदाश्रयः,

शक्तस्य प्रपञ्चोपादानत्वात्, तस्य च सत्यत्वेनाऽतथात्वात् । ततः शक्तिभेदेन तदुपहितजीवभेदः, तत्तज्जीवगततत्त्वज्ञानेन जीवोपाधिशक्तिनाशाद् मुक्त्युपपत्तेः । एवमन्तःकरणभेदेऽपि भाव्यम्, केवलमत्र "तन्मनोऽकुरुत" इति श्रुतेरन्तःकरणस्य जन्यत्वाज्जीवस्य सादित्वप्रसङ्ग इति नातीव प्राज्ञानामादरः ।

[जीव संख्या से अनेक हैं]

जीव की संख्या के विषय में भी वेदान्तसम्प्रदाय में कई मत उपलब्ध होते हैं । जैसे–एकमत यह है कि अज्ञान अनेक है और अज्ञानोपाधिक चैतन्य जीव है । अतः अज्ञानरूप उपाधि के भेद से जीव अनेक हैं और उपाधि के उत्कर्ष अपकर्ष के तारतम्य से 'हिरण्यगर्भ–विराट' इत्यादि उस के अनेक भेद हैं । दूसरा मत यह है कि अज्ञान एक है किन्तु उसकी आवरण–विक्षेपशक्तियां अनेक हैं और उन शक्तियों से उपहित चैतन्य जीव है । अतः अज्ञानशक्तिरूप उपाधि से उपहित होने के कारण जीव में शक्तिभेदरूप उपाधिभेद-मूलक अनेकत्व है । तीसरा मत यह है कि अज्ञान से उत्पन्न होने वाला अन्तःकरण अनेक है । वही जीव की उपाधि है । अतः अन्तःकरण के भेद से जीव अनेक हैं । इन मतों में मध्यम मत प्रथम और तृतीय मतों की अपेक्षा अधिक युक्तिसङ्गत है, क्योंकि प्रथम मत में अज्ञान भी अनेक है और उसकी आवरण विक्षेपशक्तियां भी अनेक हैं, अतः इस मत में गौरव है । मध्य मत में अज्ञान एक ही है केवल उस की शक्तियों में अनेकत्व है अतः पूर्वमत की अपेक्षा इस मत में लाघव है । यदि यह शंका की जाय कि–'यदि लाघव के आधार पर ही मत को जीवित रखना है तब तो इस की अपेक्षा यह मानने में अधिक लाघव होगा कि अज्ञान का अस्तित्व ही नहीं है केवल आवरण और विक्षेपशक्ति का ही अस्तित्व है । अतः अज्ञान की मान्यता गौरवग्रस्त होने से असङ्गत है'–किन्तु यह ठीक नहीं है । क्योंकि उस शक्ति में आश्रय–सहितत्व का नियम है । चैतन्य को शक्तियों का आश्रय नहीं माना जा सकता, क्योंकि आवरण–विक्षेपशक्तियों से जो युक्त है वही प्रपञ्च का उपादान होता है किन्तु चैतन्य नित्य होने के कारण प्रपञ्च का उपादान नहीं हो सकता । अतः शक्तियों के आश्रयरूप में एक अज्ञान का अभ्युपगम अनिवार्य है । अज्ञान की शक्तिरूप उपाधि के भेद से उस से उपहित चैतन्यरूप जीव में भेद होता है । जिस जीव को जब तत्वज्ञान होता है तब उस जीव की उपाधिमूल अज्ञानशक्ति का नाश होने से उस जीव की मुक्ति होती है । अन्तःकरण के जीवोपाधित्वपक्ष में भी इसी प्रकार व्यक्तिगत मोक्ष की उपपत्ति होती है । किन्तु 'अन्तःकरणोपहित चैतन्य जीव है' यह तृतीय मत केवल इसलिये प्राज्ञ पुरुषों द्वारा आदरणीय नहीं होता, कि इस मत में 'तन्मनोऽकुरुत(=ब्रह्म ने मन)(=अन्तःकरण) का निर्माण किया' इस श्रुति के अनुसार अन्तःकरण के जन्य होने से अन्तःकरणोपहित जीव में सादित्व का प्रसंग होता है ।

जीवभेद एव क्रममुक्तिफलानां हिरण्यगर्भाद्युपासनाद्यवधानामुपपत्तिः । तथाहि–कश्चिद् वेदार्थाभिज्ञो नित्याद्यनुतिष्ठन्नापरणाभ्यस्यमानकेवलहिरण्यगर्भोपासनायाः परिपाके मरणकाले 'अहं हिरण्यगर्भः' इति प्रत्ययोद्रेके देहं विसृज्यार्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं गतो हिरण्यगर्भसायुज्यं गच्छति । सायुज्यमत्र 'सयुजो भावः' इति व्युत्पत्त्या भूतावेशन्यायेन हिरण्यगर्भशरीरे

चतुर्मुखे उपास्योपासकयोरवस्थानम्–इति केचित् । तन्न, सायुज्यशब्दस्य तादात्म्ये रूढत्वात्, योगाद् रूढेर्बलीयस्त्वात् । 'परिच्छिन्नलिङ्गस्योपासकस्याऽपरिच्छिन्नलिङ्गोत्पादः' इत्यन्ये । तदपि न, सारूप्यलक्षणापत्तेः, परिच्छिन्नलिङ्गनाशे मानाभावाच्च ।

[हिरण्यगर्भादि की उपासना के सूचक शास्त्रवचनों की उपपत्ति]

वेदान्त सम्प्रदाय के मूलभूतग्रन्थ उपनिषदों में हिरण्यगर्भादि की उपासना के विधायक अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं । जिन में भिन्नक्रम से उपासकों की मोक्षप्राप्ति का वर्णन है । * वह वर्णन जीवभेद मानने पर ही उपपन्न होता है । अर्थात् उपासक विभिन्न उपासना के अनुसार उत्तरोत्तर उत्कृष्ट–उत्कृष्टतर स्थितियों में पहुंचता हुआ अन्त में मोक्षसाधन की परिपूर्णता होने पर मुक्ति प्राप्त करता है ।

हिरण्यगर्भ की उपासना का फल बताते हुए कहा गया है कि जो कोई मनुष्य वेद का अध्ययन और वेदार्थ का परिज्ञान करके नित्य–नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करते हुये मृत्यु न होने तक केवल हिरण्यगर्भ की निरन्तर उपासना करता है–उपासना का परिपाक होने पर मृत्युकाल में उसे 'अहं हिरण्यगर्भः=मैं हिरण्यगर्भ हूं' इस प्रकार हिरण्यगर्भ के साथ अपने ऐक्य का दृढ बोध उत्पन्न होता है और वह उसी समय देह का परित्याग कर उपनिषदों में वर्णित 'अर्चिः' आदि मार्ग से ब्रह्मलोक में पहुंच कर हिरण्यगर्भ के साथ सायुज्य प्राप्त करता है ।

---

* उपनिषदों में मुमुक्षु के लिये दो प्रकार की उपासनाओं का वर्णन है–निर्गुण ब्रह्मोपासना और सगुण ब्रह्मोपासना । इनमें सगुण ब्रह्म की उपासना के हिरण्य-गर्भ-विराट् आदि उपास्य के भेद से अनेक भेद बताये गये हैं । सगुण उपासना को क्रममुक्ति का उपाय कहा गया है । क्रममुक्ति के चार स्वरूप हैं – (१) सालोक्य (२) सामीप्य (३) सारूप्य (४) सायुज्य ।

(१) उपासक अपनी प्रथमोपासना का परिपाक होने पर वर्त्तमान देह का त्याग कर उपास्य के लोक में पहुँचता है । इसी को सालोक्य कहा जाता है–जिसका अर्थ है उपास्य की समानलोकता अर्थात् उपास्य के लोक में निवास प्राप्त करना ।

(२) सामीप्यः – प्रथमोपासना से अधिकतर उत्कृष्ट उपासना का परिपाक होने पर उपासक को उपास्य का सामीप्य प्राप्त होता है । अर्थात् वह उपास्य के लोक में पहुँचकर उपास्य के समीपवर्त्ती हो जाता है ।

(३) दूसरी उपासना से भी अधिकतर उत्कृष्ट उपासना के परिपाक से उपासक उपास्य का सारूप्य प्राप्त करता है । सारूप्य का अर्थ है उपास्य के शरीर के समान लावण्य-तारुण्यादि सम्पन्न शरीर की प्राप्ति ।

(४) सर्वोत्कृष्ट उपासना के परिपाक के फलस्वरूप उपास्यदेव के साथ सायुज्य प्राप्त करता है । सायुज्य का अर्थ है तादात्म्य । यह तादात्म्य वास्तव न होकर बौद्धिक होता है अर्थात् उपासक अपने को उपास्य से अभिन्न अनुभव करने के लिये अधिकृत हो जाता है ।

निर्गुण ब्रह्मोपासना से प्राप्तव्य मोक्ष उक्त चतुर्विध मोक्ष से भिन्न है । उसके दो भेद हैं–जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति । दोनों ही जीव ब्रह्म के ऐक्य के साक्षात्कार से प्राप्त होती है ।

[सायुज्य=उपास्य के देह में सहावस्थान-एक मत]

यह सायुज्य क्या है ? इस सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत हैं । कुछ लोगों का कहना है कि 'सयुजो भावः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सायुज्य का अर्थ है-एक शरीर में अवस्थान । क्योंकि "युनक्ति-प्रवर्त्तयति स्वाधिष्ठातारं यत्-तत् युक्=शरीरम्, तस्य आत्मनि प्रवृत्त्याश्रयकत्वात्, समानं युक् ययोः तौ सयुजौ" इस व्युत्पत्ति के अनुसार सयुज् शब्द का अर्थ है एक शरीर में अवस्थित । सायुज्य की इस व्याख्या के अनुसार हिरण्यगर्भ के चतुर्मुख शरीर में उपास्य हिरण्यगर्भ का और उन के उपासक का सहावस्थान होता है । फलतः एक ही शरीर से उपास्य और उपासक दोनों क्रियाशील होते हैं । यह स्थिति भूतावेशन्याय से सम्भव होती है । आशय यह है कि जैसे कोई भूत-प्रेतात्मा किसी जीवित मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है उसी प्रकार हिरण्यगर्भ का उपासक उक्त रीति से हिरण्यगर्भ के शरीर में अवस्थित होता है। किन्तु सायुज्य की यह व्याख्या समीचीन नहीं है, क्योंकि सायुज्य शब्द तादात्म्य में रूढ है और रूढि-समुदायशक्ति योग यानी अवयवशक्ति से बलवती होती है । अतः सायुज्य शब्द से उक्त अवयवअर्थ का बोध न मानकर तादात्म्यरूप रूढ अर्थ का बोध मानना ही उचित है ।

[अधिक शक्ति संपन्न लिंगशरीर की प्राप्ति-सायुज्य, दूसरा मत]

अन्य विद्वानों के मत में सायुज्य का अर्थ है परिच्छिन्न लिंग शरीर का त्याग कर अपरिच्छिन्न लिंग शरीर की प्राप्ति । तात्पर्य यह है कि उपासक उपासना का परिपाक होने पर उक्त रीति से जब ब्रह्मलोक में पहुंचता है तब उसका पहले का लिंग शरीर जो प्राप्तव्यलिङ्ग शरीर की अपेक्षा अल्पशक्तिक होने से परिच्छिन्न कहा जाता है उस का त्याग कर देता है और नये अपरिच्छिन्न अधिक शक्ति सम्पन्न लिङ्ग शरीर को प्राप्त करता है । किन्तु यह व्याख्या भी ठीक नहीं है क्योंकि सायुज्य शब्द का उक्त अर्थ सारूप्यात्मक है । अतः यह सायुज्य शब्द की लक्षणा से ही प्राप्त हो सकता है और अभिधा की अपेक्षा लक्षणा विलम्ब से अर्थ बोधक होने के कारण निन्द्य वृत्ति है । अतः प्रशस्तवृत्ति से अर्थबोध सम्भव रहने पर निन्द्यवृत्ति से अर्थबोध का अभ्युपगम अनुचित है । तथा दूसरी बात यह है कि ब्रह्मलोक में उपासक के परिच्छिन्नलिङ्गशरीर का नाश होता है उस में कोई प्रमाण नहीं है और आत्मतत्त्वसाक्षात्कार के पूर्व उस का नाश सम्भव ही नहीं है । क्योंकि वह ब्रह्मविषयक मूलाज्ञान मूलक है अत एव मूलाज्ञान के रहते उस का नाश अशक्य है ।

परे तु–'अपरिच्छिन्नमेकमेव समष्टिलिङ्गं पाप्माऽऽसङ्गादिदोषेण भ्रान्त्या परिच्छिन्नतां गतमुपासनया पाप्म दिनिवृत्तौ स्वरूपेणावतिष्ठते, तेन जीवस्य ब्रह्मभाववद् हिरण्यगर्भसायुज्यम्' इत्याहुः । तदपि न, लिङ्गस्यैकत्वेन तस्य हिरण्यगर्भान्तिमतत्त्वज्ञानेन नाशे क्रममुक्तिफलसमर्पकोपासनावाक्यप्रामाण्यादिह श्रवणाद्यनुपपत्तेः । क्रममुक्तिमात्राङ्गीकारे उपासनाविचारस्यैव कर्तव्यत्वेन ब्रह्मविचारस्याऽकिञ्चित्करत्वप्रसङ्गाच्च । अपरिच्छिन्नलिङ्गानेकत्वेऽपि सायुज्यशब्दस्य सारूप्ये लक्षणापत्तिः । 'परिच्छिन्नस्यापरिच्छिन्नेन तादात्म्यमि'ति चेत् ? न, सर्वरूपे स्थितेऽन्यस्यान्यात्मतानुपपत्तेः, नाशे मानाभावाच्च । संकोच-विकाशपक्षस्त्वत्यन्ताऽप्रामाणिकः ।

तस्माद् यथावस्थितलिङ्गस्यैवोपासकस्योपासनाफलं समष्टिलिङ्गे हिरण्यगर्भे देहादाविवानिर्वचनीयतादात्म्यम् उपासनादशायां 'हिरण्यगर्भोऽहम्' इति प्रातिभप्रत्ययाद् विलक्षणस्य सायुज्यदशायामप्रातिभस्य तत्प्रत्ययस्य फलभूतस्य विषयः-इति वदन्ति ।

[सायुज्य = दूसरे स्वरूप में किसी एक का अवस्थान—तृतीय मत]

अपर विद्वानों के मत से सायुज्य का अर्थ है कि किसी एक का दूसरे के स्वरूप से अवस्थान। इस के अनुसार हिरण्यगर्भ के साथ जीव के सायुज्य का अर्थ है जीव को हिरण्यगर्भ के स्वरूप की प्राप्ति। उन के कहने का आशय यह है कि जैसे अद्वितीय ब्रह्म ही पाप्मन् यानी अविद्या के सङ्ग से जीवभाव को प्राप्त होता है और ब्रह्म के अखण्ड साक्षात्कार से अविद्या आदि की निवृत्ति होने पर जीवभाव को प्राप्त चैतन्य जीवभाव को त्यागकर अपने ब्रह्मस्वरूप से अवस्थित होता है; उसी प्रकार वास्तव में एक ही अपरिच्छिन्न लिङ्ग है जो हिरण्यगर्भ का लिङ्ग है और वही परिच्छिन्न लिङ्गसमूह का मूल होने से समष्टिलिङ्ग कहा जाता है। वह अपरिच्छिन्नलिङ्ग पाप के आसङ्गरूप दोष से भ्रमवश परिच्छिन्न होकर अनेक हो जाता है उन परिच्छिन्न लिङ्गों से युक्त चैतन्य ही जीव है। जब जीव हिरण्यगर्भ की उपासना से पापसंगात्मक दोष को नष्ट कर देता है तो उस का परिच्छिन्नलिङ्ग नष्ट हो जाता है और वह हिरण्यगर्भ के अपरिच्छिन्नरूप से अवस्थित हो जाता है। हिरण्यगर्भ के अपरिच्छिन्न लिङ्ग शरीर से जीव का यह अवस्थान ही हिरण्यगर्भ के साथ जीव का सायुज्य है।—किन्तु विचार करने पर यह भी समीचीन नहीं प्रतीत होता क्योंकि जब लिङ्ग एक ही होगा तो हिरण्यगर्भ के अन्तिम होने पर जीव की क्रममुक्ति ही सम्भव हो सकेगी। फलतः आत्मा के श्रवण-मनन आदि का अनुष्ठान निरर्थक होगा क्योंकि श्रवणादि से अक्रममुक्ति होती है और उक्त मत में क्रममुक्तिफलक उपासना बोधक वाक्यों के प्रामाण्य के अनुरोध से क्रममुक्ति मानना अनिवार्य है।

यदि यह कहा जाय कि—"उपनिषद् का तात्पर्य क्रममुक्ति के ही प्रतिपादन में है—अक्रममुक्ति उपनिषद् का अभिमत नहीं है'—तो यह कहना उचित नहीं हो सकता। क्योंकि उस स्थिति में उपासना सम्बन्धी विचार ही कर्तव्य होने से ब्रह्मविचार व्यर्थ होगा।

[सायुज्य = अपरिच्छिन्न लिंग की प्राप्ति—चौथा मत]

यदि यह माना जाय कि—'अपरिच्छिन्नलिङ्ग एक नहीं किन्तु अनेक है। जीव को उपासना से अपरिच्छिन्न लिङ्ग का त्याग होने पर अपरिच्छिन्न ब्रह्मलोक में अपरिच्छिन्नलिङ्ग की प्राप्ति होती है और इस अपरिच्छिन्नलिङ्ग का लाभ ही हिरण्यगर्भ का सायुज्य है"—तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में सारूप्य में सायुज्यशब्द की लक्षणा माननी पड़ती है। क्योंकि हिरण्यगर्भ के अपरिच्छिन्न लिङ्ग के सदृश अपरिच्छिन्नलिङ्ग की प्राप्ति सारूप्य से भिन्न नहीं हो सकती।

[सायुज्य = अपरिच्छिन्न लिंग के साथ तादात्म्य—पाँचवाँ मत]

यदि यह कहा जाय कि उपासना द्वारा ब्रह्मलोक में पहुंचने पर उपासक के परिच्छिन्नलिङ्ग का त्याग नहीं होता किन्तु उसका अपरिच्छिन्नलिङ्ग के साथ तादात्म्य हो जाता है"—तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि कोई एक वस्तु अपने सभी रूप के रहते हुए अन्य वस्तु से अभिन्न नहीं हो

सकती और 'उस के सभी व्यावर्त्तक स्वरूपों का नाश हो जाता है' यह बात प्रमाण के अभाव में मान्य नहीं हो सकती। एवं यह बात भी अप्रमाणिक होने से मान्य नहि हो सकती कि-'उपासना के परिपाक के पूर्व उपासना का लिंगशरीर संकुचित रहता है और उपासना के बल से ब्रह्मलोक में पहुंचने पर विकसित हो जाता है। ब्रह्मलोक में उसके लिंगशरीर का यह विकास ही हिरण्यगर्भ के साथ सायुज्य है।'—क्योंकि संकोच-विकास अत्यन्त अप्रामाणिक है।

[सायुज्य = उपास्य-उपासक का अनिर्वचनीय तादात्म्य—सिद्धान्त मत]

इस प्रकार सायुज्य के उक्त सभी लक्षण दोषग्रस्त होने से सिद्धान्तवेत्ता विद्वानों ने सायुज्य का अर्थ यह बताया है कि जैसे संसारदशा में देहादि में जीव का अनिर्वचनीय तादात्म्य होता है उसी प्रकार ब्रह्मलोक में पहुंचे हुये अपने ही लिंगशरीर से युक्त उपासक का हिरण्यगर्भ के समष्टिलिंगोपेत हिरण्यगर्भ में अनिर्वचनीय तादात्म्य उत्पन्न होता है। यह तादात्म्य ही उसकी उपासना के फल-स्वरूप उपास्य और उपासक में भेदज्ञान के निरोधरूप दोष से उत्पन्न होता है। उस स्थिति में उपासक को हिरण्यगर्भ के साथ उस अनिर्वचनीय तादात्म्य की जो प्रतीति होती है वह अप्रातिभ यानी भावनाजन्य न होने से उपासनादशा में होनेवाली 'हिरण्यगर्भोऽहं' इस प्रकार की प्रातिभ यानी भावनाजन्य प्रतीति से विलक्षण होती है। इस प्रकार उपासना के फलस्वरूप उक्त प्रतीति का विषयभूत उपासक और हिरण्यगर्भ का 'अनिर्वचनीय तादात्म्य' ही हिरण्यगर्भ के साथ उपासक का सायुज्य है।

अन्यस्तूपासनाया अपरिपाके हिरण्यगर्भसालोक्यादि गच्छति। परस्त्विहैव श्रवणादिपरिपाकोत्पन्नज्ञानो मुच्यते। अपरस्तु श्रवणादिपरिपाकेऽपि प्रारब्धप्रतिबन्धेनानुत्पन्नज्ञानस्तन्नाशे शरीरनाशाद् योन्यन्तरगतो गर्भस्थदेहाभिव्यक्तौ प्रथममेव 'अहं ब्रह्मास्मि' इति प्रत्ययं लभते वामदेववत्। अन्यः पुनः साधनसंपन्नः श्रवणाद्यभ्यासे क्रियमाणे मध्ये मृतः श्रवणाद्यभ्याससामर्थ्योद्बुद्धपूर्वशुभकर्मफलानि बहुकालं भुक्त्वा शुचीनां श्रीमतां योगिनां वा कुले उत्पन्नः पूर्वाभ्यासवशेन पुनः प्रारब्धश्रवणाद्यभ्यासपरिपाकलब्धज्ञानो विमुच्यत इति। एवं विराडाद्युपासकानां विराडादिसायुज्यप्राप्तिः, प्रतीकोपासकानां च विद्युल्लोकप्राप्तिर्व्याख्येया।

[उपासना के परिपाक-अपरिपाक, पूर्णता—अपूर्णता का विविध प्रभाव]

अन्य व्यक्ति जिसे हिरण्यगर्भ की उपासना का पूरा परिपाक नहीं हुआ वह हिरण्यगर्भ के साथ सालोक्यादि अन्य मुक्ति को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति आत्मश्रवण-मननादि के अभ्यास में निरन्तर व्यापृत रहता है उसे श्रवणादि के परिपाक से इस लोक में ही आत्मतत्त्वज्ञान की प्राप्ति होने पर शीघ्र विदेहमुक्ति प्राप्त होती है।

कोई व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनका प्रारब्धकर्म श्रवणादि का परिपाक होने पर भी अवस्थित रहता है ऐसे व्यक्तिओं को प्रारब्ध रूप प्रतिबन्धकवश आत्म तत्त्व का साक्षात्कार नहीं उत्पन्न होता। जब भोग से प्रारब्ध का नाश होकर विद्यमान शरीर का नाश होता है तब अन्य योनि में पहुंचने पर गर्भस्थ देह के पूर्ण होते ही सर्व प्रथम उन्हें गर्भावस्था में 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इस प्रकार ब्रह्मात्मैक्य बुद्धि

हो जाती है और वह उसी अवस्था में मुक्त हो जाते हैं–ऐसे मुक्तों में वामदेव ऋषि का नाम शास्त्रों में चिरचर्चित है। दूसरे कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं–जो शमदमादि साधनों से सम्पन्न होते हैं और श्रवण मननादि के अभ्यासकाल के मध्य में ही मर जाते हैं वे श्रवणादि अभ्यास के सामर्थ्य से उद्बुद्ध हुये पूर्वोपार्जित शुभकर्मों के फलों का स्वर्गलोक में लम्बे समय तक भोग कर पवित्र चरित्रोपेत धार्मिक श्रीमन्तों के कुल में अथवा (कर्म) योगीओं के कुल में जन्म पाते हैं और पूर्वजन्म में किये श्रवणादि के अभ्यास से पुनः नये जन्म में भी श्रवणादि का अभ्यास प्रारम्भ करते हैं और उस का परिपाक होने पर मुक्त हो जाते हैं। हिरण्यगर्भ के उपासकों के समान विराट् आदि के उपासकों को भी विराट आदि के सायुज्य की प्राप्ति होती है। किन्तु जो हिरण्यगर्भादि की साक्षात् उपासना न कर उन के प्रतीकों की उपासना करते हैं उन्हें ब्रह्मलोकादि से हीन कक्षा वाले विद्युल्लोक की प्राप्ति होती है।

अन्ये त्वज्ञानैक्यात् तदुपहितं जीवमेकमेवाङ्गीकुर्वन्ति। तेषामुपासकानां क्रममुक्तिफलश्रवणमर्थवादमात्रम्। चित्तैकाग्र्ये तूपासनोपयोगः, कर्मानुष्ठानवत्। न त्वन्तिमप्रत्ययोत्पत्त्या फलदमुपासनम्, जीवैकत्वेऽप्यन्तःकरणभेदेन प्रमातृभेदाद् वोपासनोपपत्तिः, केषाञ्चित् प्रमातृणामनुष्ठितोपासनापरिपाके ब्रह्मलोकं गतानां यावत्कल्पमवस्थाय कल्पान्तर आवृत्तेः "इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" इति श्रुतौ 'इयम्' इति विशेषणादेतत्कल्प एवानावृत्तिपर्यवसानात्, अन्यथैतद्विशेषणानुपपत्तेः। वामदेवादीनां मुक्तत्वश्रवणं काल्पनिकाभिप्रायम्, नित्यमुक्तत्वाभिप्रायं वा। न चानाश्वासः, श्रुतेः प्रामाण्यात्, अनेकजीववादेऽद्ययावत् कस्यचिदमुक्तत्ववत् एकजीववादे सर्वस्य तत्त्वोपपत्तेः। तदेवं निरूपितो जीवः।

[उपाधिभूत अज्ञान एक होने से जीव भी एक]

वेदान्तदर्शन में जीवनानात्व पक्ष के समान जीवैक्य पक्ष भी एक प्रसिद्ध पक्ष है जो वेदान्तदर्शन का सिद्धान्तपक्ष कहा जा सकता है इस पक्ष के समर्थक विद्वानों का कहना है कि ब्रह्मविषयक अज्ञान एक ही है और उस से उपहित चैतन्य ही जीव है। अतः उपाधि एक होने से जीव भी एक ही है। इस मत में क्रममुक्ति मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि मुक्त होने वाला जीव एक ही है अतः उपनिषदों में जो उपासकों को उपासना से प्राप्त होने वाली क्रममुक्ति का वर्णन है वह अर्थवादमात्र है अर्थात् उसका तात्पर्य फल की सुलभता बताकर फलोपाय के अनुष्ठान में जीव को प्रवृत्त करने के लिये है। इस मत में कर्मानुष्ठान के समान उपासना का भी फल है 'चित्त की एकाग्रता का सम्पादन' अन्तिम आत्मतत्त्व साक्षात्कार का उत्पादक होने से वह कर्मानुष्ठान फलप्रद है–ऐसा नहीं। इस पक्ष में यद्यपि जीव एक है तथापि वह अज्ञानोपहित चैतन्यरूप में प्रमाता नहीं होता, किन्तु अन्तःकरणोपहित चैतन्य के रूप में प्रमाता होता है। अतः अन्तःकरण के भेद से प्रमाता का भेद हो जाता है और इस भेद के द्वारा उपासना आदि की सार्थकता होती है। फलतः कुछ प्रमाता अनुष्ठित उपासना का परिपाक होने पर ब्रह्मलोक में जाते हैं और वर्तमान कल्प की पूरी अवधि तक वहाँ रहकर नये कल्प में वहाँ से मनुष्यलोक में लौटते हैं।

ऐसा मानने में 'इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते' इस श्रुति का कोई विरोध भी नहीं होता क्योंकि इस श्रुति में सामान्यरूप से प्रत्यावर्त्तन का निषेध न कर 'इमं' शब्द से वर्त्तमान कल्प में ही प्रत्या-

वर्तन का निषेध किया गया है । क्योंकि यदि सामान्यतः प्रत्यावर्त्तन के निषेध में उक्त श्रुति का तात्पर्य माना जायगा तो आवर्त्त के 'इमं' इस विशेषण की उपपत्ति न हो सकेगी । इस मत में यतः जीव एक ही है अतः अभी तक मोक्ष का होना असिद्ध है । वामदेवादि को जो शास्त्रों में मुक्त कहा गया है उस का तात्पर्य कल्पित वामदेवादि के काल्पनिक मुक्ति के प्रतिपादन में है । अथवा यह कहा जा सकता है—जीवैक्य का तात्पर्य बद्ध जीव के ऐक्य के प्रतिपादन में है किन्तु जीव नित्य मुक्त भी हैं । शास्त्रों में वामदेवादि की नित्यमुक्त जीवों के रूप में चर्चा की गयी है ।

यदि यह कहा जाय कि—'यदि अब तक किसी जीव की मुक्ति नहीं हुई तो भविष्य में भी जीव की मुक्ति होने का विश्वास नहीं होगा । फलतः मोक्षोपाय के अनुष्ठान में मनुष्य की प्रवृत्ति का उच्छेद हो जायगा'—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वेद प्रमाण होने से जीव की भावी मुक्ति पर विश्वास होना अनिवार्य है । दूसरी बात यह है कि जैसे अनेक जीववाद पक्ष में यह माना जा सकता है कि अनादिकाल में संसार में मोक्ष का प्रयत्न होते रहने पर भी ऐसे जीव हैं जो अभी तक मुक्त नहीं हुये, उसी प्रकार एकजीववाद में यह भी मानना सर्वथा युक्तिसंगत है कि अभी तक किसी की मुक्ति नहीं हुई । जीव का यह संक्षिप्त निरूपण है ।

तत्रान्तःकरणमध्यस्यते 'अहम्' इति, रज्ज्वामिव सर्पः । निरुपाधिकोऽयमध्यासः, उपाधेर-निरूपणात् । 'अहमज्ञः' इति त्वहंकारा-ऽज्ञानयोरेकचैतन्याध्यासात्, एकत्रह्विसंबन्धाद् दग्धृत्वा-ऽयसोरिव 'अयो दहति' इति प्रत्ययः । तच्चान्तःकरणं स्मृतिप्रमाणवृत्तिसंकल्पविकल्पाहंवृत्त्या-कारेण परिणतं चित्त-बुद्धि-मनो-ऽहङ्कारशब्दैर्व्यवह्रियते । इदमेवात्मतादात्म्येनाध्यस्यमानमात्मनि सुख-दुःखादिस्वधर्माध्यासे उपाधिः, स्फटिके जपाकुसुममिव लौहित्यावभासे । एवं प्राणादय-स्तद्धर्माश्चाशनाया-पिपासादयः, तथा, श्रोत्रादयो वागादयश्च तद्धर्माश्च बधिरत्व-मूकत्वादयोऽध्य-स्यन्ते, तथा देहस्तद्धर्माश्च स्थूलत्वादयः । तत्रेन्द्रियादीनां न तादात्म्याध्यासः, 'अहं श्रोत्रम्' इत्यप्रतीतेः, देहस्तु 'मनुष्योऽहम्' इति प्रतीतेस्तादात्म्येनाध्यस्यते ।

['अहं' बुद्धि का उत्पादक अन्तःकरणाध्यास]

रज्जु में सर्प के समान जीव में अन्तःकरण का अध्यास होता है जिस से 'अहं' इस प्रकार बुद्धि उत्पन्न होती है । यह अध्यास निरुपाधिक है क्योंकि इस के उत्पादक उपाधि का निरूपण अशक्य है । अहंकार और अज्ञान का, एक चैतन्य में अध्यास होने से दोनों का सामानाधिकरण्य हो जाता है । इसलिये 'अहमज्ञः' इस प्रकार की बुद्धि होती है । यह उसी प्रकार उपपन्न होती है—जैसे एक अग्नि में दाहकत्व और अयस् = लोह का सम्बन्ध होने से 'अयो दहति' = लोह दाह करता है' इस प्रकार की बुद्धि होती है । अन्तःकरण स्मृतिरूप वृत्ति के आकार में परिणत होने पर चित्त, एवं प्रमाणभूतवृत्ति के आकार में परिणत होने पर बुद्धि, तथा संकल्प-विकल्पात्मकवृत्ति के आकार में परिणत होने पर मन और 'अहमाकार' वृत्ति के आकार में परिणत होने पर अहंकार शब्द से व्यवहृत होता है—इस प्रकार अन्तःकरण के वृत्तिभेदमूलक चार भेद हैं । यह अन्तःकरण ही आत्मा में तादात्म्य से अध्यस्त होकर उस में सुख–दुःखादि अपने धर्म के अध्यास में उसी प्रकार उपाधि

होता है जिस प्रकार स्फटिक में लौहित्य के अवभास में जपाकुसुम उपाधि होता है। अतः आत्मा में सुख-दुःखादि का अध्यास सोपाधिक अध्यास कहा जाता है। इसी प्रकार प्राणादि और उन के भूख-प्यास आदि धर्म भी आत्मा में अध्यस्त होते हैं-मनमें प्राणादि का अध्यास निरुपाधिक और भूख-प्यास का अध्यास सोपाधिक होता है। श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय और 'वाक्' आदि कर्मेन्द्रिय तथा उनके बधिरत्वादि और मूकत्वादि धर्म भी आत्मा में अध्यस्त होते हैं। तथा देह और देहधर्म स्थूलत्वादि भी आत्मा में अध्यस्त होते हैं। इन्द्रिय और देह के अध्यास में अन्तर यह है कि इन्द्रियादि का आत्मा में तादात्म्याध्यास नहीं होता किन्तु संसर्गाध्यास होता है। इसीलिये 'अहं श्रोत्रम्' 'अहं चक्षुः' इत्यादि प्रतीति न होकर 'अहं सकर्णः, 'अहं चक्षुष्मान्' इत्यादि प्रतीति होती है। किन्तु देह का तादात्म्येन भी अध्यास होता है। इसीलिये 'मनुष्योऽहं' यह प्रतीति होती है।

ननु कथमज्ञानादीनामध्यस्ततया प्रतीतिः, न तावदध्यक्षा, इन्द्रियाऽजन्यत्वात्, नाप्यनुमितिः, लिङ्गाद्यननुसंधानेऽपि भावात् ? इति चेत् ? उच्यते, चिदात्मनोऽज्ञानोपहितस्य साक्षित्वेन तस्य भास्यसंसर्गमात्रमपेक्ष्याज्ञानादीनामाध्यासिकसंसर्गभासकत्वात् तदवभासः। तेन यावद् विषयसत्त्वं 'अहमज्ञः, सुखी, दुःखी, मनुष्यः' इति भासमानत्वाद् न कदापि संदेहः। स चापरोक्षैकस्वभावः, अध्यस्ताऽधिष्ठानयोरभेदेन संविदभिन्नत्वात्। संविदभेदो ह्यपरोक्षता नाम। स च नाऽनिर्वचनीय-तादात्म्यस्वरूपः, तादात्म्यसंसर्गादीनामपरोक्षत्वाभावप्रसङ्गात्, तत्र तादात्म्यान्तराभावात्, किन्तु-क्तलक्षण एवेति।

[अज्ञानादि की प्रतीति तदुपहित चैतन्यरूप साक्षि से]

इस संदर्भ में यह प्रश्न होता है कि- अज्ञानादि की आत्मा में जो अध्यस्तरूप में प्रतीति होती है वह किस रूप में सम्भव हो सकती है ? क्योंकि उसे इन्द्रिय से अजन्य होने के कारण प्रत्यक्षात्मक और लिङ्गादि का ज्ञान न होने पर भी उत्पन्न होने के कारण अनुमितिरूप, नहीं माना जा सकता। इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्तीओं का कहना है कि आत्मा में अज्ञानादि की प्रतीति अज्ञानोपहित चैतन्य रूप साक्षी से उत्पन्न होती है क्योंकि उसे अपने विषय की प्रतीति के जनन में अपने विषय के संसर्ग-मात्र की अपेक्षा होती है। अज्ञानादि का साक्षी में आध्यासिकसंसर्ग होता है अत एव उस संसर्ग का भासक होने से साक्षी अज्ञानादि का भी अवभासक होता है। साक्षी विषय की सत्ता जितने काल तक होती है उतने काल तक विषय का अवभासक होता है। इसलिये 'अहमज्ञः, सुखी, दुःखी, मनुष्यः' इस प्रकार का साक्षीजन्यप्रत्यक्ष अज्ञानादि विषयों के अस्तित्वकाल तक होने के कारण 'अहमज्ञो न वा' 'सुखी न वा' इस प्रकार का संदेह कदापि नहीं होता।

साक्षिभास्य अज्ञानादि समस्त पदार्थ स्वभावतः अपरोक्ष होता है क्योंकि अध्यस्त अज्ञानादि और अधिष्ठानभूत चैतन्य इन में अभेद होने से संविद् से अभिन्न होता है और यह अपरोक्षता ही संविद् का अभेद है। अज्ञानादि में संविद् का जो अभेद होता है वह अनिर्वचनीय तादात्म्यस्वरूप नहीं होता क्योंकि यदि वह अनिर्वचनीय होगा तो उस में अपरोक्षत्वाभाव प्रसक्त होगा। क्योंकि तादात्म्य में संविद् का अन्य तादात्म्य न होने से उस में संविद्अभेदरूप अपरोक्षता नहीं हो सकती। अतः संविद्

का अभेद अपरोक्षता रूप ही है। कहने का आशय यह है कि संविद् अपरोक्ष है और उस में अध्यस्त होने वाला पदार्थ भी अपरोक्ष है–यह अपरोक्षता ही संविद् का अभेद है।

नन्वेवं घटस्य संविदभिन्नत्वाऽभावात् परोक्षत्वमापद्यत इति चेत् ? किमीश्वरस्य, जीवस्य वा ? । नाद्यः, ब्रह्मण्यभेदेनाध्यस्तत्वाद् घटादीनाम् । नापि द्वितीयः, तथाहि–परिच्छिन्नजीवपक्षे तावदिन्द्रियद्वारा निःसृतान्तःकरणवृत्त्या संसृष्टो घटः घटसंसृष्टा वा वृत्तिः प्रमातृचैतन्यस्य घटावच्छिन्नब्रह्मचैतन्यावरणनिवृत्तौ तदज्ञाननिवृत्तौ वा तदुभयाभावपक्षेऽनिवृत्तौ वा विषयचैतन्याऽभेदेनाभिव्यक्तिहेतुः संपद्यते। ततः स्वाध्यस्तो घटः सुखवदपरोक्षः । सुखं साक्ष्यपरोक्षम्, घटः प्रमाणाऽपरोक्ष इत्येतावान् भेदः । अपरिच्छिन्नजीवपक्षेऽप्यसङ्गस्य जीवचैतन्यस्य घटोपरागार्था वृत्तिः । उपरागस्तु न संयोगादिः, मानाभावात्, किन्तु स्वाध्यस्तत्वमेव । तच्चात्र पक्षे व्यवहारसौकर्याय घटावच्छिन्नचैतन्येऽध्यावरणान्तराज्ञानान्तराऽस्वीकाराद् वृत्तेस्तन्निवृत्त्यर्थत्वाभावेऽपि जीवचैतन्यस्याऽसङ्गत्वात् घटानधिष्ठानत्वाच्च न वृत्तेः प्राग् घटसंबन्धः । अन्तःकरणवृत्तिस्तु जीवेऽध्यस्तेति तया सह संबन्ध एव, इतीन्द्रियद्वारा निःसृतान्तःकरणवृत्त्या संसृष्टे घटे घटसंसृष्टायां वा वृत्तौ जीवचैतन्यविषयाधिष्ठानचैतन्याऽभेदापत्त्येति ।

[ईश्वर और जीव के प्रति घटादि की अपरोक्षता का उपपादन]

उक्त प्रतिपादन के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है-यदि अपरोक्षता संविद्अभेदरूप है तो घट में संविद् का अभेद न होने से उस में परोक्षत्व की आपत्ति होगी। इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्ती का कहना है कि यह आपत्ति असंगत है, घटादि में ईश्वर के प्रति परोक्षत्व का आपादान नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म में घटादि पदार्थ तादात्म्येन अध्यस्त है, अत: घटादि में ब्रह्माऽभिन्न संविद् का तादात्म्य होने से अपरोक्षता निर्बाध है। इसी प्रकार जीव के प्रति भी घटादि के परोक्षता की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जीव के सम्बन्ध में दो मत हैं- एक यह है कि 'जीव परिच्छिन्न अर्थात अव्यापक होता है' और दूसरा मत यह है कि 'जीव अपरिच्छिन्न यानी व्यापक होता है।' इन मतों में प्रथम मत में घटादि में जीव के प्रति परोक्षत्व की आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि जीव को घट का प्रत्यक्ष होता है। वह इस प्रकार होता है कि घटादिविषय के साथ जब इन्द्रिय का संनिकर्ष होता है तो शरीर के भीतर जो घटादिविषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है वह इन्द्रियरूप मार्ग से बाहर निकल कर घटादि विषय से सम्बद्ध होती है। इस सम्बन्ध से प्रमातृचैतन्य के घटाद्यवच्छिन्नब्रह्मचैतन्यनिष्ठावरण की अथवा घटाद्यवच्छिन्नब्रह्मचैतन्यविषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है। यदि घटाद्यवच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यगत आवरण अथवा उक्त चैतन्यविषयक अज्ञान नहीं रहता तो आवरण या अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती किन्तु वृत्तिचैतन्य और प्रमातृ चैतन्य का विषयचैतन्य के साथ अभेद हो जाने से उक्त वृत्ति से घटादि विषय की प्रत्यक्षात्मक अभिव्यक्ति होती है। १. वृत्ति चैतन्यरूप प्रमाणचैतन्य, और २. अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यरूप प्रमातृचैतन्य, एवं ३. घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यरूप विषयचैतन्य,–ये तीनों यद्यपि उपाधि के भेद से भिन्न होते हैं, किन्तु विषयचैतन्य के आधारभूत देश में अन्तःकरण की वृत्ति और वृत्तिरूप से अन्तःकरण के पहुंचने पर तीनों उपाधि एकदेशस्थ हो जाती है, अत एव तीनों से अवच्छिन्न चैतन्य एक हो जाता है।

क्योंकि उपाधि अथवा अवच्छेदक में क्रमशः उपहित अथवा अवच्छिन्न की भेदकता तभी होती है जब विभिन्न देशस्थ होते हैं, किन्तु जब वे एकदेशस्थ होते हैं तब वे उपहित अथवा अवच्छिन्न के उसी प्रकार भेदक नहीं होते जैसे गृह के बाहर रखे हुये घट परस्परावच्छिन्न स्वकाल में परस्परोपहिताकाश के भेदक होने पर भी गृह में पहुँच जाने पर ये सब एक ही गृहाकाश के अवच्छेदक होते हैं। इस प्रकार उक्त रीति से परिच्छिन्न जीव को भी घटादि का प्रत्यक्ष होने से उस के प्रति घटादि के परोक्षत्व की आपत्ति नहीं हो सकती। अतः घटादि पदार्थ प्रमातृ चैतन्य में उक्तरीति से अध्यस्त हो जाने से उसी प्रकार अपरोक्ष होता है जैसे सुख-दुःखादि अपरोक्ष होते हैं। सुखादि और घटादि की अपरोक्षता में अन्तर केवल इतना ही है कि सुखादि साक्षी द्वारा अपरोक्ष होता है और घटादि प्रमाण द्वारा अपरोक्ष होता है।

[अपरिच्छिन्न जीव पक्ष में घटादि की अपरोक्षता]

जीव की अपरिच्छिन्नता अर्थात् व्यापकता पक्ष में भी घटादि में जीव के प्रति परोक्षत्व की आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इस पक्ष में भी जीव को घटादि का प्रत्यक्ष होता है-जैसे अपरिच्छिन्न जीव चैतन्य असङ्ग है। किन्तु जीव के अन्तःकरण की घटाद्याकारवृत्ति घट से सम्बद्ध होकर जीव चैतन्य का भी घटादि के साथ उपराग सम्बन्ध सम्पन्न करती है और वह सम्बन्ध उचित प्रमाण न होने से संयोगादिरूप न होकर स्वाध्यस्तत्वरूप होता है। अर्थात्, जब अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा जीव चैतन्य का घटादि के साथ सम्बन्ध होता है तब जीव चैतन्य और घटादि उपाधि एकत्र संनिहित होने से दोनों से उपहित चैतन्य में अभेद हो जाता है, अतः घटादि जैसे स्वावच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त होता है उसी प्रकार उस चैतन्य से अभिन्नता को प्राप्त जीवचैतन्य में भी अध्यस्त हो जाता है। इस प्रकार घटादि विषय जीवनिष्ठ हो जाने से जीव को उस का प्रत्यक्ष होता है। अतः घटादि में अपरिच्छिन्न जीव के प्रति परोक्षता का आपादन नहीं हो सकता।

[अन्तःकरणवृत्ति के साथ जीव सम्बन्ध का स्पष्टीकरण]

अभिप्राय यह है-इस पक्ष में व्यवहारसरलता के लिये घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य में जीवचैतन्य का आवरण अथवा अज्ञान नहीं माना जाता। अतः उन की निवृत्ति घटादिविषयाकारवृत्ति का प्रयोजन नहीं होता। किन्तु जीवचैतन्य असङ्ग है, अतः घटादि का अधिष्ठान न होने से घटाद्याकार वृत्ति होने के पूर्व घटादि के साथ जीव चैतन्य का सम्बन्ध नहीं होता किन्तु अन्तःकरण की वृत्ति जीवचैतन्य में ही अध्यस्त होती है अतः उस के साथ जीव का सम्बन्ध होता है। जब इन्द्रिय द्वारा निकल कर अन्तःकरण की वृत्ति घटादि को संसृष्ट होती है तब घट में अथवा घटाकार वृत्ति में जीव-चैतन्य और विषयचैतन्य में अभेद हो जाता है। क्योंकि घटरूप एक देश में स्वसम्बद्धवृत्तिसंसर्ग द्वारा जीवचैतन्य का और विषयचैतन्य का आध्यासिक सम्बन्ध से संनिधान हो जाता है, एवं वृत्ति में घट का सम्बन्ध होने से घटावच्छिन्न चैतन्य का और जीवचैतन्य का आध्यासिक सम्बन्ध होने से संनिधान हो जाता है अत एव घटात्मक अथवा वृत्तिआत्मक एक देश में विषयचैतन्य और जीव चैतन्य का अभेद उपपन्न होता है और इसी से घटादि पदार्थ जीव के प्रति अपरोक्ष होता है।

अथ ब्रह्माध्यस्तो घटः प्रमाणवृत्त्या जीवाध्यस्तो भवतीत्येवाभ्युपेयम्, किमुभयचैतन्याऽ-भेदापत्त्या? इति चेत्? न वृत्तेर्बहिर्निःसरणाभ्युपगमवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, तदनुपगमे च बहिःस्थस्य

घटस्य कथमन्तःकरणोपहिते जीवचैतन्येऽध्यासः ? 'घटाऽव्यवहिततया घटावच्छिन्नजीवचैतन्यस्याऽसङ्गस्याध्यासिकघटसंसर्गार्थं तदुपगम' इति चेत् ? तथा सति ब्रह्माध्यस्तघटसंसर्गो जीवचैतन्ये उत्पन्नः प्रामाणवृत्त्येति स एव जीवाऽपरोक्षः स्याद् न घटः । न हि देशान्तरीयरजततादात्म्योत्पत्तावपि रजतापरोक्षत्वं सिध्यति । लौहित्यस्य त्वपरोक्षदशायां संसर्गः स्फटिके जायते, गृह्यमाणारोपत्वादिति न संसर्गाऽपरोक्षत्वेन संसर्गिणोऽपरोक्षत्वम् । किञ्च, उत्पद्यमानः संसर्गोऽनिर्वचनीयः प्रातिभासिको न प्रमाणिकः संभवति, विरोधात् । तस्माद् न जीवचैतन्ये घटोपरागः प्रमाणवृत्त्या जायते, किन्त्वाध्यासिकसंबन्धेन, घटस्फोरकघटाधिष्ठानचैतन्येन जीवचैतन्यस्योक्तोपाधावभेदोऽभिव्यज्यते । इत्येवं स्वाध्यस्ततया घटाऽपरोक्षत्वम् ।

[जीवचैतन्य-विषयचैतन्य में अभेद अवश्यमंतव्य है]

उक्त निरूपण के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है कि-"ब्रह्माध्यस्त घट प्रमाणवृत्ति द्वारा जीव में अध्यस्त होता है-केवल इतना ही माना जाय, क्योंकि केवल इतने से ही घट में जीव की अपरोक्षता उपपन्न हो जाती है । अतः विषयचैतन्य और जीवचैतन्य में अभेद मानने की क्या आवश्यकता है ?"-इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्ती का कहना है कि यह प्रश्न निराधार है, क्योंकि यदि जीवचैतन्य और विषयचैतन्य की अभेदापत्ति न मानी जायगी तो अन्तःकरण की विषयाकार वृत्ति का शरीर से बाहर निःसरण मानना ही व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि उक्त अभेदापत्ति के अतिरिक्त उस का और कोई प्रयोजन नहीं है । दूसरी बात यह है कि यदि जीवचैतन्य और विषयचैतन्य में अभेदापत्ति को स्वीकार न किया जायगा तो बहिर्देशवृत्ति घट का अन्तःकरणोपहित जीवचैतन्य में अध्यास कैसे हो सकेगा ?

[वृत्तिबहिर्निर्गमन के अन्य प्रयोजन की आशंका]

यदि यह कहा जाय कि-'जीवचैतन्य और विषयचैतन्य की अभेदापत्ति न मानने पर भी वृत्ति के बहिर्निर्गमन की व्यर्थता नहीं होगी, क्योंकि वृत्ति द्वारा जीवचैतन्य से घट के अव्यवधान का सम्पादन होने पर घटावच्छिन्न जीवचैतन्य, जो निसर्गतः असंग है-उसका घट के साथ आध्यासिक संसर्ग का सम्पादन ही वृत्ति के बहिर्निर्गमन का प्रयोजन है ।"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म में घटसंसर्ग का अध्यास मानने पर भी कोई लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि इस अभ्युपगम में जीवचैतन्य में बहिर्निर्गत प्रमाणवृत्ति द्वारा घट का संसर्ग ही उत्पन्न होता है । अतः वही जीव को अपरोक्ष हो सकता है । किन्तु बहिर्देशवर्त्ती घट अपरोक्ष नहीं हो सकता ।-'जीव चैतन्य में घट का आध्यासिक संसर्ग हो जाने से घट भी जीवचैतन्य से सम्बद्ध हो जाता है अतः उस सम्बन्ध से ही घट भी जीव को अपरोक्ष हो सकता है-' यह नहीं माना जा सकता । क्योंकि पुरोवर्त्तिशुक्ति-अवच्छिन्न चैतन्य में देशान्तरस्थित रजत के तादात्म्य की उत्पत्ति मानने पर भी देशान्तरवर्त्ती रजत की अपरोक्षता नहीं सिद्ध होती । अत एव शुक्तिदेश में प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति मान कर उसी की अपरोक्षता मानी जाती है ।

[लौहित्य-अपरोक्षता की तरह घट-अपरोक्षता की उपपत्ति की आशंका]

यदि यह कहा जाय कि- "स्फटिक में जपाकुसुम का अध्यास न होने पर भी जैसे जपाकुसुम के लौहित्य का संसर्गाध्यास होने से स्फटिक में लौहित्य का अध्यास न होने पर भी लौहित्य के संसर्गमात्र का अध्यास होने से लौहित्य की अपरोक्षता होती है उसी प्रकार जीवचैतन्य में घट का अध्यास न होने पर भी घटसंसर्ग के अध्यास से ही घट की अपरोक्षता हो सकती है।"-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जपाकुसुम संनिहित स्फटिक स्थल में लौहित्य अपरोक्ष रहता है। अतः स्फटिक में उस का अध्यास न होने पर भी उस के संसर्गाध्यास मात्र से उस की अपरोक्षता हो सकती है। किन्तु जो वस्तु अपरोक्ष रहेगी उस के संसर्ग के अध्यास मात्र से उस की अपरोक्षता नहीं हो सकती। अतः स्फटिक में लौहित्य का आरोप यह गृह्यमाणविषयक आरोप होने से और जीवचैतन्य में घटाध्यास के अभाव में घटप्रत्यक्ष अगृह्यमाणआरोपात्मक होने से दोनों में अन्तर है। अतः स्फटिक में लौहित्य के अपरोक्ष-ज्ञान के दृष्टान्त से बहिर्देशवर्तीघट का जीवचैतन्य में अध्यास हुये विना उस के अपरोक्षत्व का उपपादन नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि- यदि जीवचैतन्य में घट के अनिर्वचनीय प्रातिभासिक संसर्ग की उत्पत्ति होगी तो वह संसर्ग प्रामाणिक नहीं हो सकेगा क्योंकि प्रातिभासिकत्व और प्रामाणिकत्व का विरोध है। जब वह संसर्ग प्रमाणिक नहीं है, तब उस के द्वारा घट अपरोक्ष होने की आशा दुराशामात्र है।

अतः युक्तिसंगत बात यह है कि जीवचैतन्य में घट का सम्बन्ध प्रमाणवृत्ति द्वारा नहीं होता किन्तु आध्यासिकसम्बन्ध द्वारा होता है। और उसी से घटोपलम्भक घटाधिष्ठान चैतन्य के साथ जीव-चैतन्य का उक्त उपाधि 'वृत्तिसंसृष्टघट' अथवा 'घटसंसृष्टवृत्ति' में जीवचैतन्य का अभेद अभिव्यक्त होता है। यह अभेदापत्ति ही वृत्ति के बहिर्निर्गम का प्रयोजन है। अतः उक्तरीति से जीवचैतन्य में अध्यस्त होने से घट जीव के प्रति अपरोक्ष होता है।

अथवा, आवरणाभिभवार्था वृत्तिः, सर्वगतेऽपि जीवचैतन्येऽखण्डावरणस्य स्वविषयचैतन्य-गोचरप्रमात्रादिविस्पष्टव्यवहारप्रतिबन्धकेऽन्तःकरणाद्युपाधेरुत्तेजकस्थानीयत्वेन तत्प्रतिबध्यकार्योदयात्। किमर्थमस्मिन् पक्ष उभयचैतन्याऽभेदाभिव्यक्तिः? 'प्रमातृचैतन्यमेव विषये परिणामसंसृष्टेऽभिव्यक्तं फलं भवद् घटं विषयीकुरुतामि'ति चेत्? अज्ञाध्यस्तस्य तस्य संविदभेदरूपापरोक्षत्वायैव, तदेवं घटादेरपरोक्षता। वह्न्यादेस्तु प्रमातृचैतन्यनिष्ठाज्ञानमात्रनिवृत्तावप्युभयचैतन्याभेदाभिव्यक्त्यभावात्, वृत्तेश्चान्तरेवोत्पादात् परोक्षता। रजतादेश्च शुक्त्याद्यज्ञानसमुत्पन्नस्याऽनिर्वचनीयस्येदंवृत्त्या इदमंशस्य घटादिन्यायेनाऽपरोक्षत्वात्, प्रमातृचैतन्याऽभिन्नेदमंशचैतन्येऽध्यस्तत्वात् सुखादिवदपरोक्षत्वम्। इदमंशतादात्म्येनोत्पन्नत्वाच्च 'इदं रजतम्' इति प्रत्ययः। 'सत्' इति च तत्र शुक्तिसत्त्वैव भासते। न चान्यथाख्यातिः, तत्संसर्गस्याऽनिर्वचनीयत्वात्। न चैवं प्रमानुमित्यादौ वह्नेरिव देशान्तरीयरजतस्य संसर्गोत्पत्त्यैव निर्वाहः, वह्नेरिव रजतस्य परोक्षत्वापत्तेः। शुक्ति-रजतयोस्त्वपरोक्षत्वं प्रमाणवृत्त्यैव, इदमंशवत्!

[वृत्ति का प्रयोजन आवरणाभिभव-मतान्तर]

वेदान्त दर्शन का वृत्ति के सम्बन्ध में एक दूसरा प्रसिद्ध मत यह है कि वृत्ति का प्रयोजन है आवरण का अभिभव। उनका आशय यह है कि अविद्योपहितचैतन्यस्वरूप जीव यद्यपि सर्वगत है फिर भी उसे सदा सब विषयों का अनुभव नहीं होता। इसका कारण यह है कि जितने भी विषय है, प्रत्येक तत्तद्विषय से अवच्छिन्न चैतन्य के उपर ब्रह्मविषयक अज्ञान का अखण्डावरण पड़ा हुआ है। वही विषयों के अनुभव और व्यवहार का प्रतिबन्धक होता है। अन्तःकरण की विषयाकार वृत्ति अनुभव और व्यवहार में उत्तेजक है। फलित यह हुआ कि अन्तःकरणवृत्तिविरहविशिष्ट आवरण अपने विषय के अनुभव और व्यवहार का प्रतिबन्धक है। जब विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रिय मार्ग से विषयदेश में जाती है तब वृत्त्यवच्छिन्न और विषयावच्छिन्न चैतन्य एक हो जाने से विषयावच्छिन्न चैतन्यगतावरण अन्तःकरणवृत्ति से विशिष्ट हो जाता है। अतः अन्तःकरणवृत्ति-विरहविशिष्ट आवरणरूप प्रतिबन्धक का अभाव हो जाने पर आवरण से प्रतिबध्य विषयानुभव और विषयव्यवहार रूप कार्य की उत्पत्ति होती है।

[अभेदापत्ति पर पुनः आक्षेप-समाधान]

इस मत में यह प्रश्न होता है कि-"विषयावच्छिन्न चैतन्यगतआवरण विषयानुभवादि में प्रतिबन्धक होने पर अन्तःकरण की वृत्ति उत्तेजक होती है। अतः अन्तःकरणवृत्ति तथा तदात्मना अन्तःकरण का बहिर्निगम मानना आवश्यक है। किन्तु विषय चैतन्य और प्रमातृचैतन्य में अभेदाभि-व्यक्ति मानने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि अन्तःकरणवृत्ति से संश्लिष्ट घटादि विषय में अथवा विषयसंसृष्टान्तःकरणवृत्ति में प्रमातृचैतन्य ही प्रतिबिम्बित होकर ❀ फल के रूप में घटादि का प्रकाशक हो सकता है।" इस प्रश्न का उत्तर यह है कि केवल संविद् ही वास्तव में अपरोक्ष होता है-प्रमातृ-चैतन्य भी साक्षी से सदा सम्बद्ध होने के कारण अपरोक्ष होता है। अतः संविद् व प्रमातृचैतन्य का अभेद ही अपरोक्षत्व है। घटादि विषय में इस अपरोक्षत्व की उपपत्ति संविद्रूप ब्रह्म में घटादि के अध्यस्त होने पर ही हो सकती है। और स्वावच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त घटादि ब्रह्माध्यस्त प्रमातृ-चैतन्याध्यस्त तभी बन सकता है जब घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य और प्रमातृचैतन्य में अभेद हो। अतः वृत्ति-निर्गम के फलरूप में प्रमातृचैतन्य और विषयचैतन्य की अभेदापत्ति मानना आवश्यक है। अतः उक्तरीति से घटादि की अपरोक्षता होती है।

❀ वेदान्त दर्शन में घटपटादि विषयों का ग्रहण दो साधनों से होता है-(१) घटाद्याकार अन्तःकरण की वृत्ति और (२) उस वृत्ति में प्रतिबिम्बित प्रमातृचैतन्य अथवा विषयचैतन्य। इस प्रतिबिम्बित चैतन्य की वेदान्तदर्शन में 'फल' यह पारिभाषिकी संज्ञा है।

इन दोनों साधनों में वृत्ति द्वारा घटादि के आवरण का भङ्ग होता है और वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य के द्वारा घटादि का स्फुरण होता है। इस की आवश्यकता इसलिये होती है कि घटादि प्रकाशानात्मक होने से केवल आवरण के दूर होने से प्रकाशित नहीं हो सकता। अतः उसके प्रकाश के लिये वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप प्रकाश की अपेक्षा होती है।

[अनुमिति में अग्नि की परोक्षता का उपपादन]

धूमादि दर्शन से पर्वत में अनुमीयमान वह्नि आदि परोक्ष ही होता है क्योंकि लिंगजन्य अनुमिति रूप अन्तःकरणवृत्ति शरीर के भीतर ही होती है। उस का बहिर्देश में गमन नहीं होता। उस से प्रमातृचैतन्यगत अप्रत्यक्ष वह्नि आदि के ※ असत्त्वापादक अज्ञानमात्र की ही निवृत्ति होती है, प्रमातृचैतन्य और विषयचैतन्य में अभेदाभिव्यक्ति नहीं होती।

शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य के अज्ञान से जो शुक्ति–रजत आदि उत्पन्न होता है और अनिर्वचनीय होता है वह प्रमातृचैतन्याभिन्न इदमवच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त होने से प्रमातृचैतन्य में भी अध्यस्त हो जाता है। अत एव प्रमातृचैतन्य में अध्यस्त सुखादि के समान साक्षी द्वारा अपरोक्ष होता है।

[भ्रमस्थल में 'इदं' अंश की अपरोक्षता]

आशय यह है कि इदमंश की अपरोक्षता के लिये इदमाकार वृत्ति का इदं देश में गमन होता है। तब वृत्त्यात्मना प्रमातृचैतन्य का भी गमन होता है। अतः प्रमातृचैतन्य और इदमवच्छिन्नचैतन्य की अवच्छेदक उपाधियाँ एकदेशस्थ हो जाने से दोनों चैतन्य में अभेद हो जाता है। जिस के कारण इदमवच्छिन्नचैतन्य में अध्यस्त इदमंश अपरोक्षभूत प्रमातृचैतन्य में अध्यस्त होने के कारण घटादि के समान अपरोक्ष होता है। फलतः, जब इदमवच्छिन्नचैतन्य प्रमातृचैतन्य से अभिन्न हो जाता है तो इदमवच्छिन्नचैतन्य में अध्यस्त शुक्तिरजत भी प्रमातृचैतन्य में अध्यस्त हो जाता है। अतः जिस प्रकार प्रमातृचैतन्य में अध्यस्त सुखादि का जीवसाक्षी से साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण वह प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार रजत के साथ भी साक्षी का साक्षात् सम्बन्ध हो जाने से उसका भी साक्षीजन्य अपरोक्षानुभव होता है। यह शंका की जाय कि रजत इदमवच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त होता है अतः 'अत्र रजतम्' प्रतीति होनी चाहिये किन्तु 'इदं रजतम्' नहीं होनी चाहिये तो इस का उत्तर यह है कि इदं में रजत तादात्म्यातिरिक्त सम्बन्ध से अध्यस्त न होकर तादात्म्यसम्बन्ध से ही अध्यस्त होता है, अतः 'अत्र रजतम्' यह प्रतीति न होकर 'इदं रजतम्' यह प्रतीति होती है।

※ अज्ञान अथवा अज्ञानगतावरण के दो भेद होते हैं–१. असत्त्वापादक और २. अभानापादक। असत्त्वापादक अज्ञान अथवा अज्ञानावरण प्रमातृचैतन्य में रहता है और अभानापादक विषयचैतन्य में रहता है। अतः असत्त्वापादक की निवृत्ति शरीर के भीतर उत्पन्न अन्तःकरण की विषयाकारवृत्ति से होती है किन्तु विषयचैतन्यगत अभानापादक आवरण को निवृत्त करने के लिये वृत्ति का विषय देश में गमन आवश्यक होता है। अनुमानादि स्थल में अनुमीयमान वह्नि आदि के देश में अनुमित्यात्मक अन्तःकरण की वृत्ति मार्ग न होने से बाहिर नहीं जा सकती। किन्तु प्रत्यक्षस्थल में विषयदेश में इन्द्रिय का गमन होता है, अतः इन्द्रिय रूप मार्ग से अन्तःकरणवृत्ति का बाहर निर्गम हो सकता है। जहां प्रत्यक्ष गृह्यमाण पक्ष में साध्य की अनुमिति होती है वहाँ वह्नि के आश्रयभूत पक्षात्मक देश के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने से वहाँ अनुमित्यात्मक वृत्ति के होने पर भी पक्षाकार वृत्ति का ही निर्गम होता है किन्तु साध्याकारवृत्ति का निर्गम नहीं होता। क्योंकि तत्तदिन्द्रिय मात्र तत्तदिन्द्रियजन्य अन्तःकरणवृत्ति का ही मार्ग होती है। साध्याकारवृत्ति लिङ्गजन्य होती है–इन्द्रियजन्य नहीं होती अतः इन्द्रियमार्ग से उस का बहिर्गमन नहीं होता।

शुक्ति-रजत में 'इदं रजतं सत्' प्रतीति होती है, उस में रजतांश में शुक्तिसत्ता का ही भान होता है-क्योंकि वह रजत प्रातिभासिक होने से उस की अपनी सत्ता नहीं होती। उस में शुक्तिसत्ता का भान मानने पर अन्यथाख्याति का अनिष्ट प्रसंग होने का संभव भी नहीं है क्योंकि उस का संसर्ग अनिर्वचनीय है और कोई भी ज्ञान अन्यथाख्याति तब होता है जब उस में भासित होनेवाला धर्म और उस का संसर्ग दोनों अनिर्वचनीय नहीं होते।

[अनिर्वचनीय रजतसंसर्ग की उत्पत्ति पर आक्षेप-समाधान]

यदि यह कहा जाय कि-"जैसे ह्रदादि में अग्नि की भ्रमानुमितिस्थल में ह्रदादि में पाकशाला प्रसिद्ध अग्नि के अनिर्वचनीय सम्बन्ध मात्र की उत्पत्ति मानने से उक्त भ्रमात्मक अनुमिति अन्यथाख्यातिरूप न होकर अनिर्वचनीयख्यातिरूप होती है उसी प्रकार 'इदं रजतम्' इस अपरोक्षभ्रमस्थल में पुरोवर्तिशुक्ति के साथ आपणादि देशान्तर में प्रसिद्ध रजत के (अनिर्वचनीय) संसर्गमात्र की उत्पत्ति मानने से ही उक्तभ्रम में अन्यथाख्यातिरूपता का निराकरण होकर अनिर्वचनीयख्यातिरूपता सिद्ध हो सकती है। अतः शुक्तिदेश में आपणस्थ रजत के अनिर्वचनीय संसर्गोत्पत्ति न मानकर अनिर्वचनीय-रजत की उत्पत्ति मानने का कोई प्रयोजन नहीं है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि शुक्तिदेश में रजत की उत्पत्ति न मानने पर अनुमीयमान अग्नि के समान रजत भी परोक्ष हो जायगा शुक्ति-रजतस्थल में शुक्ति और सत्ता की अपरोक्षता इदमंश के समान प्रमाणजन्यवृत्ति से ही होती है।

अन्ये तु, तत्रापि वह्न्यंशे शुक्तिसत्तांशे चान्यथाख्यातिर्मा भूदिति वह्न्युत्पत्तिं रजते सत्तान्तरोत्पत्तिं चाऽऽचक्षते। तदुक्तम्-"अथवा त्रिविधं सत्त्वम्" इति।

[ह्रद में अनिर्वचनीय अग्नि की उत्पत्ति का प्रतिपादक मतान्तर]

अन्य विद्वानों का यह कहना है कि-ह्रदादि में वह्नि की भ्रमात्मकानुमिति वह्नि अंश में और 'इदं रजतं सत्' यह भ्रमात्मक प्रतीति शुक्ति-सत्ता अंश में अन्यथाख्याति न हो इसलिये ह्रदादि में अनिर्वचनीय वह्नि की और रजत में अनिर्वचनीय सत्ता की उत्पत्ति होती है। इस कथन के समर्थन में अभियुक्त वेदान्ती के 'अथवा त्रिविधं सत्त्वम्' इस चिरन्तन वचन का उद्धरण देते हैं। जिस का आशय यह है कि सत्ता तीन प्रकार की होती है। १. पारमार्थिक २. व्यावहारिक ३. प्रातिभासिक। पारमार्थिक सत्ता केवल ब्रह्म की है। व्यावहारिक सत्ता अज्ञान और अज्ञान से ब्रह्म में अध्यस्त होने वाले आकाशादि पदार्थों की होती है। प्रातिभासिक सत्ता भ्रमविषयीभूत शुक्ति-रजतादि की होती है। अतः शुक्तिरजत में होने वाली सत्प्रतीति शुक्ति रजत की ही प्रातिभासिक सत्ता को विषय करती है।

नन्वेवं सुखादिवदपरोक्षत्वे रजताकारा वृत्तिर्न स्यात्, तत्र हीदमंशावच्छिन्नब्रह्मचैतन्याभिन्ने प्रमातृचैतन्ये 'रजतम्' इति तत्प्रमातृचैतन्यमिदमाकारवृत्तिप्रतिफलिततयेदमंशे प्रमाणमपि, तत्रैव विषयेऽभिव्यक्ततया फलमपि रजतांशे शुद्धसाक्षिरूपं, न तु प्रमाणं वा फलं वा प्रमाता वा, तदाकारप्रमाणवृत्त्यभावादेव, इति रजतवृत्तेः क्वोपयोगः ? इति चेत् ?

[रजताकार वृत्ति अनावश्यक होने का आक्षेप]

रजत को उक्त रीति से इदमंशावच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न प्रमातृचैतन्य में अध्यस्त होने के कारण सुखादि के समान अपरोक्ष मानने पर यह शंका होती है कि-जैसे सुखादि की अपरोक्षता के लिये सुखाद्याकारवृत्ति आवश्यक नहीं होती उसी प्रकार रजत की अपरोक्षता के लिये भी रजताकारवृत्ति अनावश्यक होने से उसका स्वीकार नहीं करना चाहिये । क्योंकि शुक्ति-रजतस्थल में प्रमातृचैतन्य इदमंशावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य से अभिन्न होने पर, 'रजतम्' इत्याकारक बोधात्मक प्रमातृचैतन्य इदमाकारवृत्ति में प्रतिफलित होने से इदमंश में प्रमाण होता है और उसी विषय में अभिव्यक्त होने से फल भी होता है । रजतांश में वह शुद्ध साक्षीस्वरूप ही होता है, उस अंश में प्रमाणरूप, फलरूप अथवा प्रमातारूप नहीं होता । क्योंकि रजताकार प्रमाणजन्यवृत्ति नहीं होती । अतः उस स्थल में जो रजताकार अविद्या की वृत्ति मानी जाती है, उस का कोई उपयोग नहीं है ।

अत्र केचित्-साक्षिचैतन्यं स्वतः स्फुरदप्यसङ्गतया तत्तद्विषयावभासनायासमर्थं ज्ञानसंशब्दितवृत्तिप्रतिबिम्बितमेव विषयावभासकं भवति, इत्यज्ञान-सुखादीनामपि तदाकाराऽविद्यावृत्तिप्रतिफलितचिद्भास्यत्वमेव, केवलसाक्षिवेद्यत्वं तु प्रमाणवृत्त्यनपेक्षत्वात्, इत्यावश्यकी रजतवृत्तिः । अन्यथा सदा विषयविशिष्टाज्ञानावभासप्रसङ्गः, साक्षिणि साक्षादध्यस्तत्वात्, केवलाज्ञानास्फुरणाच्च । उक्तरीत्या तु नायं दोषः, वृत्तेरसदातनत्वात्, अत एवेश्वरस्यापि सर्वज्ञता सर्वाकारमायावृत्त्यैव । 'इयं च वृत्तिरन्तःकरणपरिणाम एव, अत एव स्वप्नस्य मनोवृत्तित्वम्' इति केचित् । अन्ये तु-'सुषुप्तावन्तःकरणाभावादज्ञानसुखाद्याकाराविद्यावृत्तेरावश्यकत्वे तथैव साक्षिवेद्यत्वोपपत्तौ न तथा' इत्याहुः ।

अपरे पुनः-'वृत्तौ तादृशसामर्थ्ये मानाभावाद् वृत्तिभानप्रयोजकाध्यासिकसंबन्धस्यैवाज्ञानादिभानप्रयोजकत्वे तत्कल्पनानवकाशाद् नाज्ञानाद्याकारा वृत्तिर्मानार्था । अज्ञानविशेषणतया सदा घटादिसर्वविषयभानं दिष्टमेव, मनुष्यत्वाद्यभिमानवत् । अत एव स्वसत्तायामव्यभिचारिप्रकाशत्वमहंकारादीनामुक्तं ग्रन्थकारैः ।

[रजताकारवृत्ति की आवश्यकता का समर्थन]

इस शंका के समाधान में कुछ विद्वानों का यह कहना है कि साक्षिचैतन्य यद्यपि स्वप्रकाश है तथापि असङ्ग होने से विभिन्नविषयों के अवभासन में असमर्थ होता है । अतः ज्ञान शब्द से व्यवहृत वृत्ति में प्रतिबिम्बित होकर ही साक्षिचैतन्य विषय का अवभासक होता है । अतः अज्ञानसुखादि पदार्थ भी तत्तदाकार अविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य से ही अवभास्य होते हैं । उन में केवल साक्षिवेद्यत्व का व्यवहार उन के भान में प्रमाणजन्यवृत्ति की अपेक्षा न होने से ही होता है । अतः शुक्तिरजतादि के साक्षिप्रयुक्त भान के लिये भी अविद्या की रजताकार वृत्ति आवश्यक है । यदि साक्षि को वृत्तिनिरपेक्ष होकर अज्ञान का भासक माना जायगा तो विषयविशिष्ट अज्ञान के सर्वदा अवभास होने की प्रसक्ति होगी । क्योंकि अज्ञान साक्षि में साक्षात् अध्यस्त होता है और विषय से अविशेषित अज्ञान का स्फुरण नहीं होता । किन्तु अविद्या वृत्तिसापेक्ष साक्षिभास्य मानने पर यह दोष नहीं हो सकता क्योंकि

वृत्ति सर्वदा नहीं होती । साक्षिभास्य पदार्थों के भान में वृत्ति की अपेक्षा होने के कारण ही ईश्वर भी माया की सर्वाकार वृत्ति से ही सर्वज्ञ होता है ।

कुछ अपर विद्वानों का यह मत है कि अज्ञान-सुखादि को और शुक्ति-रजतादि को विषय करने वाली वृत्ति भी अविद्या का परिणाम न होकर अन्तःकरण का ही परिणाम होती है । इसीलिये स्वप्नज्ञान मन में आश्रित होता है । अज्ञान का परिणाम होने पर उस का मन में आश्रित होना सम्भव नहीं हो सकता ।

अन्य विद्वानों का यह मत है कि सुषुप्ति में अन्तःकरण का सूक्ष्मावस्थापत्तिरूप लय हो जाने के कारण उस की वृत्ति नहीं हो सकती । अतः उस समय अविद्या की ही अज्ञानसुखाद्याकारवृत्ति मानना आवश्यक है । अतः अविद्या की वृत्ति से ही सर्वदा साक्षिवेद्यत्व की उपपत्ति हो सकती है । अतः भिन्न समय में भी अन्तःकरण की अज्ञानसुखाद्याकार वृत्ति मानना निष्प्रयोजन है ।

[अज्ञानादि के भाव के लिये वृत्ति अनावश्यक–मतान्तर]

कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि वृत्ति में वृत्तिभान का सामर्थ्य मानने में कोई प्रमाण नहीं है । अतः चैतन्य में वृत्ति का आध्यासिक सम्बन्ध ही वृत्तिभान का प्रयोजक होता है । अतः जैसे चैतन्य में वृत्ति का आध्यासिक सम्बन्ध वृत्तिभान का प्रयोजक होता है उसी प्रकार चैतन्य में अज्ञानादि का आध्यासिक सम्बन्ध अज्ञानादि के भान का भी प्रयोजक हो सकता है । अतः वृत्ति–कल्पना के लिये कोई अवकाश न होने से अज्ञानादि के भान के लिये अविद्या अथवा अन्तःकरण किसी की भी अज्ञानाद्याकारवृत्ति मानना अनावश्यक है । अज्ञानादि का वृत्तिनिरपेक्ष भान मानने पर अज्ञान के विशेषणरूप में घटादि सभी विषयों के भान की जो सर्वदा आपत्ति बतायी गई वह इष्ट ही है । आशय यह है कि प्रमाणजन्य किसी भी विषय का ज्ञान रहने पर अज्ञान में सर्वविषयकत्व का अभाव होने से उस समय सर्वविषयक अज्ञान भान की आपत्ति नहीं हो सकती तथा जब प्रमाण–जन्य ज्ञान का अभाव होता है–अर्थात् जिस काल में किसी भी विषय का प्रमाणजन्य ज्ञान नहीं होता ऐसे सभी काल में सर्वविषयक अज्ञान का अनुभव होता ही है, जैसे सो कर उठने पर होने वाले 'सुखमहम् अस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इस स्मरण से सुषुप्ति में सर्वविषयक अज्ञान का भान सिद्ध होता है । क्योंकि उस समय प्रमाणजन्य ज्ञान का सर्वथा अभाव होता है । इस प्रकार प्रतिबन्धकशून्य सम्पूर्णकाल में सर्वविषयक अज्ञान का भान मनुष्यत्वादि के अभिमान के समान सम्भव है । अभिप्राय यह है कि जैसे मनुष्य को 'नाहं मनुष्यः' इस प्रकार का विरोधी ज्ञान कभी न होने से 'अहं मनुष्यः' यह ज्ञान सर्वदा होता है इसी प्रकार सर्वविषयविशिष्टाज्ञानानुभव के प्रतिबन्धकाभावकाल में सदा उक्तरूप में अज्ञान का अनुभव होता ही है ।

[विषयविशेषज्ञानदशा में समस्त विषयविशेषित अज्ञान का भान स्वीकार्य]

यदि यह शंका की जाय कि–'किसी विषय विशेष के प्रमाणजन्यज्ञानदशा में अन्य सभी विषयों से विशिष्ट अज्ञान का भान क्यों नहीं होता ?'–तो इस का समाधान यह है कि किसी एक विषयविशेष के प्रमाणजन्यज्ञानदशा में अन्य सभी विषयों से विशेषित अज्ञान का भान होता ही है । क्योंकि अज्ञानादि के वृत्तिनिरपेक्ष साक्षिवेद्यता पक्ष में अज्ञानादि का भान अज्ञानादि सम्बद्ध साक्षि–

चैतन्यरूप ही है। अतः उस का अस्वीकार दुर्घट है। यदि किसी विषयविशेष को ज्ञान दशा में मैं 'अमुक विषय को जानता हूं'; इस के साथ 'अमुक विषय से अन्य सभी विषयों को नहीं जानता' इस प्रकार के व्यवहार की आपत्ति दी जाय तो वह युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि व्यवहार विवक्षाधीन होता है, अतः उस प्रकार की विवक्षा न होने से उस प्रकार के व्यवहार की आपत्ति नहीं हो सकती। तथा जब कभी किसी को उस प्रकार की विवक्षा होती है तब उस समय वह उस प्रकार का व्यवहार करता ही है।

साक्षिभास्य पदार्थों का भान वृत्तिनिरपेक्ष साक्षिचैतन्य से ही होता है। इस कारण से ही ग्रंथकारों ने अहंकारादि साक्षिभास्यपदार्थों की सत्ता को उन के प्रकाश का अव्यभिचारी बताया है। अर्थात् यह कहा है कि साक्षिभास्यपदार्थ अपने पूरे समय तक प्रकाशमान ही होते हैं। अप्रकाशित होकर उन की एकक्षण भी सत्ता नहीं होती। किन्तु यदि उनके प्रकाश में वृत्ति की अपेक्षा मानी जायगी तो ग्रन्थकारों का उक्त कथन उपपन्न न हो सकेगा, क्योंकि साक्षिपदार्थों की पूरी अवधि में उनकी वृत्ति होने में कोई प्रमाण नहीं है।

रजतवृत्तिस्त्वावश्यकी। तथाहि--घटस्याऽपरोक्षत्वं न सुखादिवदन्तरवच्छेदेन, किन्तु बहिरवच्छेदेन। न हि बहिर्निःसृता वृत्तिर्घटं शरीरावच्छेदेन स्वाध्यस्तं संपादयति, बहिःष्ठत्वात् तस्य, किन्तु घटावच्छिन्नब्रह्मचैतन्यप्रमातृचैतन्याभेदमभिव्यनक्ति। घटावच्छिन्नब्रह्मचैतन्यं च घटावच्छेदेनैव घटमपरोक्षीकरोति, नान्यावच्छेदेन, अन्यावच्छिन्नस्यान्यविषयीकरणे यत्कि-ञ्चिदेकावच्छिन्नस्य सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। तदेतदुभयचैतन्याभेदाभिव्यक्तिर्घटावच्छेदेन, न शरीराव-च्छेदेन। अत एव विषयावच्छिन्नस्यैव फलत्वप्रवादः। ततः शरीरावच्छेदेन घटस्फुरणं वृत्तिविषयतयैव। द्वेधा हि तत् एकं ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिविषयतया, अपरं च फल-व्याप्यतया। आद्यं शरीरावच्छेदेन, द्वितीयं च घटावच्छेदेनेति।

[शुक्तिरजत स्थल में वृत्ति आवश्यक है]

किन्तु शुक्तिरजतादि के भान के लिये शुक्तिरजतादि की वृत्ति मानना आवश्यक है। क्योंकि शुक्तिरजतादि का भान जैसे शुक्ति के इदमंश में होता है वैसे ही शरीर में भी होता है अतः उस भान के लिये रजताद्याकारवृत्ति को मानना आवश्यक है। आशय यह है कि बाह्य घटादिविषयों की अपरोक्षता सुखादि के समान केवल शरीर के भीतर ही नहीं होती किन्तु शरीर के बाहर होती है क्योंकि शरीर के बाहर निकल कर घटदेश में पहुंची हुयी घटाकारान्तःकरणवृत्ति घट को शरीराव-च्छेदेन प्रमातृचैतन्य में अध्यस्त नहीं बनाती, क्योंकि घट बहिर्देशवर्त्ती होता है, किन्तु घटावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य और प्रमातृचैतन्य का अभेद व्यक्त करती है। एवं घटावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य घटदेश में ही घट को अपरोक्ष बनाता है, अन्य देश में अपरोक्ष नहीं बनाता, क्योंकि अन्यावच्छिन्न प्रमातृचैतन्य यदि अन्य को विषय करेगा तो यत् किञ्चित् एक विषय में अवच्छिन्न प्रमातृचैतन्य में सर्वज्ञत्व की आपत्ति होगी। आशय यह है कि जब घटाकारान्तःकरण की वृत्ति चक्षुद्वारा घट देश में जाती है तो उस के साथ उसी रूप में अन्तःकरण भी होता है। अन्तःकरण और उस की वृत्ति एवं घट के एकदेशस्थ

होने से उन तीनों से अवच्छिन्नचैतन्य का अभेद हो जाता है और यह अभेद घटावच्छेदेन अर्थात् घटदेशावच्छेदेन होता है। क्योंकि घटदेश में ही तीनों उपाधियाँ एकत्र होने से तीनों चैतन्य एकत्र होते हैं। इस प्रकार प्रमातृचैतन्य घटदेश में घट से अवच्छिन्न हो जाता है, किन्तु अपने मूलदेश शरीर में घट से अवच्छिन्न नहीं होता, क्योंकि घट शरीर में नहीं रहता। अतः घटदेश में ही वह घटावच्छिन्न होता है अत एव उस देश में ही वह वृत्तिप्रतिबिम्बित विषयचैतन्य द्वारा घट के अपरोक्षभान का आश्रय बनता है। यदि घटदेश में घट से अवच्छिन्न बना हुआ प्रमातृचैतन्य शरीरदेश में भी, जहाँ वह घट से अवच्छिन्न नहीं है, घट के अपरोक्षज्ञान का आश्रय होगा, तो इस का अर्थ यह हुआ कि प्रमातृचैतन्य जिस देश में जिस विषय से अवच्छिन्न नहीं होता उस देश में भी उस विषय के अपरोक्षज्ञान का आश्रय होता है। इसका फल यह होगा कि, जैसे प्रमातृचैतन्य शरीर देश में वृत्तिसंसृष्ट घट से अवच्छिन्न न होने पर भी घट के अपरोक्ष ज्ञान का आश्रय होता है उसी प्रकार वह वृत्ति से असंसृष्ट अन्य समस्त विषयों से भी शरीर देश में अनवच्छिन्न है। अतः शरीर देश में वह अन्य समस्त विषयों के भी अपरोक्षज्ञान का आश्रय हो जायगा इस प्रकार प्रमाता का वृत्ति द्वारा किसी एक विषय के साथ सम्पर्क होने पर और वृत्ति में उस सम्पृक्तविषय के प्रतिबिम्बित होने पर प्रमाता में सर्वज्ञत्व की आपत्ति होगी।

अतः प्रमातृचैतन्य और विषयचैतन्य इन दोनों की अभेदाभिव्यक्ति घटदेश में ही होती है, शरीर देश में नहीं होती, अत एव वृत्तिप्रतिबिम्बित विषयावच्छिन्न चैतन्य को ही फल कहा जाता है। क्योंकि वृत्ति के विषयदेश में अवस्थान के समय प्रमातृचैतन्य विषयचैतन्यात्मक होता है और विषयदेश में ही वृत्ति में प्रतिबिम्बित होता है, अपने मूलदेश शरीर में प्रतिबिम्बित नहीं होता है। उक्त रीति से घटदेश में घट का अपरोक्ष भान होने के बाद शरीरदेश में घट का स्फुरण 'घटमहं जानामि' इस रूप में घटाकार वृत्ति के विषयरूप में ही होता है।

यह विषय संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि घटस्फुरण दो प्रकार से होता है– (१) ज्ञान अथवा अज्ञान के विशेषणरूप में साक्षि द्वारा और (२) विषयदेशावच्छेदेन विषयाकारवृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप फल द्वारा। प्रथम स्फुरण शरीरदेश में होता है और उस का प्रयोजक जीव साक्षि शरीरदेश में रहता है और दूसरा घटदेश में होता है क्योंकि उसका प्रयोजक विषयदेशावच्छेदेन वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य विषयदेश में होता है।

"कथं तर्हि 'घटं साक्षात् करोमि' इति शरीरावच्छेदेन प्रत्ययः, बहिरवच्छेदेनैव घटादेरपरोक्षत्वात् ?" इति चेत् ? साक्षात्कारत्वस्य वृत्तिगतधर्मत्वात् तद् विषयाऽपरोक्षत्वनिमित्तकम्, न तु वृत्तेः स्वाध्यस्तत्वकृतापरोक्षत्वकृतम्, वाक्यादावपि तथा प्रसङ्गात्। तच्चानुमितित्ववत् साक्षिगम्यमिति। एवमिदमंशावच्छेदेनोत्पन्नं रजतमिदमंशावच्छेदेनैवाऽपरोक्षम्, तत्तच्छरीरप्रदेशावच्छेदेन विद्यमानं सुखमिव तत्तदवच्छेदेन, इत्यतोऽन्तरवच्छेदेन तद्भानं वृत्तिमाक्षिपतीति। न चेदं वृत्तिविशेषणतयाऽन्तस्तदवभासः, तस्यास्तदाकारत्वाभावात्। ईश्वरे मायावृत्तिस्तु वर्तमानस्य स्वाध्यस्त(स्त)स्य जीवे सुखादिवदपरोक्षत्वेऽप्यतीताऽनागतभानार्थं प्रतिकल्पं

सर्वाकारैका कल्प्यते, श्रुत्युक्तजगत्कर्तृत्वनिर्वाहाय च। अन्यथा कार्यानुकूलज्ञानादिमत्त्वरूपतदनुपपत्तेः, स्वरूपज्ञाने भेदाभावेनाधाराधेयभावाऽसंभवात् इत्याहुः।

[घट साक्षात्कार प्रतीति शरीरावच्छेदेन क्यों ?]

उक्त प्रतिपादन के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है कि-'घट का साक्षात्कार-अपरोक्षज्ञान घटदेश में ही होता है तो शरीरावच्छेदेन 'घटं साक्षात्करोमि'='मैं घट को साक्षात् कर रहा हूं', यह प्रतीति कैसे होती है ? क्योंकि घट तो बाह्यदेश में ही अपरोक्ष है, शरीरदेश में अपरोक्ष है नहीं।'-इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साक्षात्कारत्व विषय का धर्म नहीं होता, किन्तु वृत्ति का धर्म होता है और यह धर्म उसी वृत्ति में रहता है जिस का विषय अपरोक्ष रहता है। इस प्रकार वृत्ति का साक्षात्कारत्व अपरोक्षचैतन्य में वृत्ति को अध्यस्ततामूलक नहीं होता, क्योंकि यदि वृत्ति का साक्षात्कारत्व अपरोक्षचैतन्य में वृत्ति के अध्यस्त होने से माना जायगा तो सभी वृत्तियों में साक्षात्कारत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि सभी वृत्तियां अपरोक्षचैतन्य में ही अध्यस्त होती है। अतः वाक्यादि से भी साक्षात्कारात्मकवृत्ति की आपत्ति होगी। वृत्तिगत साक्षात्कारत्व अनुमितित्व के समान साक्षिगम्य होता है। उक्त विचार का निष्कर्ष यह है कि इदमवच्छिन्न चैतन्य में उत्पन्न शुक्ति-रजत इदमंशावच्छेदेन ही अपरोक्ष होता है। क्योंकि तदवच्छेदेन ही वह चैतन्य में विद्यमान होता है। क्योंकि यह नियम है कि जो यदवच्छेदेन चैतन्य में विद्यमान होता है वह यदि प्रत्यक्षयोग्य होता है तो तदवच्छेदेन ही उसकी अपरोक्षता होती है। अतः जैसे सुख तत्तच्छरीरप्रदेशावच्छेदेन विद्यमान होने से तत्तदवच्छेदेन अपरोक्ष होता है उसी प्रकार शुक्तिरजत का भी इदमंशावच्छेदेन ही अपरोक्ष होना न्यायसंगत है। अतः शरीरावच्छेदेन जो 'इदं रजतम्' इस प्रकार का भान होता है वह रजताकार अविद्यावृत्ति का अनुमापक होता है। क्योंकि उस वृत्ति के बिना 'इदं रजतं पश्यामि' इस प्रकार की प्रतीति सम्भव नहीं है, क्योंकि इदमाकारवृत्ति के विषय रूप में शरीर में रजत का अवभास नहीं हो सकता क्योंकि वह रजताकार नहीं होती।

[ईश्वर में सर्वाकार एक मायावृत्ति का स्वीकार]

इसी प्रकार ईश्वर में भी माया की सर्वाकार एक वृत्ति मानना आवश्यक है, क्योंकि ईश्वर में अध्यस्त वस्तु जब विद्यमान है तब जीव में विद्यमान सुखादि के समान ईश्वर साक्षि से उस की अपरोक्षता हो सकती है किन्तु अतीतानागत का भान नहीं हो सकता। अतः उस के लिये प्रतिकल्प के आरम्भ में कल्पान्त तक रहने वाली सर्वाकार मायावृत्ति मानना आवश्यक है। श्रुति ने ईश्वर को जगत्कर्ता कहा है। यह जगत्कर्तृत्व भी मायावृत्ति से ही उपपन्न हो सकता है। यदि मायावृत्ति न मानी जायगी तो सर्वकार्यानुकूल ज्ञानादिमत्स्वरूप सर्वकर्तृत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वरसाक्षि रूप ज्ञान का ईश्वरचैतन्य के साथ भेद नहीं है अतः उस के साथ आधाराधेय भाव संभव न होने से उस को लेकर ईश्वर कार्यानुकूल ज्ञानादि का आश्रय नहीं हो सकता।

तदेवं केवलसाक्षिवेद्यत्वे तुल्येऽपि रजतादौ वृत्तिरपेक्षिता, नाज्ञानादौ देहपर्यन्ते। ननु कथं देहस्य केवलसाक्षिवेद्यत्वम्, घटादिवच्चक्षुर्ग्राह्यत्वेन प्रमाणवेद्यत्वात् ? न च तत्र स्वप्नवच्चक्षुर्ग्राह्य-

स्त्वम्, घटादावप्यनाश्वासात्। न च प्रमाणवेद्य एव देहः, अज्ञानविषयत्वेन कदाचित् 'अहं मनुष्यो नवा' इति संदेहापत्तेः। किञ्च, अस्य ब्रह्मण्यध्यस्तत्वे घटादिवद् न केवलसाक्षिवेद्यत्वम्, जीवाध्यस्तत्वे च सुखादिवदन्यापरोक्षत्वभंग इति चेत् ? अत्राहुः—एक एवायं जीवो देहत्वेन ब्रह्मण्यध्यस्तः, न जीवे, 'अहं देहः' इत्यप्रतीतेः। तादात्म्याभिनिविष्टमनुष्यत्वेन जीवेऽध्यस्तो न ब्रह्मणि, 'अहं मनुष्यः' इति प्रतीतेः। तेनैव च रूपेण केवलसाक्षिवेद्यत्वम्, प्रमाणवृत्त्यनपेक्षत्वात्, देहत्वेन तु प्रमाणवेद्यत्वम्। एवमन्तःकरणादिरपि तत्त्वादिना ब्रह्मण्यध्यस्तः, अहन्त्वादिना जीव इति सिद्धमज्ञानोपहितचैतन्यरूपसाक्षिवेद्यत्वं देहस्य।

[रजतवृत्ति की अपेक्षा, देहपर्यन्त अज्ञानादि की नहीं]

इस प्रकार शुक्तिरजतादि और अज्ञानादि में केवलसाक्षिवेद्यता यद्यपि समान है तथापि उक्त रीति से शुक्तिरजतादिविषयक अविद्यावृत्ति की अपेक्षा होती है किन्तु अज्ञान से लेकर देह पर्यन्त साक्षिभास्य विषयों की वृत्ति अपेक्षित नहीं होती, क्योंकि वे सब बाह्य चैतन्य में अध्यस्त न होकर अन्तश्चैतन्य में ही अध्यस्त होते हैं। अत एव शरीरावच्छेदेन 'अहमज्ञः' 'अहं मनुष्यः' इत्यादि प्रतीति की उपपत्ति में कोई बाधा नहीं हो सकती।

[शरीर केवलसाक्षिवेद्य कैसे ?]

देह के विषय में यह प्रश्न होता है कि "वह घटादि के समान चक्षुर्ग्राह्य होने से प्रमाणवेद्य है, अतः वह केवल साक्षिवेद्य कैसे हो सकता है ? यदि स्वप्नज्ञान में चक्षुर्ग्राह्यत्व के समान देह में कल्पित चक्षुर्ग्राह्य माना जायगा तो घटादि के सम्बन्ध में भी आस्था नहीं हो सकेगी, क्योंकि घटादि के विषय में भी कहा जा सकता है कि घटादि का चक्षुर्ग्राह्यत्व कल्पित है, फलतः व्यावहारिक घटादि भी स्वप्नघटादि के समान हो जायगा। देह प्रमाणवेद्य ही है साक्षिवेद्य नहीं है–यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसे प्रमाणैकवेद्य मानने पर वह प्रमाणजन्यव्यापार के अभाव दशा में अज्ञान का भी विषय होगा। अतः कदाचित् मनुष्य को अपने विषय में भी 'अहं मनुष्यो न वा' इस संदेह की आपत्ति होगी। दूसरी बात यह है कि देह ब्रह्म में अध्यस्त होता है, अतः जैसे ब्रह्म में अध्यस्त घटादि केवल साक्षिवेद्य नहीं होता उसी प्रकार देह भी केवल साक्षिवेद्य नहीं हो सकेगा। यदि उसे जीव में अध्यस्त माना जायगा तो जैसे एक जीवगत सुखादि अन्य को अपरोक्ष नहीं होता उसी प्रकार एक जीव का देह भी अन्य को अपरोक्ष न हो सकेगा। इस प्रकार देह में केवल साक्षिवेद्यत्व एवं केवल प्रमाणवेद्यत्व दोनों सम्भव न होने से देह के अप्रत्यक्षत्व की आपत्ति अनिवार्य है।"—

[भिन्न भिन्न रूप से जीव ब्रह्म में अध्यस्त]

इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्तीओं का कहना है कि जीव एक ही है जो देहत्व रूप से ब्रह्म में अध्यस्त होता है-जीव में नहीं। अतएव 'अहं देहः' यह प्रतीति नहीं होती है। एवं ब्रह्म में अध्यस्त देह के तादात्म्य से अभिनिविष्ट मनुष्य के रूप से जीव में अध्यस्त होता है, ब्रह्म में नहीं होता, इसीलिये 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति होती है। अथवा 'अहं देहः' इस प्रतीति के होने से उक्त प्रकार से ब्रह्म में

देहात्मना और जीव में मनुष्यात्मना जीवाध्यास मानना आवश्यक होता है। इसलिये प्रमातृतावा-च्छिन्नाभिनिविष्ट मनुष्यत्वरूप से ही जीव केवल साक्षिवेद्य होता है, क्योंकि उस रूप से अवभास के लिये प्रमाणजन्यवृत्ति की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु देहत्वरूप से तो वह प्रमाणवेद्य ही होता है। इसीप्रकार अन्तःकरणादि भी अन्तःकरणत्वादिरूप से ब्रह्म में अध्यस्त होता है और अहंत्वादिरूप से जीव में अध्यस्त होता है। अतः उक्तरीति से देह में अज्ञानोपहित चैतन्यरूप साक्षिवेद्यता सिद्ध होती है।

ननु नाऽज्ञानं साक्षित्व उपाधिः, सुषुप्तेऽज्ञानसुखसाक्षिस्फूर्तेः पुरुषान्तरस्य 'सुखमहम-स्वाप्सम्' इति स्मरणप्रसङ्गात्। किन्त्वन्तःकरणमेव, तदन्तःकरणोपहिते संस्कारस्तत्रैव स्मरणनि-यमेनाऽनतिप्रसङ्गादिति चेत् ? न, सुषुप्तावज्ञानाद्याकारवृत्त्या परिच्छिन्नयान्तःकरणादिसंस्का-रावच्छेदेनोत्पद्य नश्यन्त्या तदवच्छेदेन संस्काराधानात् तदवच्छेदेन स्मरणादनतिप्रसङ्गात्, जीवेश्वरसाधारण्येनाज्ञानस्य साक्षित्वोपाधित्वात्। तदुक्तम्-'मोहसंक्रान्तमूर्तिः साक्षी' ति।

[साक्षित्व में उपाधि अज्ञान या अन्तःकरण ?]

अज्ञानोपहितचैतन्य को साक्षी मानने के सम्बन्ध में यह शंका होती है कि "अज्ञान साक्षित्व में उपाधि नहीं हो सकता, क्योंकि सुषुप्त को अज्ञान और सुख की स्फूर्ति साक्षी से होती है। यदि साक्षी अज्ञानोपहित होगा तो पुरुषान्तर=अन्यपुरुष जिस को सुषुप्ति में अज्ञान-सुख की स्फूर्ति नहीं हुयी है उसे भी 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इस प्रकार सुख और अज्ञान के स्मरण की आपत्ति होगी। क्योंकि पुरुषान्तर भी अज्ञानोपहितचैतन्यात्मक है। अतः अज्ञानोपहितचैतन्य से होनेवाले उक्त अनुभवजन्य संस्कार पुरुषान्तर में भी होगा। अतः अज्ञान को साक्षित्व में उपाधि न मानकर अन्तःकरण को ही उपाधि मानना उचित है। तब अन्तःकरण उपहितचैतन्य साक्षी होगा तो जिस अन्तःकरण से उपहितचैतन्य में संस्कार होगा उसी में स्मरण का नियम होने से अन्य को स्मरण की आपत्ति नहीं हो सकेगी।"-किन्तु विचार करने पर यह शंका नहीं उपपन्न होती क्योंकि सुषुप्ति में जो अज्ञानाद्याकारवृत्ति होती है वह परिच्छिन्न होती है, क्योंकि वह संस्कार सूक्ष्मावस्था में विद्यमान अन्तःकरण से अवच्छिन्नचैतन्य में ही उत्पन्न और नष्ट होता है। अतः तादृशान्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य में ही संस्कार के आधान द्वारा तदवच्छिन्न चैतन्य में ही स्मरण का प्रयोजक होती है। अतएव अन्य पुरुष में सुषुप्त पुरुष से अनुभूत सुख और अज्ञान के स्मरण का अतिप्रसङ्ग नहीं हो सकता।

[साक्षी अज्ञानादि के स्फुरण में नहीं स्मरण में प्रयोजक]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उक्त शंका का यह समाधान अज्ञानादि के वृत्तिसापेक्ष साक्षिवेद्यता मत में है। अतः वृत्तिनिरपेक्ष साक्षिवेद्यता पक्ष में उक्त शंका का समाधान यह है कि साक्षिचैतन्य जिस अन्तःकरण से उपहितचैतन्य में अज्ञानादि के स्फुरण का सम्पादक होता है उसी अन्तःकरण से उपहितचैतन्य में अज्ञानादि के संस्कार के आधान द्वारा कालान्तर में अज्ञानादि के स्मरण का प्रयोजक होता है। यद्यपि वृत्ति निरपेक्ष साक्षी कालान्तर में भी सुलभ रहता है किन्तु कालान्तर में विषय विद्यमान न रहने से अथवा विषय के स्फुरण के प्रतिबन्धक का संनिधान रहने से जब विषय-

स्फुरण होना सम्भव नहीं होता उस समय विषय-स्मरण की उपपत्ति के लिये इस पक्ष में भी संस्कार मानना आवश्यक है। यह संस्कार वृत्तिविशेषरूप है। अतः इस मत का निष्कर्ष यह है कि अज्ञानादि के स्फुरण में साक्षी वृत्तिनिरपेक्ष होता है किन्तु उसके स्मरण का संस्कारात्मकवृत्ति द्वारा प्रयोजक होता है।

अतः लाघव से जीव-ईश्वर उभय के साक्षित्व में अज्ञान ही उपाधि है। जैसा कि साक्षी का लक्षण प्रमाणिक वेदान्तीओं द्वारा कहा गया है कि साक्षी मोहसंक्रान्तिस्वरूप होता है। मोह का अर्थ अज्ञान होता है, न कि अन्तःकरण। अत एव उक्त कथन से अज्ञान में ही साक्षित्व की उपाधिता सिद्ध होती है।

अयमेव प्राज्ञ इति, आनन्दमय इति च गीयते, सुषुप्तेः प्रकर्षेणाऽज्ञत्वात्, आनन्दप्रचुरत्वाच्च 'न किञ्चिदवेदिषम्' इति 'सुखमस्वाप्सम्' इति परामर्शात्, तत्रान्तःकरणाद्युपाधिविरहात्, जागरापेक्षयानन्दाभिव्यक्तेः। न त्वानन्दमयः शुद्धः, अनात्मत्वेन निर्णीतान्नमय प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-प्रायपाठात्। स्थूलदेहसंबन्धात् 'अन्नमयः' इति, प्राणपञ्चक-कर्मेन्द्रियपञ्चकसंबन्धात् 'प्राणमयः' इति, मनःसंबन्धात् 'मनोमयः' इति, बुद्धिज्ञानेन्द्रियसंबन्धाद् 'विज्ञानमयः' इति च, स एवानन्दमयोऽभिधीयते।

[सुषुप्ति में प्राज्ञ और आनन्दमय अवस्था]

यह जीव ही सुषुप्ति में प्राज्ञ एवं आनन्दमय कहा जाता है, क्योंकि वह सुषुप्ति के समय 'प्रकर्षेण अज्ञः' अर्थात् सर्वविषयक अज्ञानवान् होता है और आनन्दप्रचुर होता है। सुषुप्तिकाल में जीव की प्रकर्षेण अज्ञता और आनन्दप्रचुरता की सिद्धि सो कर उठने पर उत्पन्न होनेवाले 'न किञ्चिदवेदिषम्', 'सुखमस्वाप्सम्' इस प्रकार के स्मरण से होती है। उस समय अन्तःकरण आदि उपाधियां नहीं होती, अतः इस समय अनुभूत होनेवाला सुख वैषयिक सुख नहीं होता। तथा जागरण की अपेक्षा आनन्द की अभिव्यक्ति अधिक होती है। अतः इस समय जीव आनन्दप्रचुर होता है। यह आनन्दमय होते हुये भी शुद्ध नहीं होता क्योंकि उपनिषदों में उस का निर्देश अधिकतर अनात्मत्वेन निर्णीत अन्नमय-प्राणमय-मनोमय और विज्ञानमय के साथ ही है। जीव ही स्थूल देह के सम्बन्ध से अन्नमय और प्राणपञ्चक एवं कर्मेन्द्रियपञ्चक के सम्बन्ध से प्राणमय, मन के सम्बन्ध से मनोमय, बुद्धि और ज्ञानेन्द्रिय के सम्बन्ध से विज्ञानमय, और विज्ञानमय ही जीव सुषुप्ति में सूक्ष्मावस्थापन्न बुद्धि ज्ञानेन्द्रिय से सम्बद्ध होकर आनन्दमय कहा जाता है।

प्राणमयादिकोशत्रयस्यैव तैजसत्वव्यपदेशः। तत्रैव च विज्ञानमयो ज्ञानशक्त्या 'कर्ता' इत्युच्यते, मनोमय इच्छाशक्त्या कारणम्, प्राणमयः क्रियाशक्त्या कार्यम्। एतेन परेषामिव नास्माकं प्रयत्नः, कोशद्वयनिष्ठज्ञानेच्छाभ्यामनन्तरं प्राणक्रियाशक्त्यैव शरीरचेष्टासंभवात्, इष्टपदार्थज्ञानस्य 'इष्टं मे स्यात्' इतीच्छायाश्चानुभववत् प्रयत्नानुभवाभावाच्च, 'अहं प्रयते' इति चेष्टाविषयत्वात् प्रतीतेः, शब्देन च तद(न)भिधानात्। एतेन जीवनयोनिः प्रयत्नो निरस्तः।

इदमेव कोशत्रयं लिङ्गशरीरम् । तच्च द्विविधम्-समष्टि-व्यष्टिभेदात् । तत्र समष्टिर्नाम व्यापकं सूत्रमिव मणिषु सर्वलिंगशरीरेषु स्थूलेषु चानुस्यूतं हिरण्यगर्भाख्यं लिङ्गशरीरम् । तच्चोपासना-विशेषफलभूतं प्रभूतपुण्यस्य भोक्तुरुत्कर्षं गतस्यानन्दविशेषस्यायतनं, 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मणः' इति श्रुतेः । एतस्य चोक्तविधानन्दभोगनियमे न स्थूलशरीरापेक्षा, ब्रह्माण्डाद् बहिरपि भोगश्रवणात् । एतदुपासकानां चोक्तविधसायुज्यं गतानां विराडादिसृष्टिव्यापारवर्जं तादृशमेव भोगादि ।

[प्राणमयादि तीन कोशों की कार्यप्रक्रिया]

जीव की ये पांच अवस्थाएँ चैतन्य के स्वरूप की आच्छादक होने के कारण कोश शब्द से व्यवहृत होती हैं । इन में प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय इन तीन कोश को तैजस कहा जाता है- इस तैजस कोश का घटक विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से कर्त्ता, मनोमय कोश इच्छाशक्ति से करण और प्राणमय कोश क्रिया-शक्ति से कार्य-कारण में अभेद समझकर कार्य कहा जाता है । इस निरूपण से यह स्पष्ट है कि नैयायिकादि के समान वेदान्ती को प्रयत्न मान्य नहीं है । क्योंकि शरीर की चेष्टा जो न्यायमत से प्रयत्नसाध्य मानी जाती है-वह वेदान्तमत में विज्ञानमय और मनोमय कोश में क्रमशः ज्ञान और इच्छा उत्पन्न होने के बाद प्राण की क्रियाशक्ति से ही सम्पन्न हो जाती है । ज्ञान और इच्छा का अभ्युपगम तो इष्टपदार्थ के ज्ञान और इष्टप्राप्ति की इच्छा के अनुभव से सिद्ध है; किन्तु प्रयत्न की सिद्धि अनुभव से नहीं होती क्योंकि प्रयत्न का अनुभव असिद्ध है और 'अहं प्रयते' यह प्रतीति प्रयत्नविषयक न होकर चेष्टाविषयक है क्योंकि वेदान्तमत में प्रयत्न शब्द से भी चेष्टा का ही अभिधान होता है । चेष्टाजनक प्रयत्न का निषेध करने से जीवनयोनि=जीवनादृष्टमूलक प्रयत्न भी निरस्त हो जाता है क्योंकि उस प्रयत्न का नाडीस्पन्दनादि कार्य प्राणमय कोश की सहज-क्रिया शक्ति से ही सम्पन्न हो जाता है ।

[समष्टि लिंग और उपासना का फल]

यह कोशत्रय ही लिङ्ग शब्द से कहा जाता है-इस के दो भेद होते हैं-समष्टि और व्यष्टि । उन में समष्टि का अर्थ है व्यापक, जो मणिओं में सूत्र के समान सम्पूर्ण लिङ्ग शरीरों में और स्थूल शरीरों में अनुस्यूत होता है, उस की संज्ञा 'हिरण्यगर्भ' होती है और वह ब्रह्मा का लिंगशरीर होता है । यह उपासनाविशेष के फलस्वरूप प्रभूत पुण्यशाली भोक्ता के उत्कृष्ट आनन्दविशेष को आयतन-रूप में प्राप्त होता है । क्योंकि श्रुति का उद्घोष है कि प्रजापति का शतगुणित आनन्द ब्रह्मा= हिरण्यगर्भ का एक आनन्द होता है । यही आनन्द हिरण्यगर्भ की उपासना का परिपाक होने पर उपासक को ब्रह्मलोक में ब्रह्मा के हिरण्यगर्भनामक समष्टिलिङ्गशरीर द्वारा प्राप्त होता है । इस उक्त आनन्दविशेष के भोग का सम्पादन स्थूलशरीर की अपेक्षा नहीं होता, क्योंकि यह भोग ब्रह्माण्ड के बाहर भी होता है जहाँ स्थूलशरीर की पहुंच नहीं । हिरण्यगर्भ के उपासक जो ब्रह्मलोक में ब्रह्मा के हिरण्यगर्भ शरीर को उत्कृष्ट आनन्दविशेष के भोग के साधन रूप में प्राप्तिरूप सायुज्य से सम्पन्न होते हैं उनमें विराट् आदि की सृष्टि के सामर्थ्य से अतिरिक्त आनन्द भोग आदि सब कुछ ब्रह्मा के समान ही उपलब्ध होता है ।

व्यष्टिर्नाम परिच्छिन्नम् । तच्च बहुविधं विराजादि पिपीलिकापर्यन्तम् । तत्र विराजोऽस्मदादिवत् परिच्छिन्नस्यैव सतः प्रभूतपुण्यभोक्तृविशेषस्य सकलस्थूलाभिमानिनः सत्यलोकाधिपतेश्चतुर्मुखभोगशरीराच्छेदेन हिरण्यगर्भानन्दाच्छतगुणन्यूनानन्दविशेषान् भुञ्जतः प्रजापतिर्वैश्वानर इत्यादयोव्यपदेशा भवन्ति । सकलस्थूलाभिमानित्वाच्च स्थूलसमष्टिरिति व्यपदिश्यते ।–'हिरण्यगर्भस्यैव स्थूलसंबन्धाद् विराट्संज्ञा, तैजसस्यैव विश्वसंज्ञा, जीवान्तरकल्पने गौरवात्' इति न युक्तम्, पासनाविधिशेषेभ्यः देवताविग्रहन्यायेन तत्सिद्धेः । एवमग्न्यादयोऽपि श्रुत्यादिसिद्धा अवसेयाः ।

[व्यष्टि लिंग– विराट् आदि बहु भेद]

व्यष्टि का अर्थ है परिच्छिन्न। वह विराट् से लेकर चिटीपर्यन्त अनेक प्रकार का है। उन में विराट् यह मनुष्यादि के समान ही परिच्छिन्न होता है और वह प्रभूत पुण्यशाली विशिष्ट भोक्ता होता है तथा सकल स्थूलशरीर में अहन्त्वाभिमानी सत्यलोक का स्वामी भोगोपयोगी चतुर्मुख शरीरधारी हिरण्यगर्भ के आनन्द से शतगुण न्यून आनन्दविशेष का भोक्ता होता है। प्रजापति-वैश्वानर आदि उस के नाम हैं। सकलस्थूलशरीराभिमानी होने से उसे स्थूलसमष्टि भी कहा जाता है।

कुछ लोगों का यह कहना है कि–'जैसे स्थूलशरीर के सम्बन्ध से तैजस की ही विश्वसंज्ञा होती है उसीप्रकार स्थूल शरीर के सम्बन्ध से हिरण्यगर्भ की ही विराट् संज्ञा होती है, क्योंकि जीवान्तर की कल्पना गौरवग्रस्त है।'–किन्तु यह युक्त नहीं है क्योंकि उपासना विधि के शेष वाक्यों से तथा देवताविग्रह न्याय से विराट् की सिद्धि होती है। विराट् के समान ही अग्नि आदि संज्ञक जीवविशेष भी श्रुतिओं में बताये गये हैं।

एतच्च समष्टि-व्यष्टिलिङ्गशरीरमपञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्य उत्पद्यते । तथाहि–मायाशबलाच्चिदात्मन आकाशः, तस्माद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी । एतानि सूक्ष्माणि व्यापकानि च । सूक्ष्मत्वं विरलावयवत्वम् । एतान्येव 'तन्मात्राः' इति व्यपदिश्यन्ते । एतेभ्यश्च व्यस्तेभ्यः क्रमेण श्रोत्रादिपञ्चकं वागादिपञ्चकं च, समस्तेभ्योऽन्तःकरणं प्राणश्चोत्पद्यते । अत एव श्रोत्रं न परेषामिव कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं नभः, किन्तु तत्कार्यं व्यष्टिसमष्टिरूपम्, तेन नावश्यमन्तरेवोत्पन्नः श्रोत्रेण शब्दो गृह्यत इति नियमः, चक्षुर्वद् बहिर्गन्त्रा तेन बहिष्ठस्यापि शब्दस्य ग्रहणसंभवात् । ततश्चैक एव शब्दो यथाप्रतीति बहुभिः पुरुषैर्गृह्यत इति युक्तं समाश्रयितुम् । ततश्च न प्रतिपुरुषं शब्दान्तरग्रहणकल्पना, नापि शब्दैकत्वप्रतीतेः सजातीयनिमित्तकभ्रमत्वकल्पना ।

एतानि च श्रोत्रादीनि 'पञ्चभूतकार्यान्तःकरणात्मकानि' इति केचित् । 'स्वतन्त्राणि' इत्यपरे । 'एवमुत्पन्नलिङ्गशरीरेभ्योऽपञ्चीकृतेभ्यः पञ्चीकृतभूतोत्पत्तिः' इति केचित् । पञ्चीकरणं

तु पञ्चानामर्धदशकं विधाय पञ्चानामर्धपञ्चके इतरार्धपञ्चकस्य प्रत्येकं चतुर्धा विभक्तस्य भागचतुष्टयस्य स्वस्वार्धपरित्यागेन योजनम् । अत्र चेश्वरस्यैव कर्तृत्वम् "तेषामेकैकं त्रिवृतं करवाणि" इतिश्रुतेः । पृथिव्यादिभागानां बहुत्वात्तु पृथिव्यादिव्यपदेशः ।

[पंचभूत, पंचेन्द्रिय, वाग् आदि का प्रपंच]

समष्टि व्यष्टि उभय रूप लिङ्ग शरीर अपञ्चीकृत भूतों से अर्थात् अन्यभूतमात्रानापन्न भूतों से उत्पन्न होता है । उस की उत्पत्ति की प्रक्रिया इस प्रकार है-माया से उपहित ब्रह्मचैतन्य से आकाश की, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की, इस क्रम से भूतों की उत्पत्ति होती है । भूतों का यह उत्पत्तिक्रम 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथ्वी' इस श्रुति से सिद्ध है । उत्पत्ति का यह क्रम युक्तिपोषित भी है क्योंकि यदि आकाश पहले उत्पन्न न हो तो वायु के सञ्चरण के लिये अवकाश नहीं होगा । एवं अग्नि को वायु की अपेक्षा लोकसिद्ध ही है, इसीलिये अग्नि 'मरुत्सख' नाम से प्रसिद्ध है । अग्नि से जल की उत्पत्ति भी इस अनुभव से बुद्धिगम्य होती है कि जब गर्मी अधिक पडती है तभी वर्षा प्रारम्भ होती है । और जल से पृथ्वी का होना भी जल से कठोर बर्फ इत्यादि की उत्पत्ति देखते हुये बुद्धिगम्य है ।

[श्रोत्रेन्द्रिय आकाशरूप नहीं है]

ये भूत सूक्ष्म और व्यापक होते हैं । इन के सूक्ष्म होने का यह अर्थ नहीं कि ये निरवयव होते हैं किन्तु उनकी सूक्ष्मता अवयवों की विरलतारूप है । अर्थात् इनमें अवयवों का निबिड संयोग नहीं होता । ये अपञ्चीकृत भूत ही 'तदेव तन्मात्रम्' इस व्युत्पत्ति से तन्मात्रशब्द से व्यवहृत होते हैं । इन में एक एक भूत से, क्रमशः श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-रसना और घ्राण इन पांच ज्ञानेन्द्रियों की और वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ इन पांच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती हैं । सम्मिलित पांचों से अन्तःकरण और प्राण की उत्पत्ति होती है । न्यायदर्शन के समान वेदान्ती मत में श्रोत्रेन्द्रिय कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाशरूप नहीं है किन्तु उस का कार्य है और व्यष्टि-समष्टि उभयरूप है । इस लिये श्रोत्र से कर्णशष्कुली के भीतर ही उत्पन्न शब्द के प्रत्यक्ष का नियम नहीं है किन्तु वह चक्षु के समान बाहर विषयदेश में जाकर बहिर्देशवर्त्ती शब्द का भी ग्रहण कर सकता है । अतः जैसे लोक में प्रतीति है तदनुसार अनेक पुरुषों द्वारा एक ही शब्द का ग्रहण होना इस मत में युक्तिसङ्गत है । इसलिये इस मत में विभिन्न मनुष्यों को विभिन्न शब्द का ग्रहण होता है यह कल्पना और एक पुरुष को गृह्यमाण शब्द में अन्य पुरुष द्वारा गृह्यमाण शब्द के साथ होने वाली एकत्व प्रतीति में सजातीय शब्द निमित्तकत्वप्रयुक्त भ्रमरूपता की कल्पना आवश्यक नहीं होती । कुछ विद्वानों का मत है कि श्रोत्रादि सभी ज्ञानेन्द्रियां पञ्च भूतों के अन्तःकरणरूप कार्य से अभिन्न है । अर्थात् अन्तःकरण ही कार्यभेद से श्रोत्रादि नामों से व्यवहृत होता है ।

अपर विद्वानों का मत है कि वे अन्तःकरण से भिन्न है । कुछ दूसरे विद्वानों का मत यह है कि तन्मात्रों के पञ्चीकरण से पञ्चीकृत भूतों की उत्पत्ति नहीं होती अपितु तन्मात्रा से उत्पन्न अपञ्चीकृत लिङ्गशरीरों से पञ्चीकृत भूतों की उत्पत्ति होती है ।

[भूत पञ्चीकरण प्रक्रिया]

भूतों का पञ्चीकरण इस प्रकार होता है—पांच भूतों में प्रत्येक के दो भाग करने से कुल दश भाग होते हैं, और प्रत्येक के एक अर्ध के चार भाग होते हैं जो चार भाग अपने मूल अर्धभाग से अन्य चार विभागों में मिल जाते हैं।

पृथ्वी		अप्		तेजस्		वायु		आकाश	
पृ०	अ०	अ०	पृ०	ते०	पृ०	वा	पृ०	आ०	पृ०
	ते०		ते०		अ०		अ०		अ०
	वा०		वा०		वा०		ते०		ते०
	आ०		आ०		आ०		आ०		वा०

इस प्रकार प्रत्येक भूत का आधा भाग अन्य चार भूतों के एक भाग से मिलकर फिर एक पूरा भूत बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक भूत पञ्चभूतात्मक हो जाते हैं [देखीये आकृति]। भूतों के इस पञ्चीकरण का कर्ता ईश्वर ही होता है। क्योंकि भूतों के पञ्चीकरण के समय कोई भी जीव कर्त्ता बनने की स्थिति में नहीं होता। क्योंकि उस समय जीव अशरीरी होते हैं और शरीर के विना जीव में कर्तृत्व नहीं आ सकता। भूतों के पञ्चीकरण में और उस के ईश्वरकर्तृत्व में "तासामेकैकं त्रिवृत्तं करवाणि" यह श्रुति उपलक्षणविधया प्रमाण है। आशय यह है कि इस श्रुति से तो पृथ्वी-जल-तेजः इन तीनों में प्रत्येक का त्रिवृत्तकरण ही स्पष्टरूप से प्राप्त होता है—किन्तु यह पञ्चीकरण का ही उपलक्षण है। त्रिवृत्तकरण का उल्लेख पञ्चीकरण के उल्लेख की अपेक्षा शीघ्रबोध्य होने से उसका शब्दतः उल्लेख किया गया है। इस प्रकार समस्त भूतों के पञ्चात्मक होने पर भी सब को पृथ्वी-जलादि सभी भूतनामों से व्यपदिष्ट नहीं किया जाता किन्तु जिस में जिस भूत का भाग अधिक रहता है उस अधिकता के कारण ही उसे उस भूत के बोधक पृथ्वी आदि शब्द से व्यपदिष्ट किया जाता है।

साम्प्रदायिकास्तु न पञ्चीकृतानां कार्यान्तरत्वमिच्छन्ति, आकाशादिभ्यो वाय्वादिजन्मश्रवणवदपञ्चीकृतेभ्यः पञ्चीकृतजन्मश्रवणाभावात्। किन्तु तान्येव संयोगविशेषावस्थानि पञ्चीकृतान्युच्यन्ते। अत एव 'पटोऽपि न तन्तुभ्यः कार्यान्तरम्, किन्तु संयुक्तावस्थास्तन्तव एव' इति सिद्धान्तः। एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यः पञ्चभ्योऽपि ब्रह्माण्डभूधरादिचतुर्दशभुवनचतुर्विधस्थूलशरीरोत्पत्तिः। कथं विजातीयेभ्य एककार्योत्पत्तिः? इत्याक्षिपतां तन्तुभ्यः पटकार्योत्पत्तिं स्वीकृत्य तन्तु-केशपट्ट-सूत्रादिभ्यः प्रतीयमानाऽऽसनादिविचित्रकार्याऽभावमङ्गीकुर्वतां कोशपानमेवैकशरणम्। चतुर्विधानि जरायुजा-ऽण्डज-स्वेदजोद्भिज्जानि। तदेवं निरूपितो हिरण्यगर्भादिरुद्भिज्जान्तो जीवस्य संसारोऽविद्यामूलः ॥१॥

[पञ्चीकरण के सम्बन्ध में मतान्तर]

साम्प्रदायिक वेदान्तीओं का मत है कि अपञ्चीकृत भूतों से पञ्चीकृत भूत कोई भिन्न नहीं है, क्योंकि आकाशादि से वायु आदि के जन्म की प्रतिपादक श्रुति जैसे उपलब्ध होती है। उसी प्रकार अपञ्चीकृत भूतों से पञ्चीकृत भूतों के जन्म की प्रतिपादक श्रुति नहीं है। किन्तु अपञ्चीकृत भूत ही परस्पर में विलक्षण संयोगात्मक अवस्था को प्राप्त होने पर पञ्चीकृत कहे जाते हैं। इसीलिये वेदान्त का यह सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है कि पटादि भी तन्तुओं से भिन्न कार्यरूप नहीं होते किन्तु विलक्षणसंयोगात्मक अवस्था प्राप्त तन्तु ही पट शब्द से व्यवहृत होते हैं। इन पञ्चीकृत पञ्चभूतों से ब्रह्माण्ड और उस में पर्वतादि से भरपूर चौदह लोकों की और उन लोकों में चार प्रकारों के स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है।—'परस्पर विजातीय पाँच भूतों से ब्रह्माण्ड जैसे एक कार्य की उत्पत्ति कैसे सम्भव होगी ?'—इस प्रकार का जो लोग आक्षेप करते हैं वे तन्तुसमूह से पटकार्य की उत्पत्ति मानकर भी, तन्तु-केश-पट्टसूत्रादि से आसनादि विचित्र कार्यों की कार्यता न होने पर भी उनका व्यवहार मानते हैं। अतः आसन आदि पदार्थों तन्तुकेशादि के कार्य न होने पर भी जैसे उनकी प्रतीति, उनका व्यवहार, उनके विभिन्न कार्य इत्यादि होते हैं उसी प्रकार ब्रह्माण्डादि के विभिन्न पञ्चभूतों का कोई एक कार्य न होने पर भी उनकी प्रतीति आदि की उत्पत्ति हो सकती है। अतः पञ्चीकृत पांच भूतों से ब्रह्माण्डादि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उक्त आक्षेप करने का मूल एकमात्र शपथ की शरण ही हो सकता है।

चतुर्दश भुवनों में जो स्थूलशरीर उत्पन्न होते हैं उन के जरायुज-अण्डज स्वेदज और उद्भिज्ज ये चार भेद होते हैं। जैसे मनुष्य-पशु आदि का जरायुज, पक्षी-सर्पादि का अण्डज, कीडे-मकोडे आदि का स्वेदज और लता-गुल्मादि का उद्भिज्ज शरीर होता है। इस प्रकार यह बताया गया हिरण्यगर्भ से लेकर उद्भिज्ज पर्यन्त जीवों का सम्पूर्ण संसार का विस्तार अविद्यामूलक है।

दूसरी कारिका में निरवयव ब्रह्म की अविद्यावश विचित्ररूपों में अभिव्यक्ति के सुखबोध के लिये उस के अनुकूल दृष्टान्त बताया गया है—

निरवयवस्यापि ब्रह्मणोऽविद्यया विचित्रतयाऽभिव्यक्तौ दृष्टान्तमाह—

मूल—यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः ।
संकीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥२॥

यथा विशुद्धं = वस्तुतोऽसंकीर्णम् आकाशं, **तिमिरोपप्लुतः** = तिमिरदुष्टलोचनः, जनः परिच्छेत्ता, **भिन्नाभिः** = विचित्राभिः **मात्राभिः** = केशमक्षिकादिरूपादिभिः, **संकीर्णमिवाभिमन्यते** = दोषात् पश्यति ।

जैसे आकाश वस्तुतः किसी वस्तु से कदापि संकीर्ण नहीं होता फिर भी जिस मनुष्य की दृष्टि तिमिर रोग से आक्रान्त होती है वह उसे विचित्र मात्रा यानी केश-मक्खी इत्यादि सूक्ष्मवस्तुओं से नेत्र दोषवश संकीर्ण देखता है [उसी प्रकार आकाशादि प्रपञ्च से सर्वथा शून्यब्रह्म को अविद्यादोषवश मनुष्य उन सभी वस्तुओं से अभिव्याप्त देखता है।]

ननु कथमेतत् ? 'इदं रजतं' इत्यत्रेदमंशस्य प्रमाणतोऽपरोक्षत्वस्य, रजतांशस्य च रजताकाराऽविद्यावृत्त्या साक्ष्यपरोक्षत्वस्यैव, अत्र केशादिसंकीर्णतांशेऽविद्यावृत्त्या साक्ष्यपरोक्षत्वेऽप्याकाशांशे घटवत्तस्यावच्छिन्नब्रह्मचैतन्यप्रमातृचैतन्याभेदाभिव्यञ्जकवृत्त्यभावेन प्रमाणतोऽपरोक्षत्वाऽजीवेऽनध्यस्तत्वेन च सुखादिवत् साक्ष्यपरोक्षत्वायोगात्' ? इति चेत् ? अत्रवदन्ति-यथा केवलसाक्षिगम्यस्याप्यज्ञानरजतादेः प्रामाणिकभावत्व-मिथ्यात्वादिधर्मपुरस्कारेण प्रमाणगम्यत्वम् , एवं प्रमाणिकस्यापि नभसः केवलसाक्षिवेद्यसंकीर्णताधर्मपुरस्कारेण केवलसाक्ष्यपरोक्षत्वम् , नभःसंकीर्णतावगाह्येकाविद्यावृत्तिप्रतिफलितसाक्षिणा संकीर्णतायास्तदाश्रयतया नभसश्च विषयीकरणात् ।

[आकाश की अपरोक्षता किस प्रकार ?]

इस दृष्टान्त के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है कि केश-मक्खी आदि से संकीर्ण आकाश को देखना कैसे सम्भव हो सकता है ? क्योंकि देखने का अर्थ है अपरोक्ष अनुभव करना। किन्तु जिस प्रकार 'इदं रजतम्' इस शुक्तिरजतज्ञान के प्रसङ्ग में इदमंश की प्रमाण द्वारा और रजतांश की अविद्या सम्बन्धी रजताकारवृत्ति द्वारा साक्षिप्रयुक्त अपरोक्षता होती है उस प्रकार केशादि से संकीर्ण आकाश की अपरोक्षता नहीं हो सकती। क्योंकि केशादि की संकीर्णता की आकाश में अविद्यावृत्ति से साक्षिप्रयुक्त अपरोक्षता सम्भव होने पर भी आकाश की अपरोक्षता नहीं हो सकती। क्योंकि अपरोक्षता दो ही प्रकार से होती है-प्रमाण द्वारा अथवा साक्षि द्वारा। प्रमाण द्वारा अपरोक्षता उस समय होती है जब विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य और प्रमातृचैतन्य के अभेद को अभिव्यक्त करने वाली प्रमाणजन्यवृत्ति होती है- जैसे घट की चक्षुजन्य अन्तःकरणवृत्ति का घटदेश में बहिर्गमन होने पर वृत्त्यात्मना प्रमातृचैतन्य- अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य का भी विषयदेश में संनिधान हो जाने से घटावच्छिन्नचैतन्य एवं प्रमातृचैतन्य के अभेद की अभिव्यक्ति होकर घट की अपरोक्षता होती है- किन्तु आकाश के सम्बन्ध में यह सम्भव नहीं है। क्योंकि आकाश चक्षु के अयोग्य है, अत एव आकाश को चक्षुर्जन्य अन्तःकरणवृत्ति असम्भव है, इसलिये आकाश को प्रमाणतः अपरोक्षता असम्भाव्य है। साक्षि द्वारा भी उस की अपरोक्षता नहीं हो सकती क्योंकि साक्षि द्वारा वही वस्तु अपरोक्ष होती है जो जीव में अध्यस्त होती है—जैसे जीव में अध्यस्त सुख-दुःखादि। किन्तु आकाश बाह्यवस्तु होने से जीव में अध्यस्त नहीं है।

[केवल साक्षि द्वारा आकाश की अपरोक्षता]

इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्ती विद्वानों का कहना है कि जैसे अज्ञान और शुक्तिरजतादि केवल साक्षिगम्य होता है तथापि भावत्व-मिथ्यात्वादि प्रामाणिक धर्मों द्वारा प्रमाणगम्य भी होता है, उसी प्रकार प्रामाणिक आकाश केवल साक्षीवेद्य केशादिसंकीर्णतारूप धर्म के साथ केवल साक्षिद्वारा अपरोक्ष हो सकता है, क्योंकि आकाश में केशादिसंकीर्णता विषयक एक अविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बित साक्षीसंकीर्णता को और संकीर्णता के आश्रयरूप में आकाश को विषय कर सकता है।

नन्वेवमविद्यावृत्तिविषयतया साक्षिविषयीकृतत्वाद् प्रमानुमिताविवापरोक्षत्वं न स्यादिति चेत् ?

न, ईश्वरस्य मायावृत्तिविषयतयाऽतीता-ऽनागतानामपरोक्षत्वत् प्रकृतेऽपि तथात्वात्, भ्रमप्रमानु-मित्यादावविद्यान्तःकरणवृत्तिविषयतया वह्नेः साक्षिसंबन्धेऽपि लिङ्गादिप्रतिसंधानापेक्षत्वादपरोक्ष-त्वव्यवहाराभावात्, अज्ञानविषयतया घटवह्न्यादेः साक्षिसंबन्धे तूक्तहेतोरभावात् तद्भावात् । ततो विषयपक्षपातितया नभोनिष्ठसंकीर्णताभावाज्ञानस्य नभोऽवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठापि संकीर्णता साक्षिणि स्वाकाराविद्यावृत्तिविषयतया स्वाध्यस्ता लिङ्गादिप्रतिसंधानाभावादपरोक्षैव व्यवह्रियते । 'अधिष्ठानज्ञानं विना कथं नभसि संकीर्णताभ्रमः, न च केवलस्याधिष्ठानस्याविद्यावृत्तिरूपं ज्ञानं संभवति, प्रामाणिकत्वात् ?' इति चेत् ? न तज्ज्ञानस्यानुमितिरूपत्वात्, भ्रमात् प्रागधिष्ठानस्य परोक्षत्वेऽपि भ्रमदशायामपरोक्षत्वात्, प्रागपरोक्ष एवाधिष्ठानेऽपरोक्षभ्रम इति नियमाभावा-दिति । ततः स्थितमेतदाकाशमसंकीर्णमप्यविद्यावृत्त्या संकीर्णमिव पश्यतीति ॥ २ ॥

[आकाश-अपरोक्ष न हो सकने की पुनः आशंका]

उक्त प्रतिपादन के सम्बन्ध में शंका हो सकती है कि 'आकाश' अविद्या की वृत्ति के विषय-रूप में साक्षि द्वारा गृहीत होने के कारण अपरोक्ष नहीं हो सकेगा। क्योंकि 'ह्रदो वह्निमान्'= इत्यादि भ्रमात्मक अनुमिति स्थल में ह्रद में भासित होने वाला अनिर्वचनीयवह्नि अविद्यावृत्ति के विषयरूप में साक्षि का विषय होने पर भी अपरोक्ष नहीं होता।'–किन्तु यह शंका कुछ क्षति नहीं कर सकती, क्योंकि जैसे अतीत-अनागत पदार्थ माया की वृत्ति के विषयरूप में ईश्वर साक्षी का विषय होने से ईश्वर को अपरोक्ष होते हैं उसी प्रकार केशादि संकीर्णरूप में गृहीत होने वाले आकाश की भी अपरोक्षता हो सकती है।

यद्यपि भ्रमात्मक और प्रमात्मक अनुमिति आदि स्थलों में भी वह्नि का क्रम से अविद्या और अन्तःकरण की वृत्ति के विषय के रूप में साक्षी से सम्बन्ध होता है तथापि लिंगव्याप्ति-पक्षधर्मता के निश्चय की अपेक्षा होने से उसमें अपरोक्षत्वव्यवहार नहीं होता। किन्तु जब घट और वह्नि आदि का 'घटमहं न जानामि'-'वह्निमहं न जानामि' इस प्रकार अज्ञान के विषयरूप में साक्षी के साथ सम्बन्ध होता है तब उस में लिङ्ग आदि के निश्चयरूप हेतु की अपेक्षा न होने से उन में अपरोक्षत्व-व्यवहार होता है। निष्कर्ष यह है कि आकाश में केशादि संकीर्णता के अभाव का अज्ञान अधिष्ठान-रूप विषय का पक्षपाती होता है। अतः उससे जो अनिर्वचनीय केशादिसंकीर्णता उत्पन्न होती है वह आकाश से अवच्छिन्न चैतन्य में ही रहती है। तथापि अविद्यावृत्ति के विषयरूप में साक्षी में अध्यस्त होने से अपरोक्ष होती है। उस में लिङ्गादि के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। अत एव वह अपरोक्ष शब्द से व्यवहृत होती है।

[केशादि संकीर्णता का प्रत्यक्ष भ्रमरूप कैसे ?]

इस संदर्भ में यह शंका हो सकती है कि–"केशादि संकीर्णता के भ्रम का अधिष्ठान आकाश होता है किन्तु अतीन्द्रिय होने से उसका प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है अतः उस में केशादि संकीर्णता का प्रत्यक्ष भ्रम कैसे हो सकता है ? इस के उत्तर में यह भी नहीं कहा जा सकता कि संकीर्णताभ्रम के पूर्व केवल आकाश का अविद्यावृत्तिरूप ज्ञान होता है,–क्योंकि आकाश ब्रह्म में

अध्यस्त होने से व्यावहारिक और प्रामाणिक है और जो ब्रह्म में अध्यस्त प्रामाणिक पदार्थ होता है वह अविद्यावृत्ति का विषय नहीं होता।"- किन्तु इस शंका से भी कोई क्षति नहीं है क्योंकि आकाश का प्रत्यक्षज्ञान सम्भव न होने पर भी अनुमितिरूप ज्ञान हो सकता है। और इस प्रकार भ्रम से पूर्व आकाशरूप अधिष्ठान के परोक्ष होने पर भी भ्रम दशा में उसकी अपरोक्षता हो सकती है। क्योंकि जो अधिष्ठान भ्रम के पूर्व अपरोक्ष होता है उसी अधिष्ठान में अपरोक्षभ्रम होता है-यह नियम नहीं है। अतः निर्विवाद सिद्ध है कि मनुष्य केशादि से असंकीर्ण भी आकाश को अविद्यावृत्ति द्वारा केशादि से संकीर्ण जैसा प्रत्यक्ष देखता है।

तीसरी कारिका में उक्त दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक यानी दृष्टान्त द्वारा संवेद्य ब्रह्म में योजना बतायी गयी है।

दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-

मूल—**तथेदममलं ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया।**
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रकाशते ॥ ३ ॥

तथेदं = साक्षादपरोक्षम्, **अमलं** = सजातीयभेदरहितम्, **निर्विकल्पं** = विजातीयभेदविकल्पविकलम्, **ब्रह्म अविद्यया** हेतुभूतया **कलुषत्वमिवापन्नं** = सजातीयभागिव, **भेदरूपं** = विजातीयभेदभागिव **प्रकाशते**। अविद्यानिवृत्तौ च शुद्धब्रह्मप्रतिपत्तिः। तथाहि-कश्चित् खलु नित्याध्ययनविधिना सम्यगधीतवेदान्तो वेदान्तवाक्यानामापाततोऽर्थमवगच्छति।

[अविद्या से ब्रह्म में भेद प्रतीति]

[जिस प्रकार केशादि से असंकीर्ण आकाश अविद्यावृत्ति से केशादि से संकीर्ण दीखता है] उसी प्रकार अमल = सजातीयभेद से शून्य, निर्विकल्प = विजातीयभेद से शून्य ऐसे ब्रह्म में-सजातीयभेद और विजातीयभेदरूप कलुषत्व को प्राप्त जैसा प्रतीत होता है, तथा अविद्या की निवृत्ति होने पर शुद्ध ब्रह्म का बोध होता है। जैसे कोई मनुष्य-जिसने 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'-वेदाध्ययन करना चाहिये। इस नित्य विधि के अनुसार वेदान्त का सम्यक् अध्ययन किया है वह आपाततः वेदान्त वाक्यों का अर्थबोध प्राप्त करता है।

ननु कथमध्ययनविधेर्नित्यत्वम्, स्वाध्यायाध्ययनस्यार्थबोधफलकत्वात्? न ह्यध्ययनस्यावघातादिवदुत्तरक्रतवङ्गत्वम्, श्रुत्याद्यसत्त्वात्। तदवश्यं फले कल्पनीये न विश्वजिद्वत् स्वर्गः फलम्, स्वर्गोपस्थितेस्तस्य प्रकृतकर्मफलतायाश्च कल्पनायां गौरवात्। न चार्थवादिकं पितृणां पयःकुल्याप्राप्त्यादि 'यद् ऋचोऽधीते' इत्याद्युक्तं तत्फलम्, तस्य ब्रह्मयज्ञार्थवादत्वात्, दृष्टे संभवत्यदृष्टकल्पनानुपपत्तेश्चार्थावबोधस्यैव फलत्वात्। न च विधिवैयर्थ्यम्, नियमविधित्वादुपदेष्टादीनां साधनत्वेनाध्ययनस्य पक्षप्राप्तेः। तस्मात् काम्यत्वाद् न नित्यत्वमध्ययनस्येति चेत्?

[अध्ययनविधि नित्य न होने की आशंका]

स्वाध्याय के अध्ययनविधि के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है कि वह विधि नित्य कैसे हो सकती है ? जब कि स्वाध्याय=वेद का अध्ययन अर्थबोध-फलक होता है। क्योंकि वही विधि नित्य होती है जिस का सन्ध्यावन्दनादि के समान कोई फल नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि-वेदार्थबोध भी वेदाध्ययन का फल नहीं है क्योंकि-वेदान्त का अध्ययन तण्डुल के अवघातादि के समान अपने अनन्तर होने वाले यज्ञ का अङ्ग है-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि वेदाध्ययन में यज्ञ की अङ्गता की बोधक कोई श्रुति आदि प्रमाण है नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि-वेदाध्ययन वेद से विहित है अत एव उस का कोई न कोई फल अवश्य कल्पनीय है, अतः जैसे 'विश्वजिता यजेत' विश्वजित् याग की इस विधि के कारण उस याग का 'स्वर्ग' फल माना जाता है उसी प्रकार वेदाध्ययन का भी स्वर्ग फल माना जा सकता है। क्योंकि अध्ययनविधि से अथवा उस के किसी शेष वाक्य से स्वर्ग की उपस्थिति नहीं होती। अतः स्वर्ग की उपस्थिति और उसमें वेदाध्ययन रूप प्रकृत कर्म के फलत्व की कल्पना में गौरव है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि–'यद् ऋचोऽधीते, इत्यादि शास्त्रवचन से पितरों के श्राद्ध के समय वेदपाठ का विधान है अतः उसके अर्थवाद वाक्यों में पितरों के सम्बन्धी पयःकुल्या='दुग्ध की नहर' आदि का उसके फलरूप में जो वर्णन है उस के आधार पर उस वेदपाठ का उक्त फल माना जाता है वही वेदाध्ययन सामान्य का फल है।"-क्योंकि उक्त फल का बोधक वाक्य ब्रह्मयज्ञ का अर्थवाद है। अत एव उस अर्थवाद में वर्णित फल ब्रह्मयज्ञ का ही फल हो सकता है, वेदाध्ययन का नहीं हो सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि–'पुण्य ही वेदाध्ययन का फल है, क्योंकि जब उसका अर्थबोधरूप फल सम्भव है, तो दृष्ट फल सम्भव होने पर अदृष्ट फल की कल्पना असङ्गत है.-इस न्याय से अर्थबोध को ही वेदाध्ययन का फल मानना उचित है। यदि यह कहा जाय–'यदि अर्थबोध ही वेदाध्ययन का फल हो तो उसका विधान व्यर्थ है क्योंकि विधान के बिना भी वेदाध्ययन करके वेदार्थबोधरूप फल प्राप्त किया जा सकता है।-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्तविधि नियमविधि है जिसका आशय यह है कि वेदाध्ययन से ही वेदार्थबोध प्राप्त करना चाहिये और इस नियम विधान की आवश्यकता इसलिए होती है जिससे अर्थबोध के अन्य साधन-उपदेष्टा के उपदेश श्रवण आदि से वेद अध्ययन पाक्षिक न हो जाय अर्थात् वेदार्थ जिज्ञासु वेद का अध्ययन न कर उपदेष्टादि के द्वारा प्रकारान्तर से वेदार्थबोध को प्राप्त करने में प्रवृत्त न हो। प्रश्नकर्ता के कथन का निष्कर्ष यह है कि वेदाध्ययन यतः अर्थबोधफलक है अतः वेदार्थ जिज्ञासु के लिये काम्य होने से नित्यविधि रूप नहीं हो सकता; क्योंकि नित्यविधि काम्य नहीं हो सकती।

अत्र वदन्ति–काम्यत्वेऽपि फलतो नित्यत्वमविरुद्धम्। अत एव 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिॠणवान् भवति–१. यज्ञेन देवेभ्यः, २. प्रजया पितृभ्यः, ३. ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः' इति ऋणश्रुतिः।

"योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१॥" इति स्मृतिश्च।

[ऋणश्रुति और शूद्रत्व-स्मृति से वेदाध्ययन की फलतः नित्यता सिद्धि]

इसके उत्तर में वेदान्ती विद्वानों का यह कहना है कि वेदाध्ययन काम्य होने पर भी उस की फलतः नित्यता में कोई विरोध नहीं है। आशय यह है कि नित्यविधि दो प्रकार की होती है– स्वरूपतः और फलतः। इन में पहली काम्य और नैमित्तिक विधि से भिन्न विधि है जिसके अकरण में प्रत्यवाय होता है। दूसरी वह जिसकी किसी अनुद्दिष्ट फल के लिये अनुमान द्वारा नित्यानुष्ठेयता सिद्ध हो। वेदाध्ययन की फलतः नित्यता ऋणश्रुति और शूद्रत्व 'स्मृति' से सिद्ध होती है। आशय यह है कि 'जायमानो वै०' इस ऋणश्रुति में यह बताया गया है कि ब्राह्मण दम्पती से उत्पन्न होने वाला मनुष्य जन्मकाल से ही देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण इन तीन ऋणों से ग्रस्त होता है। इन से मुक्ति (१) देवप्रीति के लिये यज्ञानुष्ठान (२) पितृप्रीति के लिये पुत्रोत्पादन और (३) ऋषिप्रीति के लिये वेदाध्ययन करने से सम्पन्न होती है। इस से स्पष्ट है कि ब्राह्मण बालक पर जन्म से ही लदा हुआ ऋषिऋण यतः वेदाध्ययन से ही निवृत्त होता है अतः ब्राह्मण बालक के लिये वेदाध्ययन नित्यअनुष्ठेय है। एवं 'योऽनधीत्य०' इस स्मृति से बताया गया है–जो द्विज=ब्राह्मण वेदों का अध्ययन न कर अन्य कार्यों में श्रम करता है वह जीते ही सान्वय यानी-वंशसहित शीघ्र ही शूद्र हो जाता है। इस स्मृतिवचन से भी पूर्णतया स्पष्ट है कि यतः वेदाध्ययन के अभाव में ब्राह्मण शूद्र हो जाता है अतः शूद्रत्वप्राप्ति के परिहार के लिये वेदाध्ययन ब्राह्मण का नित्य अनुष्ठान कर्म है।

नन्वेवं स्वरूपत एव नित्यत्वमस्तु, तथा चाग्निहोत्रादिवत् काम्यत्वव्याघात इति चेत् ? किमिदं स्वरूपनित्यत्वम् ? यदि तावदवश्यकर्तव्यता, तदा तदुच्यत एव फलतः। अथाऽकरणे प्रत्यवायः, सोऽपीष्यत एव, अध्ययनाऽकरणे धर्मानवबोधेनोत्तरकर्माभावात्। अथ नैमित्तिकत्वम् ? तदयुक्तम्, अग्निहोत्रादिवद् निमित्ताऽश्रवणात्, फलतो नित्यत्वेन ऋणश्रुत्याद्युपपत्तौ निमित्तकल्पनानवकाशात्। अत एवाध्ययनाऽकरणनिमित्तको न प्रत्यवायः।

अथवा, तदकरणेऽपि प्रत्यवाय एव, 'विहितस्याननुष्ठानात्' इत्यत्रावश्यकत्वेनानुगतीकृतयोः फलतो नित्य-नैमित्तिकयोर्विहितपदेनोपादानात्।

[स्वरूपनित्यत्व किस को कहते हैं ?]

उक्त प्रतिपादन के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है कि "वेदाध्ययन को फलतः नित्य न मानकर स्वरूप से ही नित्य क्यों न मान लिया जाय, जिस से अग्निहोत्रादि के समान उसमें काम्यत्व का अभाव हो ?" इस प्रश्न के संदर्भ में स्वरूपनित्यत्व के विषय में जिज्ञासा होती है कि वेदाध्ययन में जिस स्वरूपनित्यत्व के अभ्युपगम का प्रश्न प्रस्तुत है वह क्या है ? यदि अवश्यकर्त्तव्यतारूप हो तो वह फलतः नित्यता पक्ष में भी मान्य ही है। 'न करने में प्रत्यवाय' रूप हो अर्थात् जिसको न करने से पाप लगे वह स्वरूपतः नित्यविधि होती है यदि यह स्वरूपतः नित्यता का अर्थ हो तो वह भी फलतः नित्यता पक्ष में इष्ट ही है। क्योंकि वेद-अध्ययन न करने पर धर्म का अवबोध न होने से उत्तर कर्म का अनुष्ठान न होगा। अतः उत्तर कर्म के परित्याग से प्रत्यवाय-पापसंबंध होना अनिवार्य है।

यदि यह कहा जाय कि स्वरूपत:नित्यत्व नैमित्तिकत्वरूप है तो यह अध्ययनविधि में नहीं घट सकता; क्योंकि अग्निहोत्रादि के समान अध्ययनविधि में निमित्त का श्रवण नहीं है। तथा फलत: नित्य होने से भी उक्त ऋणश्रुति आदि की उपपत्ति सम्भव होने से निमित्त की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अध्ययन नैमित्तिक न होने से ही उसके अकरण से प्रत्यवाय नहीं होता।

अथवा अध्ययन के अकरण में भी प्रत्यवाय होता ही है क्योंकि 'विहितस्याऽननुष्ठानात्०' इस वचन में फलत: नित्य और नैमित्तिक दोनों का आवश्यकत्वरूप से अनुगम करके विहितपद से ग्रहण होता है। अर्थात् 'विहितस्या०' का 'आवश्यकस्य अननुष्ठानात्' में तात्पर्य है। अत: फलत: नित्य अध्ययन के आवश्यक होने से उस का अनुष्ठान न करने पर प्रत्यवाय होता है।

अर्थावबोधफलकत्वं तु प्रकृतस्वाध्यायविधेरयुक्तम्, श्रवणादिविधेः साधनचतुष्टयसंपन्नाधिकारित्वश्रवणात्, अनन्तरदृष्टादृष्टाकर्तव्यब्रह्मयज्ञाद्यर्थावाप्तेरेव तत्फलत्वात्। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यत्राध्ययनसंस्कृतेन स्वाध्यायेनार्थावबोधं भावयेदित्यर्थात्, संस्कारश्चावाप्तिः, इति श्रुतिपरित्यागाऽयोगात्, क्षत्रियस्य निषादेष्ट्यादिवाक्याध्ययनेऽर्थावबोधस्य निष्प्रयोजनत्वेनावाप्तिफलत्वावश्यकत्वाच्चेति दिग्।

[वेदाध्ययन का फल वेद प्राप्ति]

इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि स्वाध्यायविधि को जो अर्थावबोधफलक बताया गया है वह प्रकृत में सङ्गत नहीं है, क्योंकि प्रकृत में स्वाध्यायविधि का अर्थ है वेदान्ताध्ययनविधि। उसे अर्थावबोधफलक कहना उचित नहीं है। क्योंकि वेदान्त का अध्ययन श्रवणादि में उपयोगी है और श्रवणादिविधि का अधिकारी श्रुति के अनुसार साधनचतुष्टय से सम्पन्न पुरुष है। वेदान्त का अर्थावबोध श्रवणादि के अधिकार नियामकों में श्रुत नहीं है। अत: अनन्तरपूर्व में उक्त प्रतिदिन-कर्त्तव्यब्रह्मयज्ञादि रूप अर्थ की प्राप्ति ही वेदान्त का फल है। क्योंकि ब्रह्मयज्ञ में वेदान्त पठनीय होने से उस के अध्ययन बिना ब्रह्मयज्ञ की सम्पन्नता नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य:' इस विधिवचन का 'अध्ययनसंस्कृतस्वाध्याय=वेद से अर्थावबोध प्राप्त करें' यह अर्थ होता है। अध्ययन से वेद के संस्कार का अर्थ है—अध्ययन से वेद की प्राप्ति। अत: इस श्रुतिवचन से ज्ञात होने वाले वेदप्राप्तिरूप वेदाध्ययन के फल का परित्याग उचित नहीं है। एवं निषाद= एक विशेष जाति के शूद्र के लिये विहित इष्टि=याग आदि से सम्बन्धित वेदवाक्यों के अध्ययन से, उन वाक्यों से अर्थबोध प्राप्त करना-क्षत्रिय के लिये निष्प्रयोजन है। क्योंकि उस का याजन और अध्यापन एवं उस वेदभाग से वर्णित यज्ञादि में भी उसका अधिकार नहीं है। किन्तु अध्ययनविधि के अनुसार उस वेदभाग का भी अध्ययन क्षत्रिय के लिये अनुष्ठेय है। अत: वेद की अवाप्ति को ही अध्ययन का फल मानना आवश्यक है।

आपातता च वेदान्तवाक्यार्थाधिगमस्य निःसामान्यविशेषब्रह्मावधारणरूपस्यापि संशयाविरोधितैव। यत्त्वेककोटिकानिश्चयरूपतैवाऽऽपाततेति, तन्न, अनिश्चयरूपस्यानेककोटिकत्वेन क्लृप्तत्वात्। 'अनिश्चयमपि किञ्चिदेककोटिकं कल्पयिष्याम' इति चेत्? निश्चयमेव कञ्चित्

संशयाविरोधिनं कल्प्यन्ताम्, वेदानां स्वार्थे निश्चितप्रमाजनकत्वात् । वस्तुतः परेषामप्रामाण्यज्ञानस्थलेऽस्माकं दोषविशेषस्य लाघवादुत्तेजकत्वम् । अत एव व्यवसायसामर्थ्यात् तद्वत्त्वस्य तत्प्रकारकत्वस्य चानुपस्थितस्यापि 'जलमहं जानामि' इति ज्ञानेऽवश्यं भानात् प्रामाण्यनिश्चयेऽप्यनभ्यासादिदोषात् तत्संशयः । दृश्यते च काशीस्थस्याप्याद्रमरिचप्रत्यक्षेऽसंभावनादोषात् तत्संशयः, तद्वदधीताद् वेदान्तवाक्याद्ब्रह्मबोधेऽप्यसंभावनादोषाद् युक्तः संशय इति । तदयमापातज्ञानवानिह जन्मनि जन्मान्तरे वाऽनुष्ठितकर्मभिर्विशुद्धान्तःकरणो नित्यानित्यादिविवेकं लभते ।

[आपात यानी संशयाविरोध]

पूर्व में कहा गया था कि वेदान्त के विधिवत् अध्ययन से वेदान्त वाक्यों का आपाततः अर्थबोध होता है । उसमें अर्थबोध की आपातता संशय की अविरोधिता रूप है । इस प्रकार वेदान्त के अर्थबोध को आपाततः कहने का अर्थ यह है कि वेदान्त वाक्य से जो अर्थाधिगम होता है वह सामान्य विशेष सभी प्रकार के धर्मों से मुक्त ब्रह्म का अवधारण स्वरूप होने पर भी संशय का विरोधी नहीं होता । अर्थात् वेदान्त से अवगत ब्रह्मस्वरूप के विषय में अन्यथा संशय सम्भव रहता है ।

आपात के सम्बन्ध में यह कहना कि-'आपात' का अर्थ है एक कोटिक अनिश्चय-यह ठीक नहीं है क्योंकि अनिश्चय यानी निश्चयभिन्नज्ञान अनेक कोटिक ही सिद्ध है; और यदि आपात का उक्त अर्थ बताने के लिये यत्किञ्चित् एक कोटिक अनिश्चय की भी कल्पना की जाय तो वह भी उचित नहीं है । उसकी अपेक्षा संशयाविरोधी निश्चय की ही कल्पना उचित है क्योंकि वेद अपने अर्थ के निश्चयात्मक प्रमाण के ही जनक होते हैं, अनिश्चय के जनक नहीं होते । वेदान्त से उत्पन्न ब्रह्मस्वरूप का निश्चय दोषवश अप्रामाण्य ज्ञान से आस्कन्दित होने के कारण संशय का अविरोधी हो जाता है । क्योंकि अप्रामाण्यज्ञान से अनास्कन्दित निश्चय ही अपने में प्रकारविधया भासमान धर्म के विरोधी धर्म को ग्रहण करने वाली समानधर्मिक बुद्धि का प्रतिबन्धक होता है । जैसे 'घटः रूपवान्' यह निश्चय अप्रामाण्यज्ञानाभाव दशा में ही 'घटो न रूपवान्' अथवा 'घटः रूपवान् न वा' इस बुद्धि का विरोधी होता है ।

[प्रमानिश्चय प्रतिबन्धकता में दोषविशेष की उत्तेजकता]

किन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि न्यायादि मत में ही अप्रामाण्यज्ञान प्रतिबन्धकता में उत्तेजक होता है, वेदान्तमत में नहीं । वेदान्त मत में अप्रामाण्यज्ञान सर्वत्र प्रतिबन्धकता में उत्तेजक नहीं होता; क्योंकि प्रमात्मक निश्चय की प्रतिबन्धकता में अप्रामाण्यज्ञान के स्थान में लाघव से दोषविशेष ही उत्तेजक माना जाता है । जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' यह निश्चय स्व में अप्रामाण्यभ्रम का जनक दोष रहने पर 'पर्वतो वह्न्यभाववान्' इस बुद्धि का प्रतिबन्धक नहीं होता । अतः उक्त बुद्धि के प्रति उक्त दोषाभाव विशिष्ट वह्नि निश्चय प्रतिबन्धक होता है । इस प्रतिबन्धकता में विरोध्यबुद्धि के प्रति अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित विरोधी प्रमात्मकनिश्चय को प्रतिबन्धक मानने की अपेक्षा लाघव स्पष्ट है क्योंकि अप्रामाण्य तदभाववति तत्प्रकारकत्व, तद्वति तत्प्रकारकत्वाभाव, निष्प्रकारकत्व,

निर्विशेष्यकत्वादि बहु प्रकार का होने से और उनका कोई अनुगमक रूप न होने से पृथक् पृथक् तत्तदप्रमाण्यज्ञानाभाव का प्रतिबन्धकतावच्छेदक कोटि में प्रवेश करने में गौरव है और दोष का उक्त अप्रामाण्य ज्ञानों में यत्किञ्चित् अप्रामाण्यभ्रमजनकत्वरूप से अनुगम कर एक दोषाभाव का प्रतिबन्धकतावच्छेदक कोटि में प्रवेश सम्भव होने से लाघव है।

[अप्रामाण्यज्ञान की उत्तेजकता असंभवित]

यह भी ज्ञातव्य है कि प्रतिबन्धकता में अप्रामाण्यज्ञान सर्वत्र उत्तेजक हो भी नहीं सकता; क्योंकि अनेक बार अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित विरोधी निश्चय के रहने पर भी दोषवश प्रतिबध्य बुद्धि का उदय हो जाता है। जैसे 'इदं जलम्' इस व्यवसाय से तद्वत्त्व = तद्वद्विशेष्यकत्व-जलत्ववद्विशेष्यकत्व एवं तत्प्रकारकत्व-जलत्वप्रकारकत्व की उपस्थिति न होने पर भी उस व्यवसाय के 'जलमहं जानामि' इस अनुव्यवसाय में उक्त ज्ञानांश में जलत्ववद्विशेष्यकत्व और जलत्वप्रकारकत्व का भान होने से उक्त ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय हो जाता है। अर्थात् यह अनुव्यवसाय ही व्यवसाय में प्रामाण्यनिश्चयात्मक होता है; तथा उन में अप्रामाण्यज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितप्रामाण्य का निश्चय हो जाने पर भी उक्त 'इदं जलं' इस ज्ञान में अनभ्यासदोषवश प्रामाण्य का संशय होता है। आशय यह है कि एक ही व्यक्ति को 'इदं जलम्' इस ज्ञान के समानविषयक ज्ञानों का पुनः पुनः उदय होकर जब इस प्रकार के ज्ञान में प्रामाण्य निश्चय हो जाता है तब उस के बाद पुनः जब इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है और उस में निश्चितप्रामाण्य वाले पूर्वज्ञान के समानविषयकत्वरूप साजात्य का निश्चय हो जाता है तो यह निश्चय दशा ही अभ्यास कहा जाता है; और इस स्थिति के पूर्व की स्थिति को अनभ्यास कहा जाता है। यह अनभ्यास ही ज्ञान में अप्रामाण्यसंशय का उत्पादक दोष होता है। इसीलिये जब भी 'इदं जलम्' इत्यादि रूप में कोई ज्ञान पहली बार उत्पन्न होता है तो उस के अनुव्यवसाय से उस ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय हो जाने पर भी अनभ्यासवश उस ज्ञान में प्रामाण्य का संशय होता है। प्रामाण्यसंशय में अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित प्रामाण्य निश्चय को प्रतिबन्धक न मानकर अनभ्यास दोषानास्कन्दितप्रामाण्यनिश्चय को प्रतिबन्धक मानना आवश्यक है।

(असम्भावना दोष रहने पर संदेह का सम्भव)

एवं यह भी देखा जाता है कि काशीस्थ व्यक्ति को जिसे मरिच में आर्द्रत्व बुद्धि के पौनः पुन्य से मरिच में आर्द्रता के प्रत्यक्ष में प्रामाण्यनिश्चय हो जाने से उस में अप्रामाण्यसंशय नहीं हो सकता-उसे भी कभी विशेषकारण से 'मरिचमार्द्रं न सम्भवति' इस प्रकार की बुद्धिरूप असम्भावना दोष के उपस्थित होने पर मरिच में आर्द्रता का अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित प्रत्यक्ष रहने पर भी मरिच में आर्द्रता का संदेह होता है। उस के अनुरोध से उस प्रत्यक्ष को भी अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दित आर्द्रता-निश्चयत्वरूप से आर्द्रत्व संशय का प्रतिबन्धक न मान कर असम्भावनादोषानास्कन्दितआर्द्रतानिश्चयत्व-रूप से ही प्रतिबन्धकता मानना उचित है।

तो इस प्रकार जैसे असम्भावना दोष से आर्द्रमरिच के प्रत्यक्ष में काशीस्थ व्यक्ति को भी अप्रामाण्यसंशय होता है उसी प्रकार अधीतवेदान्तवाक्य से अद्वितीय ब्रह्म का बोध होने पर भी 'ब्रह्म में अद्वितीयत्वादि सम्भव नहीं है' इस प्रकार भी बुद्धिरूप असम्भावना दोष से ब्रह्म में अद्वितीयत्वादि का संशय होना युक्तिसङ्गत है। इस प्रकार जिस मनुष्य को वेदान्तवाक्य से अद्वितीय ब्रह्म का

आपाततज्ञान प्राप्त है और जिस का अन्तःकरण इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में पुण्यकर्मों के अनुष्ठान से विशुद्ध = निष्पाप हो चुका है वह नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक, भेदज्ञान आदि साधनचतुष्टय को प्राप्त करता है।

ननु ? कथं कर्मणां तत्तत्फलसाधनानामन्तःकरणशुद्धिहेतुत्वम् ? इति चेत् ? अत्र वदन्ति--नित्यानां तावत् कर्मणां पापक्षयहेतुत्वमावश्यकम्, ज्ञानाऽज्ञानकृतानां सर्वपापानां पुरुषेषु सत्त्वात्, तत्क्षयस्य सर्वदा सर्वाभीप्सितत्वात्, दुःखवत् पापस्यापि द्वेष्यतया तन्निवृत्तेः काम्यत्वात्, अहरहःकर्तव्यत्वेनावगतानां नित्यानां तेनैव फलवत्त्वात्, स्वर्गादेर्नियतानुपस्थितिकत्वात्, प्रत्यवायप्रागभावस्य चाऽसाध्यत्वादिति। तदुक्तम्—'धर्मेण पापमपनुदति' इत्यादि। यद्वा, 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादिश्रुत्वा तत्तत्फलसंयुक्तानामपि कर्मणां 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इति न्यायाद् विविदिषासंयोगस्य ज्ञानसंयोगस्य चा(वा)विधानात् तत्रान्तःकरणशुद्धेर्द्वारत्वम्।

[विहित कर्मों से अन्तःकरण शुद्धि की मीमांसा]

पुण्यकर्मानुष्ठान से अन्तःकरणशुद्धि के विषय में यह प्रश्न होता है कि शास्त्र द्वारा तत्तत्कर्म तत्तत्फल के साधनरूप में विहित है। अतः उन के अनुष्ठान से तत्तत्फलों का ही उदय हो सकता है वे अन्तःकरण की शुद्धिरूप फल के हेतु कैसे हो सकते हैं ?

इस के उत्तर में वेदान्ती विद्वानों का यह कहना है कि नित्यकर्म को पापक्षयरूप अन्तःकरण शुद्धि का हेतु मानना आवश्यक है क्योंकि पुरुष में ज्ञान अथवा अज्ञान से किये गये अनेक पाप होते हैं; और उन का क्षय सभी को सर्वदा अभीष्ट होता है। क्योंकि दुःख के समान दुःखजनक पाप भी द्वेष का विषय होता है। अतः पाप की निवृत्ति सभी को काम्य होती है। 'अहरहःसंध्यामुपासीत' इत्यादि विधिवचनों से प्रतिदिन कर्त्तव्यरूप में जो कर्म अवगत होते हैं वे नित्य कहे जाते हैं। उन का कोई अन्य फल नहीं होता। वे पापक्षय करने से ही फलवान् होते हैं। स्वर्गादि उन का फल नहीं माना जा सकता क्योंकि उन कर्मों के अवबोध के साथ स्वर्गादि की नियमतः उपस्थिति नहीं होती। उन कर्मों के न करने से प्रत्यवाय होता है अत एव प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति का अर्थ है प्रत्यवाय का प्रागभाव और वह अनादि होने से साध्य नहीं हो सकता।

शास्त्र भी पापक्षय को ही उन का फल बताता है। इस में 'धर्मेण पापमपनुदति'='धर्म से पाप का क्षय करें' इत्यादि शास्त्रवचन साक्षी है।

[संयोगपृथक्त्व० न्याय से काम्यकर्मों से अन्तःकरणशुद्धि की सिद्धि]

वेदान्ती की ओर से उक्त प्रश्न का यह भी उत्तर ज्ञातव्य है कि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति-यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन'=ब्राह्मण (पाप) नाशक वेदाध्ययन-यज्ञ-दान और तप से पूर्वोक्त आत्मा की जिज्ञासा (सन् प्रत्ययान्त विविदिषा शब्द से लभ्य) अथवा ज्ञान (स्वार्थिक सन् प्रत्ययान्त विविदिषा शब्द से लभ्य) का सम्पादन करे'-इस श्रुति से तत्तत्फल से संयुक्त कर्मों के साथ भी मीमांसकों के 'संयोगपृथक्त्व' न्याय से जिज्ञासा और ज्ञानरूप फल के सम्बन्ध का विधान है अतः काम्यकर्म भी पापक्षयरूप अन्तःकरणशुद्धि के हेतु हैं।

आशय यह है कि जिन कर्मों का शास्त्र में एकाधिक फल बताया गया है उन के सम्बन्ध में मीमांसा दर्शन में 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इस सूत्र से यह व्यवस्था की गई है कि एककर्म शास्त्र में यदि उभयफल से सम्बद्ध बताये गये हो, तो दोनों फलों के साथ उस कर्म का पृथक् पृथक् सम्बन्ध होता है। अर्थात् शास्त्रोक्तफलों में जिस फल की कामना से जब वह कर्म अनुष्ठित होता है तब वह उस फल का साधक होता है। उस व्यवस्था के आधार पर प्रकृत में काम्य कर्मों के सम्बन्ध में भी यह मानना उचित है कि जो कर्म अन्य फल के साधनरूप में विहित हैं वे उस फल की कामना से अनुष्ठित होने पर उस फल के साधक होते हैं और विविदिषा अथवा ज्ञान की कामना से अनुष्ठित होने पर विविदिषा किंवा ज्ञान के साधक होते हैं। अन्तःकरणशुद्धि यह विविदिषा और ज्ञान के उदय में वेदविहितकर्मों का द्वार है।

न च प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वमिति न्यायाद् यत्र प्रकरणान्तरमनुपादेयगुणश्च, तत्र 'मासमग्निहोत्रं जुहोति', 'आग्नेयं निर्वपेत् ऋद्धिकाम' इत्यादाविव कर्मान्तरत्वनियमादत्रापि तत्प्राप्तिरिति **वाच्यम्**, यज्ञादिसंबद्धविधेरत्राऽश्रवणात्, प्रसिद्धानामाख्यातासमानाधिकरण-व्यवहितपरामर्शसमर्थसुबन्तपरामृष्टानां कर्मणां फलसंबन्धमात्रविधानोपपत्तावपूर्वविध्यकल्पनात्। अत एव 'सर्वेभ्यो दर्श-पूर्णमासौ' इत्यादौ सर्वसंबन्धमात्रपरत्वाद् न कर्मान्तरत्वम्। उक्तं च "सर्वकामार्थता तस्मादप्राप्तेह विधीयते" इति।

[अन्तःकरणशुद्धिफलक यज्ञादि काम्यकर्म यज्ञादि से भिन्न हैं ?]

फलान्तर के उद्देश से विहित कर्मों को अन्तःकरणशुद्धिफलक मानने पर यदि यह कहा जाय कि-'तमेतं वेदानुवचनेन०' इस श्रुति में जिस यज्ञादि की चर्चा है उस को अन्य फल के उद्देश से विहित यागादि से भिन्न कर्म मानना उचित है। क्योंकि मीमांसा का यह न्याय है कि 'प्रकरणान्तरे प्रयोजना-न्यत्वम्' अर्थात्-अन्य प्रकरण में कर्म का प्रयोजनभेद उस कर्म के कर्मान्तरत्व से होता है। इस के अनुसार, जो कर्म पूर्व प्रकरण में विहित कर्म के नाम से अन्य प्रकरण में भी विहित होता है और उस में पूर्व प्रकरण में उक्त कर्मगुण का उपादान नहीं होता वह कर्म पूर्व प्रकरण के कर्म से भिन्न कर्म होता है। जैसे 'मासमग्निहोत्रं जुहोति'='मास पर्यन्त अग्निहोत्र हवन करे।' एवं 'आग्नेयं निर्वपेत् ऋद्धिकामः'='ऋद्धि सम्पत्ति का इच्छुक व्यक्ति आग्नेय याग का निर्वाप-अनुष्ठान करे' इन प्रकरणान्तर-गत वाक्यों से विहित अग्निहोत्र एवं आग्नेयादि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि अन्यप्रकरणगत वाक्यों में विहित अग्निहोत्रादि से भिन्न कर्म होते हैं तो जैसे वहाँ प्रकरणान्तर और अप्रतिपादित गुणत्व के कारण कर्मभेद होता है उसी प्रकार 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादि प्रकरणान्तर के वचन से चर्चित यज्ञादि का भी कर्म प्रकरण में विहित अग्निहोत्रादि से भेद आवश्यक है अतः उस वचन से अन्य फल के उद्देश से विहित कर्मों में अन्तःकरणशुद्धिफलकत्व का अभ्युपगम युक्तिसङ्गत नहीं है।'—

[कर्मान्तरत्व की कल्पना अस्वीकार्य]

तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'तमेतं०' इत्यादि वाक्य में यज्ञादि से सम्बद्ध विधि का श्रवण नहीं होता। अतः आख्यात का असमानाधिकरण-तिङ्प्रत्ययार्थ से अन्वितार्थ का अबोधक और व्यवहित-

प्रकरणान्तरगत अर्थ के परामर्श में समर्थ ऐसे सुबन्तपद से अन्यप्रकरण में प्रसिद्ध कर्मों का परामर्श मानकर उनके साथ फलसम्बन्ध मात्र के विधान की उपपत्ति सम्भव होने पर, ऐसे वचनों में जिन में कर्मविधि का श्रवण नहीं होता-अपूर्वविधित्व की कल्पना अनुचित है। इसलिये ऐसे वचनों से निर्दिष्ट कर्म में कर्मान्तरत्व मानना असम्भव है।

इसीलिये 'सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' इस वचन को भी दर्शपूर्णमास का सम्पूर्ण फलों के साथ सम्बन्ध मात्र के बोधन में ही तात्पर्य माना जाता है। उस में चर्चित दर्शपूर्णमास प्रसिद्ध दर्शपूर्णमास से कर्मान्तर नहीं होता। मीमांसाशास्त्र में यह कहा भी गया है कि--इस वचन में दर्शपूर्णमासशब्द से प्रसिद्ध दर्शपूर्णमास का विधान नहीं होता किन्तु वचनान्तर से अप्राप्त सर्वकामार्थता यानी सर्वफल-सम्बन्ध का ही विधान होता है।

ननु किमत्र पशुकामस्योद्भिच्चित्रादिष्विव विविदिषादिकामस्य यज्ञादिषु विकल्पः, उत स्वर्गकामस्याग्नेयादिष्विव समुच्चयः ? इति चेत् ? अत्र केचित्-'यज्ञादीनामेकवाक्यगतत्वेन दर्शादिवत् समुच्चयः' इति वदन्ति। तन्नैकवाक्यत्वमर्थैकत्वात्, यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' इति। 'अरुणयैकहायन्या०' इत्यादौ सत्यप्यारुण्याद्यर्थभेदे विशिष्टक्रियाविधानादेकवाक्यत्वम्। सत्यपि च विशिष्टविधानस्य गौरवग्रस्तत्वेऽगत्या तदाश्रयणम्।

क्रियायाः प्रकरणान्तरप्राप्तौ हि विशेषणमात्रविधानम्, यथा 'दध्ना जुहोति' इति, तत्राप्येकमेव विशेषणं विधातुं शक्यते, नानेकम्, वाक्यभेदप्रसङ्गात्। अप्राप्ता हि क्रियाऽनेकविशेषणान्युपसंगृह्णती विशिष्टा विधातुं शक्या, प्राप्तायां तु तस्यामनेकार्थविधाने विधिप्रत्ययावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदः। तदुक्तम्--"प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः" इति अत्र च 'कर्मणि' इत्युपलक्षणम्, प्राप्तमात्रमुद्दिश्यानेकविधानस्याऽशक्यत्वात्। अत एव 'ग्रहं संमार्ष्टि' इत्यत्र ग्रहोद्देशेनैकत्व-संमार्गयोर्विधाने वाक्यभेदः। एकोद्देशेनानेकविधानवदनेकोद्देशेनैकविधानमप्यशक्यम्, यथाऽत्रैवैकत्वग्रहोद्देशेन संमार्गविधानम्।

तदत्र 'विविदिषन्ति' इत्यत्र न तावदरुणादिवाक्यवदेकविशिष्टक्रियाविधायकत्वम्, असंभवात्, अनंगीकृतेश्च, येन तद्वदेकवाक्यत्वम्। नापि 'दध्ना जुहोति' इतिवत् कस्यांचित् क्रियायामेकविशेषणविधानम्, उक्तहेतोरेव, यज्ञदानादीन्युद्दिश्य विविदिषाफलसंबन्धविधाने एकत्वग्रहोद्देशेन संमार्गविधानवद् वाक्यभेदः, विविदिषाफलं चोद्दिश्य यज्ञदानादिविधाने ग्रहोद्देशेनैकत्वसंमार्गविधानवद् वाक्यभेदः।

[यज्ञदानादि कर्त्तव्य विकल्परूप से या समुच्चयरूप से]

'तमेतं वेदानुवचनेन०' इस वाक्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न होता है कि जैसे 'उद्भिदा यजेत पशुकामः=पशु की कामना वाला उद्भिद्नामक याग करे' एवं "चित्रया यजेत पशुकामः=पशु की

कामना वाला चित्रा संज्ञक याग करे" इत्यादि वचनों से विहित पशुफलक कर्मों में विकल्प होता है अर्थात् पशुकामना वाले को उन में कोई एक ही कर्म करणीय होता है उसीप्रकार 'तमेतं०' इत्यादि वचनों के अनुसार यज्ञ-दानादि विविदिषा-कामना वाले पुरुष के लिये विकल्परूप से कर्त्तव्य होते हैं ? अथवा जैसे स्वर्गकाम को 'आग्नेय' 'ऐन्द्र' आदि कर्म समुच्चयरूप में कर्त्तव्य होते हैं उसीप्रकार यज्ञदानादि भी विविदिषा-कामना वाले के लिये समुच्चयरूप में कर्तव्य होते हैं ।

[समुच्चयरूप में यज्ञदानादि की कर्त्तव्यता]

इस प्रश्न के उत्तर में कुछ विद्वानों का यह कहना है कि यज्ञदानादि 'तमेतं०' इत्यादि एकवाक्य से ही निर्दिष्ट हैं । अतः जैसे 'सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' इस वाक्य से निर्दिष्ट दर्श-पूर्णमास स्वर्गकामना वाले के लिये समुच्चयरूप में कर्तव्य होते हैं उसीप्रकार विविदिषा कामी के लिये यज्ञ-दानादि भी एकवाक्य से निर्दिष्ट होने से समुच्चयरूप में कर्तव्य हैं, क्योंकि उक्त वाक्य में 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य के समान अर्थैक्य अर्थात् विशिष्ट एकार्थ का प्रतिपादकत्व होने से अथवा एकप्रयोजनवदर्थप्रतिपादकता होने से उस में एकवाक्यता है ।

किन्तु 'अरुणया एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' = रक्तवर्णा एकवर्षवयस्का एक गौ से सोम (लता) का क्रयण करे ।' इस वचन में आरुण्यादिरूप अर्थभेद से विशिष्ट एक सोमक्रयणरूप क्रिया का विधान होने से विधेयैक्य होने से एकवाक्यता होती है । यद्यपि विशिष्ट का विधान गौरवग्रस्त होता है फिर भी प्रकारान्तर से एकवाक्यता की उपपत्ति के लिये अन्य कोई गति न होने के कारण विशिष्टविधान का आश्रयण आवश्यक होता है । क्योंकि विशेषणमात्र का विधान वहीं होता है जहाँ क्रिया अन्यप्रकरण से प्राप्त होती है । जैसे 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य से दधिविशिष्ट होम का विधान नहीं किन्तु होम को उद्देश कर के दधिरूप विशेषण का ही विधान होता है, क्योंकि होम प्रकरणान्तर से प्राप्त है । विशेषणविधि में भी यह ज्ञातव्य है कि विशेषणविधि से एक ही विशेषण का विधान शक्य हो सकता है–अनेक का नहीं । क्योंकि अनेक विशेषण का विधान मानने पर विधेयभेद और अर्थभेद हो जाने से वाक्यभेद का प्रसङ्ग होता है, क्योंकि जब क्रिया अप्राप्त होती है तब उस क्रिया का अनेकविशेषणविशिष्ट क्रिया के रूप में विधान होता है । किन्तु क्रिया प्रकरणान्तर से प्राप्त रहेगी तो उस में अनेक अर्थ का विधान करने पर विधिप्रत्यय का आवर्त्तन रूप वाक्यभेद प्रसक्त होगा । जैसा कि मीमांसाशास्त्र में 'प्राप्ते कर्मणि०' इत्यादि वचन द्वारा कहा गया है । इस वचन में 'कर्मणि' यह उपलक्षण है इसलिये कर्म पद से कर्म और कर्म से इतर दोनों का ग्रहण होता है । अतः किसी भी प्राप्त को उद्देश्य कर अनेक का विधान अशक्य होता है । इसी लिये 'ग्रहं संमार्ष्टि' इस वाक्य में ग्रह=यज्ञीय पात्रविशेष को उद्देश्य कर एकत्व और संमार्गकुशादि से संमार्जन का विधान मानने पर वाक्यभेद होता है । जिस प्रकार एक को उद्देश्य कर अनेक विधान वाक्यभेद की आपत्ति के कारण अशक्य होता है, उसीप्रकार अनेक को उद्देश्य कर एक का विधान भी अशक्य होता है-जैसे उक्त वाक्य में ही एकत्व और ग्रह दोनों को उद्देश्य कर संमार्ग मात्र का विधान करने पर ।

[विधेयैक्य से एकवाक्यता प्रस्तुत में नहीं है]

'तमेतं ब्राह्मणाः विविदिषन्ति' इस वाक्य में 'अरुणया एकहायन्या०' इत्यादि वाक्य के समान एक विशिष्ट क्रिया का विधान नहीं होता क्योंकि वह सम्भव नहीं है और इस वाक्य में विधायकता अङ्गीकृत भी नहीं है । अतः अरुणादि वाक्य के समान इस में एकवाक्यता नहीं हो सकती । एवं इस वाक्य में 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य के समान किसी क्रिया में एक विशेषण का विधान भी उक्त हेतु-

असंभव और विधायकत्व के अनङ्गीकार से अशक्य है। अतः उक्तवाक्य के समान भी इस वाक्य में एकवाक्यता नहीं हो सकती। एवं प्रकृतवाक्य में यज्ञदानादि अनेक कर्मों को उद्देश्य कर विविदिषारूप फल के सम्बन्ध का विधान मानना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर उसी प्रकार वाक्यभेद होगा जैसे एकत्व और ग्रह को उद्देश्य कर संमार्ग का विधान करने पर 'ग्रहं संमार्ष्टि' इस वाक्य में होता है। इसी प्रकार विविदिषारूप फल को उद्देश्य कर यज्ञदानादि कर्मों का विधान करने पर भी ठीक उसी प्रकार वाक्यभेद होगा जैसे ग्रह को उद्देश्य कर एकत्व और संमार्ग का विधान मानने पर 'ग्रहं संमार्ष्टि' इस वाक्य में होता है।

'दर्श-पौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्रैकस्वर्गोद्देशेन दर्श-पौर्णमासात्मकानेकयागविधानवदत्र विविदिषोद्देशेन यज्ञदानाद्यनेकविधानं किं न स्यात्?' इति चेत्? न, तत्र 'व्रीहिभिर्यजेत' इत्यत्र व्रीहीणामिव षण्णामपि यागानां यजतिसमानाधिकरणैकपदोपात्तत्वेन वाक्यभेदाभावेऽपि प्रकृते 'यज्ञेन' 'दानेन' इत्यादौ तदभावात्। तेनैकस्य श्रोतव्यादिवाक्येष्वनुषक्तपदेकस्य विविदिषन्तिपदस्यानुषङ्गः कल्प्यः- 'यज्ञेन विविदिषन्ति'-'दानेन विविदिषन्ति' इति।

[यज्ञदानादि अनेक कर्म विधान में वाक्यभेद प्रसक्ति]

यदि यह कहा जाय कि जैसे 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य से एक स्वर्ग को उद्देश्य कर दर्श और पूर्णमासस्वरूप अनेक याग का विधान होता है उसी प्रकार 'तमेतं०' इत्यादि वाक्य से भी विविदिषा को उद्देश्य कर यज्ञदानादि अनेक कर्मों का विधान क्यों नहीं हो सकता?" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि दर्शादि वाक्यों में दर्श और पूर्णमास रूप छः याग 'यजति' यज् धातु के समानाधिकरण दर्शपूर्णमासरूप एक समस्तपद से गृहीत होते हैं। अतः एक स्वर्ग के उद्देश्य से छः याग का विधान मानने पर भी उक्त वाक्य में वाक्यभेद उसीप्रकार नहीं होता जैसे "व्रीहिभिर्यजेत" इस वाक्य में एक याग को उद्देश्य कर यज् धातु से समभिव्याहृत व्रीहि पद से गृहीत अनेक व्रीहि का विधान करने पर नहीं होता। किन्तु प्रकृत में 'यज्ञेन दानेन' इत्यादि शब्द से घटित 'तमेतं०' इत्यादि वाक्य में यज्ञदानादि का यज् धातु समानाधिकरण एक पद से ग्रहण नहीं है। अतः श्रोतव्यादि-'आत्मा वा अरे! द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः'=मुमुक्षु को आत्मा का श्रवण-अर्थात् अद्वितीय आत्मा में समस्तवेदान्त वाक्यों के तात्पर्य का निर्णय करना चाहिये, फिर उस निर्णीत अर्थ को मनन यानी अनुमान द्वारा पुष्टि करनी चाहिये, उस के बाद वेदान्त से निर्णीत और अनुमान से परिपुष्ट अद्वितीय आत्मा का निदिध्यासन=अनवरतध्यान करना चाहिये, उसके बाद आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिये।'-इस वाक्य में जैसे एक 'आत्मा' का 'आत्मा श्रोतव्यः' 'आत्मा मन्तव्यः' इत्यादि रूप में अनुषङ्ग होता है उसीप्रकार 'तमेतं०' इत्यादि विविदिषा वाक्य में 'विविदिषन्ति' इस एक पद का 'यज्ञेन दानेन' इत्यादि पदों के साथ 'यज्ञेन विविदिषन्ति' 'दानेन विविदिषन्ति' इसप्रकार अनुषङ्ग करना आवश्यक है। अतः इस वाक्य के विविदिषा रूप एक उद्देश्य में यज्ञदानादि अनेक का विधान मानने पर ग्रह को उद्देश्य कर एकत्व और संमार्ग का विधान करने पर 'ग्रहं संमार्ष्टि' इस वाक्य के समान वाक्यभेद अनिवार्य होगा। परन्तु जब इस वाक्य को विधायक नहीं माना जाता तो विधायक वाक्यों में सम्भावित वाक्यभेद के समान वाक्यभेद की प्रसक्ति नहीं होती और 'अग्निहोत्रं जुहोति' के समान अर्थैक्यमूलक एकवाक्यत्व अक्षुण्ण रहता है।

कथं तर्हि समुच्चयः ? इति चेत् ? भिन्नवाक्यविहितानामपि सोमप्राप्त्यर्थानां क्रयाणामिव संभवत्समुच्चयो, यज्ञादीनां नित्यवत्समुच्चये हि क्रयाणां प्रत्येकविधिषु नियमविधित्वं न स्यात्, आर्थिकी हि तत्रेतरनिवृत्तिः, अरुणाऽक्रयेणैव सोमं भावयेदिति । संभवत्समुच्चये तु सोमप्राप्त्यर्थत्वात् क्रयाणां तत्रानतिद्वारस्यैकेनैव सिद्धौ न नियमभङ्गः । असिद्धौ तु प्रत्येकावगतं नियमं कार्यानुरोधेन परित्यज्य वाक्यान्तरविहितक्रयसापेक्षत्वं पूर्वक्रयस्य कल्प्यते । अत एव दध्यादिषु नासौ, होमनिष्पत्तेर्द्वारस्यैकेनैव सिद्धेः । एवमिहापि यज्ञादिनैकेनैवान्तःकरणशुद्धिद्वारसिद्धौ नान्यापेक्षा, अन्यथा तु स्यादेव । अत एव यज्ञानधिकारिणां ब्रह्मचारिणां वेदानुवचनेन केवलेनाप्यन्तःकरणशुद्धिद्वारा विविदिषासिद्धिः । तथा च स्मृतिः—"जपेनैव तु संसिध्येत्" इत्यादि । न च स्वर्गकामाग्निहोत्रवत् सदनुष्ठाननियमः, सदनुष्ठानस्य साधनचतुष्टयसंपत्तिगम्यान्तःकरणशुद्धिपर्यन्तत्वात् ।

[यज्ञदानादि का यथासम्भव समुच्चय]

विविदिषा का उक्तरीति से अर्थ वर्णन करने पर यह प्रश्न हो सकता है कि जब यज्ञदानादि का विविदिषावशात् पृथक् २ सम्बन्धबोध होगा तो विविदिषा के उद्देश्य से एक व्यक्ति के द्वारा यज्ञदानादि के समुच्चय की कर्तव्यता कैसे होगी ? किन्तु इसका उत्तर यह है कि जैसे सोमप्राप्ति के उद्देश्य से विभिन्न वाक्यों से विहित क्रयों में सम्भवत्समुच्चय अर्थात् यथासम्भव समुच्चय होता है उसी प्रकार विविदिषा के लिये यज्ञदानादि का भी सम्भवत्समुच्चय होता है। स्पष्ट है कि क्रयवाक्य में भी सम्भवत्समुच्चय ही होता है नित्यवत्समुच्चय अर्थात्-अनिवार्य समुच्चय नहीं होता, क्योंकि अनिवार्य समुच्चय मानने पर 'अरुणया सोमं क्रीणाति' इत्यादि प्रत्येक विधि में नियमविधित्व न हो सकेगा। क्योंकि नियमविधि में इतर की निवृत्ति आर्थिक-अर्थगम्य होती है। अर्थात् नियमविधि इतरनिवृत्ति में पर्यवसित होती है, अतः प्रत्येक विधि को नियमविधि मानने पर क्रयविधायकवाक्य का 'अरुणाक्रय से ही सोम को प्राप्त करे' इस प्रकार अर्थ होगा जो नित्यवत्समुच्चय पक्ष में सङ्गत नहीं हो सकता क्योंकि उस पक्ष में अरुणाक्रयण-एकहायनीक्रयण, गोक्रयण सब का समुच्चय सोमप्राप्ति के लिये अपेक्षित होगा। किन्तु सम्भवत्समुच्चय पक्ष में समुच्चय अनिवार्य न होने से सोमप्राप्ति के लिये विहित क्रयों में किसी एक क्रय से भी अनतिद्वार-बहुद्वारनिरपेक्ष सोम की सिद्धि होने से नियमभङ्ग नहीं होता। किन्तु जब एक क्रय से सोम की प्राप्ति नहीं होती तब प्रत्येक विधि वाक्य से अवगत नियम का कार्यानुरोध से परित्याग कर पूर्वक्रय में-अरुणादिक्रय में एकहायन्यादि वाक्यान्तरविहित क्रय की सापेक्षता की कल्पना की जाती है। तदनुसार सोमार्थी को कभी क्रयसमुच्चय अपेक्षणीय होता है। होम को उद्देश्य कर विहित दधि आदि द्रव्यात्मक गुणों में परस्पर सापेक्षता की कल्पना नहीं होती क्योंकि किसी एक द्रव्य से ही होमनिष्पत्तिरूप द्वार की सिद्धि हो जाती है।

[सम्भवत्समुच्चय का स्पष्टीकरण]

इसी प्रकार विविदिषा वाक्य के अनुसार यज्ञादि किसी एक से ही अन्तःकरणशुद्धिरूप द्वार की सिद्धि हो जाने से अन्य की अपेक्षा नहीं होती। किन्तु यदि किसी एक से अन्तःकरण की शुद्धि

नहीं होती तो यज्ञदानादि का यथापेक्ष समुच्चय अपेक्षणीय होता है। इस वाक्य में सम्भवत् समुच्चय होने से ही यज्ञ के अधिकारी ब्रह्मचारियों को केवल वेदानुवचन से ही अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा विविदिषा की सिद्धि होती है। स्मृति भी इस बात में साक्षी है जैसा कि 'जपेनैव तु संसिध्येत्' इत्यादि अनेक स्मृति वाक्य स्पष्ट उद्घोष करते हैं कि (ब्रह्मचारी आदि) मन्त्रजप से ही संसिद्धि प्राप्त करें। स्वर्गकामी के लिये अग्निहोत्र के समान विविदिषाकामी के लिये यज्ञादि के आजीवन अनुष्ठान का नियम नहीं है। क्योंकि उसका अनुष्ठान अन्तःकरणशुद्धिपर्यन्त ही अपेक्षित है और अन्तःकरण-शुद्धि साधनचतुष्टय की प्राप्ति से विदित होती है।

यदि वा, 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इत्यत्राधाने जातपुत्रकृष्णकेशत्वविधाने वाक्यभेदात् ताभ्यामवस्थाविशेषलक्षणवदत्र यज्ञादिपदैः प्रसिद्धं कर्मसामान्यमुपलक्ष्य विविदिषादिफलोद्देशेन विधीयते। सम्भवति चैवं संभवत्समुच्चयः, न च वाक्यभेदः। 'लक्षणापि दोष एवे'ति चेत्? तथापि वाक्यार्थभेदे प्रधानविशिष्टवाक्यार्थभङ्गः, लक्षणायां तु गुणीभूत पदशक्यार्थत्यागमात्रम् इत्यत्रादरः। अत एव 'अर्धमन्तर्वेदि मिनोति, अर्धं च बहिर्वेदि' इत्यत्रापि वाक्यभेदो मा भूदित्यन्तर्वेदिबहिर्वेदिशब्दाभ्यां देशविशेषलक्षणाश्रयणम् इत्यपरे। यद्वा, ईश्वरार्पणबुद्ध्यानुष्ठितानां कर्मणामन्तःकरणशुद्धिः फलम्, 'यत् करोषि०' इत्यादिस्मृतेः। तत् सिद्धमेतत्–कर्मभिः शुद्धान्तःकरणो नित्यानित्यविवेकादि लभत इति।

तत्र नित्यानित्यविवेकः 'इदं सर्वमनित्यम्, एतस्याधिष्ठानं किञ्चित् नित्यम्' इत्येव-मालोचनात्मकः। ततः ऐहिकपारलौकिकफलेच्छाविरोधिचेतोवृत्तिविशेषात्मको विरागः, ततः शमादिषट्कम्। तच्च शम-दमोपरति-तितिक्षा-समाधान-श्रद्धाः। अन्तःकरणनिग्रहः शमः। बाह्येन्द्रियनिग्रहो दमः। उपरतिः सन्न्यासः। द्वन्द्वसहिष्णुत्वं तितिक्षा। श्रवणादिप्रावण्यं समाधानम्। सांप्रदायिके विश्वासः श्रद्धा। ततो मोक्षेच्छा मुमुक्षा। तदेतत् साधनचतुष्टयं श्रवणाधिकारिविशेषणम्।

[सम्भवत्समुच्चय की दूसरे प्रकार से उपपत्ति]

अथवा अपर विद्वानों का इस सम्बन्ध में यह मत है कि जिस प्रकार 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत='जिसे पुत्र उत्पन्न हो चुका हो और जिस के केश काले हो वह अग्नि का आधान करे।' इस वाक्य से आधान में जातपुत्रत्व और कृष्णकेशत्व का विधान मानने पर वाक्यभेद होता है, अतः जातपुत्र और कृष्णकेश इन दोनों पदों से लक्षणा द्वारा अवस्थाविशेष-युवावस्था का बोध मानकर आधान में उस अवस्था का विधान होता है। उसी प्रकार विविदिषा वाक्य में भी यज्ञादि-पदों से लक्षणा द्वारा प्रसिद्ध कर्मसामान्य का बोध मानकर विविदिषारूप फल के उद्देश्य से कर्म-सामान्य का विधान होता है। ऐसा मानने पर सम्भवत्समुच्चय भी हो सकता है और वाक्यभेद भी नहीं होता। यद्यपि ऐसा मानने में लक्षणारूप दोष होता है, तथापि वाक्यार्थभेद होने पर वाक्य के विशिष्ट अर्थ=प्रधान अर्थ का भङ्ग होता है जब कि लक्षणा मानने पर पद के शक्यार्थ अप्रधान-

अर्थमात्र का ही त्याग होता है, इसलिये लक्षणा का आदर किया जाता है और इसीलिये 'अर्धमन्तर्वेदि मिनोति, अर्धं च बहिर्वेदि' इस वाक्य में वाक्यभेद न हो इसलिये वेदि के आराध्यदेवता और हवनकुण्डादि की स्थापना के लिये शास्त्रीयविधि से बनाये गये ऊँचे चबूतरे के भीतर आधाभाग का और बाहर आधाभाग का (अपेक्षितभूमिविस्तार के लिये) माप करे-यह अर्थ न कर के 'अर्धमन्तर्वेदि अर्धं च बहिर्वेदि' इन दोनों शब्दों से लक्षणा द्वारा अपेक्षित देशविदेश का बोध माना जाता है। अतः उक्त वाक्य का यह अर्थ प्राप्त होता है कि-'(अपेक्षित विस्तार के लिये) देशविदेश का माप करे।'

अथवा यह कहा जा सकता है कि 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् । यत् तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥' इस भगवद्गीता स्मृति के अनुसार ईश्वर को अर्पित करने की बुद्धि से जो कर्म अनुष्ठित किये जाते हैं उनसे अन्तःकरणशुद्धिरूप फल की सिद्धि हो जाती है। अतः उक्त रीति से यह सिद्ध है कि कर्मों द्वारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाने पर नित्यानित्य वस्तु के विवेकादि साधनचतुष्टय को मनुष्य प्राप्त करता है।

[नित्यानित्य विवेक-विराग शमादिषट्क-मुमुक्षा]

नित्य-अनित्य विवेक का अर्थ है कि-'दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् अनित्य है और सबका जो कोई अधिष्ठान-आधार है वह नित्य है'-इस प्रकार का निश्चय। इस निश्चय के प्राप्त हो जाने के बाद मनुष्य को विराग-वैराग्य की प्राप्ति होती है-जिसका अर्थ है चित्त की ऐसी अवस्था जिसमें इस लोक में प्राप्त होने वाले पुत्र-स्त्री-धन-धान्य आदि कर्मफलों की और परलोक में प्राप्त होने वाले दिव्य विषयों की इच्छा का उदय ही प्रतिबद्ध हो जाय। वैराग्य प्राप्ति के बाद शमादि षट्क-छह गुणों की प्राप्ति होती है, वे हैं-शम-दम-उपरति-तितिक्षा-समाधान और श्रद्धा। शम का अर्थ है अन्तःकरण का निग्रह अर्थात् अन्तःकरण द्वारा विषय-कषायों के चिन्तन का परित्याग। दम का अर्थ है-बाह्येन्द्रियों का निग्रह=सांसारिक विषयों से इन्द्रियों को विमुख करना। उपरति का अर्थ है संन्यास अर्थात् विरति यानी हिंसादि पापों के त्याग की प्रतिज्ञा जिससे यथोचित और परिपूर्ण रूप से विषयों से अन्तःकरण और इन्द्रियों की सर्वविध निवृत्ति हो। तितिक्षा का अर्थ है द्वन्द्व यानी सुख-दुःख की सहिष्णुता-दुःख से कायर न होना और सुख से उन्मत्त न होना। समाधान का अर्थ है आत्मा के श्रवण आदि में अन्तःकरण का नियोजन। श्रद्धा का अर्थ है संप्रदाय, शास्त्र और आचार्य के वचन में विश्वास। उक्त तीनों साधन के प्राप्त हो जाने के बाद मुमुक्षा-मोक्षेच्छा होती है। यह साधन चतुष्टय श्रवणादि के अधिकारी का विशेषण होता है अर्थात् इन साधनों से सम्पन्न पुरुष ही वेदान्त से ब्रह्म के श्रवण और मननादि का अधिकारी होता है।

यत्तु-'मुमुक्षैवाधिकारिविशेषणम्, तस्या एव निरपेक्षाधिकारनिमित्तत्वात्' इति। **तन्न,** सामर्थ्यादेरप्यधिकारनिमित्तत्वात्। अथ कामनार्थिकं सामर्थ्याद्यपेक्षते न श्रुतमन्यत्, तत् किं श्रुतलिङ्गयोर्लिङ्गं बलवत् ? । तस्माद् 'राजा राजसूयेन यजेत' इत्यादौ राजत्वादेरिव श्रुतस्य विवेकादेरप्यधिकारिविशेषणत्वं युक्तम्। 'मुमुक्षायाः सार्वत्रिकत्वात्, तत्त्वविवेकादीनां त्वेकैकशाखापर्यालोचितानां सर्ववेदान्तप्रत्ययन्यायबाधितत्वाद् न तथात्वमि'ति चेत् ? न, सर्ववेदान्तप्रत्यय-

न्यायेन साधनान्तरोपसंहारेऽपि तत्तच्छाखोपस्थितैकैकसाधनाऽबाधात्, इतरसाधनाभावस्य शब्दादनुपस्थितेः, आर्थिकस्य तदसाधनताभावप्रत्ययस्य बाधाभावात् ।

[केवल मुमुक्षा अधिकार सम्पादक नहीं]

कुछ विद्वानों का जो यह कहना है कि मोक्ष की इच्छा ही श्रवणादि के अधिकारी का विशेषण है क्योंकि वही अधिकार का अन्यनिरपेक्ष निमित्त है ।' किन्तु यह ठीक नहीं है । क्योंकि श्रवणादि के लिये अपेक्षित शरीरादि का सामर्थ्यादि भी अधिकार का निमित्त होता है । यदि यह कहा जाय कि-'अधिकार में मोक्षकामना अर्थतः—लिङ्गतः प्राप्त सामर्थ्यादि की अपेक्षा होती है किन्तु उससे अन्य श्रुतिप्राप्त किसी की अपेक्षा नहीं होती' तो ऐसा कहने वाले विद्वानों को यह सोचना होगा कि क्या श्रुति और लिङ्ग में लिङ्ग श्रुति की अपेक्षा बलवान् है ? निर्विवाद है कि लिङ्ग की अपेक्षा श्रुति बलवती होती है, अतः श्रुति से जब उक्त तीन साधन भी अधिकारी के विशेषण रूप में अवगत होते हैं तो केवल मुमुक्षा को तथा लिङ्गगम्य सामर्थ्यादि को ही अधिकारी का विशेषण मानना अनुचित है । अतः जैसे 'राजा राजसूयेन यजेत'=राजा राजसूयनामक याग से इष्ट प्राप्त करें'-इत्यादि स्थल में श्रुतिप्राप्त राजत्वादि अधिकारी का विशेषण होता है इसीलिये राजत्व से च्युत हुआ व्यक्ति राजसूय यज्ञ में अधिकारी नहीं होता, उसीप्रकार श्रुतिप्राप्त नित्याऽनित्यविवेकादि को भी अधिकारी का विशेषण मानना आवश्यक है ।

यदि यह कहा जाय कि-'मुमुक्षा सार्वत्रिक अर्थात् वेदान्त की समस्त शाखाओं में श्रवणादि के अधिकार के निमित्तरूप में उक्त है और तत्त्वविवेक=नित्याऽनित्य वस्तु विवेकादि साधन वेदान्त की एकैकशाखामात्र में श्रवणादि के अधिकार के निमित्त रूप में उक्त है । अतः वे 'सम्पूर्ण वेदान्तजन्य-बोध से एक एक शाखाजन्यबोध दुर्बल होता है' इस न्याय से बाधित हो जाते हैं । अतः वे अधिकारी के विशेषण नहीं हो सकते'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण वेदान्त के प्रत्ययन्याय से उपसंहार में साधनान्तर मुमुक्षा का प्रतिपादन होने पर भी तत् तत् शाखाओं से ज्ञात एकैकसाधन का बोध नहीं होता । क्योंकि उपसंहार में शब्द से इतर साधन के अभाव की उपस्थिति नहीं होती । अतः वहां भी तत्त्वविवेकादि में श्रवणादि के अधिकार की असाधनता के अभाव का अर्थात् साधनता का अर्थतः प्रत्यय होने में कोई बाधा नहीं होती ।

अन्येषां 'शान्तो दान्त उपरत' इति पुरुषविशेषणत्वात् संन्यासोऽप्यधिकारिविशेषणं स्यात् । न चानङ्गभूतस्य तस्य तथात्वम्, विहितत्वात् नाप्यङ्गभूतस्य तस्य, श्रवणाङ्गत्वे श्रुत्याद्यसत्त्वात् । न च प्रकरणात् तस्य तथात्वम्, आत्मनः प्रकरणात् संनिधानात्, तथात्वे च वैपरीत्येऽप्यविनिगमात्, फलवत्त्वस्योभयत्राविशेषेण समप्राधान्यात् । किञ्च, 'शान्तो दान्त' इत्याद्यनुपरतिपदाभिधेयस्य सन्न्यासस्य शान्त्यादिपदोपस्थिततद्घटकत्वकविधानस्य च समुच्चयो विधीयते, अव्यभिचरितसंबन्धेन जुहूपदेन क्रतूपस्थितिवच्छान्त्यादिपदैस्तद्घटकत्वकविचारोपस्थितेः, अन्यथा ज्ञानस्य फलत्वेन विध्यगोचरत्वात्, ज्ञानोद्देशेन शान्त्याद्यनेकगुणविधाने वाक्यभेदप्रसङ्गात्, इति ज्ञानाङ्गत्वमेव सन्न्यासस्य । न च 'वेदानिमं लोकममुं' च परित्यज्या-

त्मानमन्विच्छेत्' इति वाक्यात् श्रवणाङ्गत्वम्, 'दर्श-पौर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेते'तिवत् कालसंयोगपरत्वात् तस्य। अत एव जन्मान्तरीयोऽप्ययमुपयुज्यते, ज्ञानप्रतिबन्धकदुरितनिवृत्तिद्वारनिष्पत्तेः। अत एव जनकादीनामपि ज्ञानश्रवणम्, 'यद्यातुरः स्याद् मनसा वाचा च सन्न्यसेत्' इत्यापत्सन्न्यासविधानं च, स्वस्था-ऽऽतुरसन्न्यासयोरेककर्मत्वेऽप्येकत्राल्पाङ्गताया अन्यत्र सर्वाङ्गतायाश्चोपपत्तेः, नित्येषु शक्त्यपेक्षया तथात्वादिति चेत् ?

अत्राहुः-फलवत्त्वेन निर्णीतश्रवणसंनिधावफलस्य श्रुतत्वात् संन्यासस्य श्रवणाङ्गत्वम्, उपकार्योपकारकोभयाकाङ्क्षारूपस्यात्मप्रकरणान्यस्य प्रकरणस्याङ्गत्वावेदकत्वात्, प्रयाजादीनामिव। एवमप्यार्थवादिकफलकल्पने प्रयाजादीनामपि 'कर्म वै तद्यज्ञस्य०' इत्यार्थवादिकफलकल्पनाप्रसङ्गात्। किञ्च संन्यासस्य फलकल्पने[ऽ]फल[स]वलान्यतराकाङ्क्षा, अङ्गत्वकल्पने तूभयाकाङ्क्षेति श्रुतिलिङ्गेत्यादिन्यायादुभयाकाङ्क्षारूपप्रकरणस्यान्यतराकांक्षारूपस्थानात् बलवत्त्वात् श्रवणांगत्वमेव, फलश्रुतेरर्थवादत्वात्।

[संन्यास अधिकारिविशेषण माना जाय या नहीं ?]

श्रवणादि अधिकारी की चर्चा होने पर यह प्रश्न प्रसङ्ग से ऊठता है कि 'शान्तो दान्त उपरत' इत्यादिवचन द्वारा पुरुष के विशेषणरूप में शम-दम और उपरति यानी संन्यास-निर्दिष्ट है, अतः संन्यास भी अधिकारी का विशेषण होना चाहिये। किन्तु यह संभव नहीं है, क्योंकि संन्यास श्रवण का अंग न होकर श्रवणाधिकारी का विशेषण नहीं हो सकता, क्योंकि संन्यास विहित है, जो विहित होता है वह अन्य विहित का अंग हुये विना उसके अधिकारी का विशेषण नहीं होता। श्रवणादि के अंगरूप में भी संन्यास को श्रवणाधिकारी का विशेषण नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'संन्यास श्रवण का अङ्ग है, इस बात में श्रुति आदि कोई प्रमाण नहीं है। प्रकरण से भी संन्यास को श्रवण का अंग नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रकरण से आत्मा का संनिधान है, श्रवण का नहीं। दूसरी बात यह कि संन्यास को श्रवण का अङ्ग माना जाएगा तो इस पक्ष में विनिगमना न होने से विपरीत पक्ष–'श्रवण संन्यास का अंग है'–की उद्भावना हो सकती है, क्योंकि दोनों ही पक्ष में फलसम्बन्ध में कोई विशेष अन्तर नहीं है, अत एव दोनों में समान प्राधान्य हो सकता है।

[संन्यास श्रवणादि का अंग नहीं हो सकता]

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि 'शान्तो दान्त' इत्यादि वचन में उपरतिपद से अभिहित संन्यास और शान्ति आदि पद से उपस्थित शान्त्यादिवत्पुरुषकर्तृक विचार के समुच्चय का विधान होता है, क्योंकि जैसे जुहू (=काष्ठनिर्मित्त यज्ञीयपात्रविशेष) में क्रतु=यज्ञ का अव्यभिचार होने से जैसे जुहूपद से क्रतु की उपस्थिति होती है उसी प्रकार शान्ति आदि में विचार का अव्यभिचार होने से शान्ति आदि पद से शान्त्यादिवत्कर्तृक विचार की उपस्थिति होती है। यदि ऐसा न माना जायगा तो ज्ञान फल होने से विधि का विषय नहीं हो सकता। अतः ज्ञानरूप फल के उद्देश से शान्ति आदि अनेक गुणों का विधान मानने पर वाक्यभेद की प्रसक्ति होगी। अतः संन्यास ज्ञान का ही अंग है-श्रवणादि का नहीं।

यदि यह कहा जाय कि–'वेदानिमं०' वेद-वैदिककर्म तथा इहलोक और परलोक का परित्याग कर आत्मान्वेषण-आत्मविषयक श्रवणादि का सम्पादन करें'–इस वाक्य से संन्यास में श्रवणांगता सिद्ध होगी।"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जैसे 'दर्श-पूर्णमासयाग करने के बाद सोमयाग करें' एतदर्थक वाक्य, दर्शपूर्णमासयाग में सोमयाग की अङ्गता का बोधक नहीं होता, किन्तु सोमयाग के साथ दर्शपूर्णमासोत्तर काल के सम्बन्ध का बोधक होता है। उसीप्रकार 'वेदानिमं०' यह वाक्य भी संन्यास में श्रवणाङ्गता का बोधक नहीं होता किन्तु श्रवणादि के साथ संन्यासोत्तर काल के सम्बन्ध का बोध होता है। इसीलिये जन्मान्तर का संन्यास भी वर्त्तमान जन्म में श्रवणादि में उपयोगी होता है। क्योंकि जन्मान्तर के संन्यास से भी ज्ञान के प्रतिबन्धक दुरित की निवृत्ति रूप द्वार संपन्न हो जाता है। इसीलिये गृहस्थाश्रम में भी जनकादि को ज्ञानप्राप्ति सुनी जाती है, और "पुरुष यदि आतुर हो जाय तो मन और वाणी से संन्यास ग्रहण करे' एतदर्थक वाक्य से आपत्संन्यास=आपत्तिकालीन संन्यास के विधान की उपपत्ति होती है। संन्यास यह श्रवण का अङ्ग होने पर उसकी उपपत्ति नहीं होगी।

यदि यह कहा जाय कि "आतुरसंन्यास श्रवण के अंग भूत संन्यास से भिन्न कर्म है क्योंकि संन्यास के जो अंग शास्त्र में वर्णित हैं वे आपत्-संन्यास में सम्भव नहीं हैं"–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि स्वस्थ संन्यास और आपत्संन्यास दोनों एक कर्म होने पर भी आतुर संन्यास अल्पाङ्ग होता है और स्वस्थ संन्यास पूर्णाङ्ग होता है, क्योंकि नित्यकर्मों में शक्ति के अनुसार अल्पाङ्गता और पूर्णाङ्गता मानी जाती है।

[संन्यास श्रवणादि के अंगरूप होने का समर्थन]

उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि-श्रवणादि में फलवत्ता निर्णीत है और उसके संनिधान में संन्यास बिना फल ही पठित है। अतः संन्यास श्रवणादि का अङ्ग है और इस अंगता का ज्ञान आत्मप्रकरण के अन्तर्गत उपकार्य-उपकारक उभय की आकांक्षारूप प्रकरण से उसी प्रकार होता है जैसे फलवान् दर्शपूर्ण मास की संनिधि में फल बिना पठित प्रयाजादि में दर्शपूर्णमास की अङ्गता का। और यदि उक्तरूप से श्रवण का अङ्ग होने से संन्यास के फल की उपपत्ति हो जाने पर भी आर्थवादिक अर्थवादोक्तफल की कल्पना की जायगी तो प्रयाजादि के भी 'वर्म वा एतद्यजस्य' इस अर्थवादवाक्य में उक्त फल की कल्पना का प्रसङ्ग होगा।

दूसरी बात यह है कि संन्यास के पृथक् फल की कल्पना केवल फलकांक्षा से होगी एवं श्रवणादिविधि को सहकारीबल की कल्पना केवल तन्मात्र की आकांक्षा से होगी। यदि सन्यास में श्रवणादिविधि के अङ्गत्व की कल्पना की जायगी तो श्रवणादिविधि की बलाकांक्षा और संन्यासविधि की फलाकांक्षा दोनों अपेक्षित होगी। इन में अन्यतर आकांक्षा स्थानरूप है और उभयाकांक्षा प्रकरणरूप है। अतः उभयाकांक्षारूप प्रकरण अन्यतर आकांक्षा प्रकरणरूप स्थान से 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पारदौर्बल्यम् अर्थ-विप्रकर्षात्' इस न्याय के अनुसार बलवत् होने से संन्यास में श्रवणादि के अङ्गत्व की सिद्धि अनिवार्य है। अतः संन्यास श्रवण के फल से ही फलवान है, अन्य फल की श्रुति केवल अर्थवाद है।

ज्ञानाङ्गत्वं तु न, प्रकरणावगतत्वात् श्रवणाङ्गत्वस्य, शान्त इत्यादिवाक्ये दूषणाभावेन स्वार्थाऽपरित्यागात् । कृतेऽपि स्वार्थपरित्यागे ज्ञानोद्देशेन संन्यास-श्रवणयोर्विधाने वाक्यभेदाऽपरिहारात्, समुच्चयस्य द्वयानतिरेकेणैकसमुच्चयो विधीयत इत्यस्यापि दुर्वचत्वात् । वस्तुतोऽत्र 'ये मध्यमास्तानाग्नये दात्र' इत्यत्रेव सामानाधिकरण्यात् शान्तत्वादिविशिष्टैककर्तृविधानात्, जातपुत्र इत्यादाविव शान्तादिपदोपलक्षितावस्थाविशेषविधानाद् वा, पश्येदित्यत्र ज्ञानस्य विध्ययोगात्, प्रकृतेस्तत्साधनश्रवणलक्षकत्वात्, शान्त्यादिविशिष्टैकश्रवणक्रियाविधानात् 'सोमेन यजेत' इतिवद् वा न वाक्यभेदः ।

[संन्यास ज्ञान का अंग न होने का कारण]

संन्यास ज्ञान का अङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकरण से उसमें श्रवणाङ्गत्व सिद्ध है और कोई दोष न होने से 'शान्तो दान्तः' इत्यादि वाक्य में स्वार्थपरित्याग करना उचित भी नहीं है । क्योंकि स्वार्थ का परित्याग करने पर भी ज्ञान को उद्देश्य कर संन्यास और श्रवण दोनों का विधान मानने पर वाक्यभेद का परिहार नहीं हो सकता । दोनों के एक समुच्चय का भी विधान दुर्वच है क्योंकि समुच्चय उभय से अतिरिक्त न होने से समुच्चय विधान भी उभय विधान में ही पर्यवसित होता है । सच बात तो यह है कि 'ये मध्यमास्तानाग्नये दात्र' इस वाक्य में जैसे मध्यमपद और तत्पद में सामानाधिकरण्य होने से मध्यमत्वविशिष्ट तत्पदार्थ का विधान होता है उसीप्रकार 'शान्तो दान्तः' इत्यादि वाक्य में शान्त-दान्त आदि पदों में सामानाधिकरण्य होने से शांतत्वादि-विशिष्ट एक कर्त्ता का विधान होता है । अथवा 'जातपुत्रः कृष्णकेशः अग्निमादधीत' इस वाक्य में जातपुत्र और कृष्णकेश शब्द से लक्षणा द्वारा उपस्थित यौवनरूप अवस्थाविशेष का विधान होता है उसीप्रकार 'शान्तो दान्तः' इत्यादि वाक्य में शान्तादिपद से लक्षणा द्वारा उपस्थित अवस्थाविशेष का विधान होता है । अत एव उक्त वाक्य में 'पश्येत्' इस विधिप्रत्ययान्त क्रियापद के होने पर भी ज्ञान की विधि नहीं होती । क्योंकि विधिप्रत्यय का प्रकृतिभूत 'दृश् धातु' लक्षणा से दर्शन के साधनीभूत श्रवण का बाधक होता है अतः उस वाक्य से शान्त्यादि विशिष्ट एक श्रवणक्रिया का विधान होता है । अतः जैसे 'सोमेन यजेत' इस वाक्य से सोमविशिष्टयाग का विधान होने से उसमें वाक्यभेद नहीं होता उसीप्रकार 'शान्तो दान्तः' इत्यादि वाक्य में भी वाक्यभेद नहीं हो सकता ।

जन्मान्तरीयतदुपयोगस्तु नानिष्टः, द्वारस्य निष्पक्षत्वात् । 'श्रवणाङ्गत्वे जन्मान्तरीयप्रयाजादिवद् न तदुपयोगः स्यादि'ति चेत् ? न, अध्ययनादावदृष्टस्यापि जन्मान्तरोपकारकत्वस्य श्रवणादाविव प्रयाजादावदृष्टस्यापि तस्य तदङ्गसंन्यासादावविरोधात् ।

न चैतावता गृहस्थस्यापि श्रवणाधिकारः, विवेकादिवत् संन्यासस्याप्यधिकारिविशेषणत्वात्, जन्मान्तरीयस्य च तस्याऽनिश्चयात् । 'गृहस्थानामपि श्रवणं श्रूयत' इति चेत् ? न, 'वेदानिमं०' इत्यादिविधिविरोधेऽर्थवादलिङ्गस्य वाच्यत्वात्, 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादिविधिविरोध इव देवानां यागादिश्रवणे । जनकस्य श्रूयत इति श्रद्धावन्तो मैत्रेय्याः श्रूयते इति स्त्रीणा-

मप्यधिकारं कल्पयेयुः । तस्मात् संन्यासिन एवाधिकारः । गृहस्थस्य तु प्रवृत्तस्य दृष्टार्थत्वात् श्रवणस्य प्रमाणसंभावनाददृष्टं निष्पद्यत एव । नियमादृष्टं तु नोत्पद्यते, विधेरप्रवृत्तेः, यथा शूद्रानुष्ठितयागान्तर्गतावघातात् ।

[जन्मान्तरीय संन्यास भी उपयुक्त है]

संन्यास को श्रवणाङ्ग मानने पर जन्मान्तरीय संन्यास का उपयोग अनिष्ट नहीं है क्योंकि जन्मान्तरीय संन्यास से भी दुरितनिवृत्तिरूप द्वार की निष्पत्ति होती है । यदि यह शंका की जाय कि-"संन्यास को श्रवण का अङ्ग मानने पर जन्मान्तरीय संन्यास का उपयोग नहीं हो सकेगा, क्योंकि जन्मान्तरीय प्रयाजादि का उपयोग दर्शपूर्णमासादि के अनुष्ठान में नहीं होता ।"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे अध्ययनादि में जन्मान्तरोपकारकत्व दृष्ट नहीं है फिर भी श्रवणादि में माना जाता है उसी प्रकार प्रयाजादि में जन्मान्तरोपकारकत्व का दर्शन न होने पर भी संन्यास में उसे मानने में कोई विरोध नहीं है । इस पर यदि यह कहा जाय कि-'यदि संन्यास जन्मान्तर में भी उपकारक होगा तो श्रवणादि में गृहस्थ को भी अधिकार की आपत्ति होगी । क्योंकि उस में भी जन्मान्तरीय संन्यास की सम्भावना है ।"-तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि, जैसे विवेकादि श्रवणादि के अधिकारी का विशेषण है उसी प्रकार संन्यास भी अधिकारी का विशेषण है । अतः संन्यासविशिष्ट ही श्रवण में अधिकारी हो सकता है, संन्यास से उपलक्षित नहीं ।

[जन्मान्तरीय संन्यास से श्रवणादि अधिकार की सिद्धि असंभव]

दूसरी बात यह है कि-जन्मान्तरीय संन्यास गृहस्थ को श्रवणादि में अधिकृत नहीं बना सकता, क्योंकि गृहस्थ जन्मान्तर में संन्यासी था उसके निश्चय का कोई उपाय नहीं है । यदि यह कहा जाय कि-'शास्त्रों में गृहस्थों का भी श्रवण सुना जाता है, अतः उसे श्रवणाधिकारी मानना उचित है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'वेदानिमं०' इत्यादि पूर्वोक्त विधिवाक्य से जो संन्यास को श्रवण का अङ्ग बताया गया है उसका विरोध होगा । अतः गृहस्थादि के श्रवणादिबोधक वाक्य को अर्थवाद ही मानना उचित है । क्योंकि 'ब्राह्मणो यजेत' इस विधिवाक्य के विरोध के कारण देवता यज्ञ में अधिकृत नहीं होते अतः उन के यज्ञादि श्रवण को अर्थवाद माना जाता है । दूसरी बात यह है कि यदि विदेहराजा गृहस्थजनक को श्रवणादि सुना जाता है इससे यदि श्रवणादि में गृहस्थ का अधिकार स्वीकार किया जायगा तो मैत्रेयी (महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी) के यज्ञादि का श्रवण होने से यागादि में स्त्री के अधिकार की भी कल्पना प्रसक्त होगी । अतः सिद्ध है कि श्रवणादि में संन्यास का ही अधिकार है, गृहस्थ का नहीं । गृहस्थ यदि श्रवणादि में प्रवृत्त होता है तो श्रवण यद्यपि दृष्टार्थक-अदृष्टातिरिक्तप्रयोजनक है तो भी श्रवण में गृहस्थ की प्रवृत्ति से श्रवण की कर्त्तव्यताबोधक वेदवचन का सम्भावन-सम्मानन होता है । अतः उससे अदृष्ट की उत्पत्ति होती है । केवल नियमादृष्ट उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि श्रवणादि की विधि गृहस्थ के उद्देश से प्रवृत्त नहीं है । यही बात याग के अन्तर्गत शूद्रादि द्वारा तण्डुलादि के अवघात के सम्बन्ध में भी है ।

यच्चातुरसंन्यासस्य ज्ञानार्थत्वमुक्तम् तत्र 'यद्यातुर०' इत्यादि वाक्ये किं विधीयते ? न तावत् संन्यासः, तस्य पूर्ववाक्यविहितत्वात् । नापि दशाविशेषे तद्विधानम्, अविरक्तस्य

तदनधिकारात्, विरक्तस्यातुरस्यापि पूर्ववाक्येनैव संन्यासप्राप्तेः। नापि मनोवाचोर्विधानम्, तयोरपि पूर्वतः प्राप्तेः। नाप्यातुरे तद्विधानम्, अनातुरे तत्प्रापकेनैव प्राप्तेः। अथ प्राप्तपुनःसंकीर्तनमितरांगपरिसंख्यार्थमित्यनेनेतरांगव्यावृत्तिः क्रियत इति चेत्? न परिसंख्यायास्त्रिदोषत्वात्। श्रुतहान्य-ऽश्रुतकल्पनाप्राप्तबाधास्त्रयो दोषाः। तस्मात् 'यद्यातुर०' इत्याद्यभ्यासाधिकरणन्यायेन कर्मान्तरमेव विशिष्टं विधीयते। तस्य च न पूर्वसंन्यासप्रकृतित्वम्, मानाभावात्। न च तत् पूर्वसंन्यासफलेन फलवत्, चोदकप्रवृत्त्यभावात्। नापि पूर्वसंन्यासवत् श्रवणांगम्, आतुरत्वसामर्थ्यस्य बलवत्त्वात्।

[आतुर संन्यास वाक्य से किसका विधान ?]

आतुर संन्यास को जो ज्ञानफलक कहा गया है उस सम्बन्ध में यह विचार करना आवश्यक है कि आतुरसंन्यासबोधक उक्त वाक्य में किसका विधान होता है? विचार करने पर यह अवगत होता है कि उस में संन्यास का विधान नहीं माना जा सकता। क्योंकि संन्यास पूर्व वाक्य से विहित है। 'अवस्थाविशेष में उससे संन्यास का विधान होता है' यह भी नहीं माना जा सकता क्योंकि आतुर यदि विरक्त नहीं है तो उसका संन्यास में अधिकार ही नहीं है और यदि विरक्त है तो पूर्ववाक्य से ही उसे भी संन्यास प्राप्त है। 'संन्यास को उद्देश्य कर मन और वचन का विधान होता है' यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन दोनों का भी विधान पूर्ववाक्य से प्राप्त है। आतुर के लिये भी उसका विधान नहीं किया जा सकता क्योंकि अनातुर में मन और वचन से संन्यास का प्रापक जो वचन है उसी से आतुर में भी प्राप्त है।

यदि यह कहा जाय कि–"यह ठीक है कि आतुर-संन्यास पूर्वतः प्राप्त है किन्तु उसका कथन इतर अङ्ग की परिसंख्या के लिये है। अतः आतुरसंन्यासबोधक वाक्य से संन्यास से इतर अङ्ग की व्यावृत्ति होती है।"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि परिसंख्या में तीन दोष होते हैं-१. श्रुतहानि, २. अश्रुतकल्पना और ३. प्राप्तबाध। जैसे, प्रकृत में संन्याससामान्य के जिस अंग की व्यावृत्ति होती है वह अंग भी श्रुत है, उसकी हानि होती है। एवं अश्रुत इतरांगत्याग की कल्पना होती है और व्यावर्त्तनीय अङ्ग प्राप्त है उसका बाध होता है। अतः त्रिदोषग्रस्त होने से परिसंख्या नहीं मानी जा सकती।

[आतुरसंन्यास वाक्य से कर्मान्तर का विधान]

अतः यह मानना उचित है–मीमांसादर्शन के अभ्यासाधिकरण में जो अभ्यस्यमान कर्म को कर्मान्तर मानने का न्याय स्थापित किया गया है उसके अनुसार आतुरसंन्यास वाक्य पूर्ववाक्य से विहित संन्यास से भिन्न संन्यास संज्ञक कर्मान्तर का विधायक है और वह पूर्वविहित संन्यासप्रकृतिक अर्थात् पूर्वविहित संन्यास का अंग नहीं है, क्योंकि उस में कोई प्रमाण नहीं है। एवं वह पूर्ण संन्यास के फल से फलवान् भी नहीं है क्योंकि इस अर्थ को बताने में विधिवाक्य की प्रवृत्ति नहीं है। पूर्व संन्यास के समान यह श्रवण का अंग भी नहीं है क्योंकि उक्त वाक्य में आतुर पद का उपादान है अत एव उससे उपस्थित आतुरत्व ही सामर्थ्य है जिसके कारण उक्त वाक्य आतुरमात्र के ही संन्यास का

विधायक है। अतः वह श्रवणांग नहीं हो सकता। क्योंकि, श्रवण का अंग वही हो सकता है जिसका विधान श्रवणार्थीमात्र के लिये हो।

तदवश्यं फले कल्पनीये केचिदाहुः—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ १ ॥

इति श्रुतेर्दग्धरथन्यायेनातुरसंन्यासविषयत्वम्। न हि परिपक्वयोगस्य तत्र गमनम्। नापि 'प्राप्य पुण्यकृतान्०' इत्यादेरातुरसन्न्यासविषयत्वम्, 'योगाच्चलितमानसः०' इत्यादिनोपक्रान्तश्रवणादिविषयत्वेन प्रतीतेः। नापि कृतपापसंन्यासिविषयत्वम्, कल्याणाभिधानात्। तस्मात् साधनसंपन्नस्योत्पन्नश्रवणादिप्रत्ययस्यापरिपक्वस्य 'प्राप्य पुण्यकृतान्' इत्यादिवचनविषयत्वम्, आतुरस्य शमाद्यसंपन्नस्याऽकृतश्रवणत्वेनानुत्पन्नप्रत्ययस्य 'वेदान्तविज्ञान०' इत्यादिवचनविषयत्वम्। परिपक्वयोगस्य तु नोभयविषयत्वमिति। 'वेदान्त०' इत्यादिश्रुतेर्निर्गुणब्रह्मविषयत्वेन व्याख्यानेऽपि—

'सन्न्यस्तमिति यो ब्रूयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि।
सोऽव्ययाल्लभते भोगान् पुनर्जन्म न विद्यते ॥१॥

इत्यादिस्मृत्याऽऽतुरसंन्यासिनो ब्रह्मलोकं गतस्य तत्रोपदेशे सम्युत्पन्नज्ञानस्य मुक्तिः, इत्युपदेशद्वारा 'मुक्तिसाधनब्रह्मलोकगमनकाम आतुरः संन्यसेदि'ति विधिर्विपरिणम्यत इति।

[आतुरसंन्यास का फल क्या है ?]

इस स्थिति में अब यह प्रश्न उठता है कि यदि आतुर वाक्य से संन्याससंज्ञक कर्मान्तर का विधान होता है तो उसका फल क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कुछ विद्वानों का यह कहना है कि संन्यासफल के सम्बन्ध में एक ऐसा श्रुतिवचन उपलब्ध होता है जिसका अर्थ यह है कि "वेदान्त के अध्ययन से अर्थबोध प्राप्त=अर्जित करने वाले शुद्धचित्त यति संन्यासयोग से ब्रह्मलोक में जाते हैं और वहां इस स्थिति की नियतावधि के अन्तकाल में वे सब वहीं से मुक्त हो जाते हैं।" इस प्रकार इस श्रुति को ऐसे संन्यास विधायकवाक्य की अपेक्षा है जिससे विहित संन्यास का फल ब्रह्मलोकगमन हो और आतुरसंन्यासबोधक वाक्य को ऐसे वचन की अपेक्षा है जो ऐसे संन्यास का फल बतावे जैसा इस वाक्य से विहित है। इसलिये जिस का रथ दग्ध हो गया है और अश्व विद्यमान हो वह ऐसे व्यक्ति का संयोग चाहता है जिसके पास अश्व न हो किन्तु रथ हो। और रथ रखने वाला व्यक्ति ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा करता है जिसके पास रथ न हो किन्तु अश्व हो अतः दोनों में सहयोग होने से रथ को अश्व की और अश्व को रथ की प्राप्ति होती है उसीप्रकार ब्रह्मलोकगमन को संन्यास का फल बताने वाली श्रुति आतुरसंन्यासविषयक हो जाती है और आतुरसंन्यासविधायकवचन ब्रह्मलोकगमन को संन्यास का फल बताने वाली श्रुति के सहयोग से अपने प्रतिपाद्य संन्यास की

ब्रह्मलोकगमनफलकता में पर्यवसित हो जाता है, और इस वचन को आतुरसंन्यासविषयक मानना ही उचित है, क्योंकि जिस का योग परिपक्व है उसका ब्रह्मलोक में गमन नहीं होता ?

[प्राप्य पुण्यकृतान्० इस वचन का विषय कौन ?]

यदि यह कहा जाय कि–"प्राप्य पुण्यकृतान् लोकान् इत्यादि वचन आतुरसंन्यासविषयक हैं, अतः उक्त श्रुतिवचन 'नष्टाश्वदग्धरथ याय' से आतुरसंन्यासविषयक नहीं हो सकता।"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'योगात् चलितमनसः' इत्यादि वचनों से यह ज्ञात है कि 'प्राप्य पुण्यकृतान्' इस वचन का विषय वह व्यक्ति है जिसने श्रवणादि का उपक्रम कर दिया है, किन्तु अदृष्टवश उस पद से च्युत हो गया है, अतः इसमें 'आतुरसंन्यासविषयकत्व सिद्ध नहीं हो सकता'–यह भी नहीं कहा जा सकता कि–'कृतपाप संन्यासी उक्त वचन का विषय है'–क्योंकि उस वाक्य में ब्रह्मलोक प्राप्त संन्यासी के लिये वहीं से मोक्षलाभ का शब्द से अभिधान किया गया है जो कृतपाप के लिये सम्भव नहीं है। अतः वस्तुस्थिति यह है कि जो साधनचतुष्टय से सम्पन्न होता है और श्रवणादि से जिसे आत्मबोध उत्पन्न हो जाता है किन्तु अपरिपक्व होता है वह 'प्राप्य पुण्यकृतान्०' इस वचन का विषय है और जो शमादि से सम्पन्न नहीं होता, श्रवणादि न कर सकने से जिस को आत्मबोध उत्पन्न हुआ नहीं होता, ऐसा आतुर पुरुष, ब्रह्मलोकगमन को संन्यास का फल बताने वाले वचन का विषय है। किन्तु जिसका योग परिपक्व हो चुका है ऐसा व्यक्ति उन दोनों में से किसी भी वचन का विषय नहीं है।

[स्मृति से आतुरसंन्यासफल का निर्णय]

इस संदर्भ में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यदि 'वेदान्तविज्ञान०' इत्यादि वचन का निर्गुणब्रह्मपरक इस प्रकार व्याख्यान किया जाय कि 'वेदान्त के श्रवणादि से जिसे निर्गुणब्रह्म का निश्चय हो चुका है ऐसे शुद्ध चित्त वाले यति संन्यासयोग से ब्रह्मलोक में जाते हैं और वहीं से मुक्त हो जाते हैं'–तब यह कहना कठीन होगा कि उक्त वचन आतुरसंन्यासविषयक है। अतः उस स्थिति में आतुरसंन्यास के फल का निर्णय इस आशय की स्मृति से करना होगा कि जो व्यक्ति प्राण कण्ठगत होने पर भी 'संन्यस्तं०'='मैंने संन्यास ले लिया' इस प्रकार शब्दतः भी संन्यासग्रहण कर लेता है वह अक्षय भोग को प्राप्त करता है और उस का पुनर्जन्म नहीं होता। इस श्रुति के अनुसार आतुर-संन्यासी ब्रह्मलोक में जाता है और वहीं उसे उपदेश से ब्रह्मज्ञान का उदय होकर मुक्ति होती है। अतः आतुरसंन्यासबोधक विधिवाक्य की अर्थकल्पना इस प्रकार होती है कि 'उपदेश द्वारा मुक्ति के साधन ब्रह्मलोक में जाने की वांछावाला पुरुष आतुरसंन्यास ग्रहण करें।'

अपरे तु-'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' इतिवाक्यं 'यस्याहिताग्नेर्गृहानग्निर्दहेत् सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्' इतिवद् यदि वैराग्यनिमित्ते संन्यासविधायकम्, तदा निमित्ते विधानादेवाङ्गेष्वसमर्थस्यातुरस्य निरङ्गसंन्यासप्राप्तेः 'यद्यातुर०'-इत्यादेर्व्यर्थत्वाप-(त्तेः ?)त्तिः। नहि यावज्जीवनिमित्ते विहितस्याग्निहोत्रस्याऽसमर्थं प्रत्यङ्गाभावबोधकं वचनान्तर-मपेक्षितम्, यथाशक्तिन्यायेनैव सिद्धेः। यदि च विरक्तस्याधिकारिणस्तत्फलकामस्य संन्यास-विधायकम्, तदाङ्गवाक्यपर्यालोचनयाऽङ्गेषु समर्थं प्रत्येवोक्तवाक्यप्रवृत्तिः। न ह्यङ्गेष्वसमर्थे

प्रति स्वर्गकामाग्निहोत्रवाक्यं प्रवर्तते, अङ्गविकलस्याप्यधिकारापत्त्या । तिर्यगधिकरणविरोधात् । तथा च प्रकृतेऽप्यङ्गाऽसमर्थमातुरं प्रति 'प्रव्रजेत्' इति पूर्ववाक्यस्याङ्गवाक्यैकवाक्यतापन्नस्याऽप्रवृत्तेः 'यद्यातुर' इति वाक्यमङ्गाऽसमर्थस्यातुरपदवाच्यस्य संन्यासकर्तव्यताविधायकं, तद्विधिसामर्थ्यादेव चाङ्गाभावः । न ह्येतावता स एव संन्यास आतुरस्य विधीयते, 'वाचा मनसा वा' इत्यस्यापि विधेयस्य दर्शनात् । न चार्थप्राप्तानुवादः, अर्थप्राप्त्यपेक्षया श्रुतेः प्रबलत्वात्, इति प्राप्ते संन्यासेऽनेकविधानस्याऽशक्यत्वात् संन्यासान्तरं विधीयते । तस्य चातुरत्वसामर्थ्यविरोधाद् न प्रकरणेन वाक्येन वा श्रवणसंबन्ध इति फलाकाङ्क्षायां पापक्षयः फलं कल्प्यते, "संन्यासेन द्विजन्मनाम्०" इत्यादिस्मृतेः । यदि तु संन्यासं कृत्वा जीवितस्तदा श्रवणाधिकारिविशेषणत्वबोधकवाक्यप्रकरणबाधकं सामर्थ्यमपगतम्, इत्यधिकारिविशेषणत्वमेव संन्यासस्य भवति ।

[यद्यातुर० वाक्य से विहित संन्यास में अन्य मत]

अपर विद्वानों का कहना है-'यस्याहिताग्निः०' इत्यादि वचन जैसे 'गृहदाहरूप निमित्त उपस्थित होने पर आहिताग्नि के लिये 'क्षामवान्' संज्ञक अग्नि उद्देश्य से आठ कपालों के निर्वाप' का विधान करता है, उसी प्रकार यदि 'यदहरेव०' यह वचन वैराग्यरूपनिमित्त उपस्थित होने पर संन्यास का विधायक होगा तो इस नैमित्तिक विधान से ही संन्यास के अंगों के सम्पादन में असमर्थ आतुर को निरंगसंन्यास की प्राप्ति हो जायगी । अतः आतुर संन्यास बोधक वचन व्यर्थ होगा । क्योंकि यावज्जीवरूप निमित्त से विहित अग्निहोत्र के समस्त अङ्गों के सम्पादन में असमर्थ पुरुष के प्रति असाध्य अङ्गों में अभावबोधन के लिये अग्निहोत्र के विधायक नये वचन की अपेक्षा नहीं होती । क्योंकि 'यथाशक्ति न्याय' से कतिपय अङ्गविकल अग्निहोत्र यावत् जीवनिमित्तक अग्निहोत्रविधायक वचन से ही सिद्ध हो जाता है ।

यदि 'यदहरेव०' यह वचन संन्यासफल के इच्छुक विरक्त अधिकारी के लिये संन्यास का विधायक होगा तो अङ्गवाक्यों के पर्यालोचन से अङ्गों के अनुष्ठान में समर्थ पुरुष के प्रति ही उक्त वाक्य की प्रवृत्ति होगी । क्योंकि स्वर्गकाम के लिए अग्निहोत्र का विधायकवाक्य अग्निहोत्र के अंगों के अनुष्ठान में असमर्थ पुरुष के प्रति नहीं प्रवृत्त होता । क्योंकि अङ्गविकल को भी अग्निहोत्र के अधिकार की प्राप्ति होने से मीमांसा के कर्माधिकारनिर्णायक तिर्यगधिकरण का विरोध होगा । क्योंकि उस अधिकरण में यह बताया गया है कि जैसे अध्ययनादि में असमर्थ होने से तिर्यग्योनि के जीव वैदिक कर्मों में अधिकृत नहीं होते हैं उसी प्रकार जो व्यक्ति सर्वाङ्गसमेत जिस कर्म के अनुष्ठान में असमर्थ है उसका उस कर्म में अधिकार नहीं होता । फलतः प्रकृत में भी संन्यास के अङ्गों के निर्वाह में असमर्थ आतुर के प्रति अङ्गबोधक वाक्यों के साथ एकवाक्यतापन्न होने के कारण संन्यास विधायक 'प्रव्रजेत्' शब्द से घटित पूर्ववाक्य की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । अतः आतुरसंन्यासबोधक वाक्य आतुरपदवाच्य संन्यास के अङ्गों के पालन में असमर्थ पुरुष के लिये संन्यास का विधायक होगा । और उस विधि के बल से ही उस पुरुष के

संन्यासअङ्गों के अनुष्ठानाभाव भी सिद्ध होगा। इससे सिद्ध है कि आतुर के लिये विहित संन्यास वही संन्यास नहीं है जो संन्यासफलेच्छु विरक्ताधिकारी के लिये उक्त विरक्त प्रव्रज्यावाक्य से विहित है। क्योंकि आतुरसंन्यास बोधक वाक्य में संन्यास के विशेषणरूप में वाणी और मन की भी विधेय रूप में उपलब्धि होती है।

[वाणी और मन अर्थतः प्राप्त होने की शंका और उत्तर]

यदि यह कहा जाय कि-"संन्यास के साथ वाणी और मन अर्थतः प्राप्त है और उक्त वाक्य में तो उसका अनुवाद मात्र है"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अर्थ प्राप्ति की अपेक्षा श्रुति प्रबल होती है। अतः आतुरसंन्यास वाक्य में जब वाणी और मन का विधेयरूप में शब्दशः उल्लेख है तो उसे अर्थतः प्राप्त वाणी और मन का अनुवाद कहना उचित नहीं है। अतः वाक्यभेद के भय से प्राप्त संन्यास में अनेकगुण का विधान अशक्य होने से आतुर संन्यासवाक्य से अन्यसंन्यास का विधान ही मानना उचित है। अतः आतुरत्वरूप सामर्थ्य के विरोध से प्रकरण अथवा वाक्य द्वारा श्रवणादि के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि यदि वह श्रवणादि का अङ्ग होता तो आतुर के लिये उसका विधान ही असङ्गत होगा। क्योंकि उस पक्ष में श्रवणादि होने पर ही उस संन्यास की फलवत्ता होगी और आतुर व्यक्ति श्रवणादि सम्पादन कर नहीं सकता। अतः आतुरवाक्य से विहितसंन्यास जब श्रवणादि से असम्बद्ध यदि एक अलग ही संन्यास है तब उसके फल की आकांक्षा होने पर यही मानना उचित है कि इस संन्यास का फल है पापक्षय, क्योंकि 'संन्यासेन द्विजन्मनां' इत्यादि श्रुति वचन में संन्यास से द्विजन्मा के पापक्षय का अभिधान है। इस संन्यास के सम्बन्ध में यह विशेषतः ज्ञातव्य है कि यदि कोई मनुष्य आतुर संन्यास लेने के बाद जीवित रह जाता है तब वाक्य एवं प्रकरण द्वारा आतुर संन्यास में श्रवणाधिकारी की विशेषणता के बोध का बाधक आतुरत्वरूप सामर्थ्य निवृत्त हो जाता है। अतः उस स्थिति में संन्यास श्रवणाधिकारी का विशेषण होता ही है।

ब्रह्मलोकादिगमनं तु न सन्न्यासफलम्, 'सन्न्यासाद् ब्रह्मणः स्थानम्०' इत्यादेर्ब्रह्मलोकान्तभोगाऽविरक्तसन्न्यासविषयत्वात्, 'प्राप्य पुण्यकृतान्०' इत्याद्युक्तस्य सन्न्यासपूर्वकानुष्ठितश्रवणादिसामर्थ्योद्बुद्धपूर्वशुभकर्मफलत्वात्। अत एव तदभावे "अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्" इत्युक्तेरातुरस्यापि सर्वतो विरक्तस्य तुल्यन्यायतया कदाचित् तत्सामर्थ्योद्बुद्धपूर्वशुभकर्मफलानि भुक्त्वा पुनर्जातस्य श्रवणादिना शीघ्रमुक्तिरेव। अन्यथा श्रवणार्थसन्न्यासिनो दैवादर्वाक् श्रवणाद् मृतस्य नान्तरीयकफलाङ्गीकारे च सन्न्यासिनो वैराग्यात् प्रकृतौ लय इत्यस्यापि प्रसङ्गात्, परिपक्वयोगस्यापि तत्प्रसङ्गाच्च। तत् सिद्धं सन्न्यासः श्रवणार्थ एवेति। ततश्च सिद्धं-साधनचतुष्टयसंपन्नः श्रवणाधिकारी श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमनुसृतः श्रवणादि संपादयति।

[ब्रह्मलोक प्राप्ति आदि संन्यास का फल नहीं है]

'वेदान्त विज्ञान०' इत्यादि वाक्य से जो संन्यास से ब्रह्मलोकगमन की बात कही गयी है

उससे यह समझना ठीक नहीं है कि ब्रह्मलोक में गमन संन्यास का फल है। सत्य यह है कि ब्रह्मलोकादिगमन संन्यास का फल नहीं है, क्योंकि संन्यास से ब्रह्मलोक प्राप्त होता है इस आशय के जो शास्त्रवचन उपलब्ध होते हैं वे ब्रह्मलोकान्त भोग से वैराग्य हुये बिना जो संन्यास ले लिया जाता है उससे सम्बन्धित हैं; विरक्त संन्यास से सम्बन्धित नहीं है।

'प्राप्य पुण्यकृतान्०' इत्यादि वचन से संन्यासी को लभ्य जिस फल का प्रतिपादन किया गया है वह भी संन्यास का फल नहीं है किन्तु संन्यासपूर्वक श्रवणादि के अनुष्ठान से जो साधक को सामर्थ्य प्राप्त होता है उससे उद्बुद्ध फलोन्मुखीभूत पूर्वजन्मार्जित शुभकर्मों का फल है। इसीलिये उक्त कर्म के अभाव में 'श्रवणादि में लगा हुआ साधक बुद्धिमान् योगिओं के कुल में ही उत्पन्न होता है।' इस उक्ति से, जिस प्रकार अनातुर संन्यासी को श्रवणादि के परिपाक के पूर्व श्रवणादि से निवृत्ति हो जाने पर उक्त पूर्वोपार्जितभोक्तव्य शुभ कर्मों के सद्भाव-असद्भाव से उक्त दो स्थिति होती है और बाद में श्रवणादि का परिपाक होने पर शीघ्र मुक्ति होती है उसी प्रकार सर्वतः विरक्त आतुर संन्यासी भी कभी वैराग्य और संन्यास से प्राप्त सामर्थ्य से उद्बुद्ध पूर्वार्जित शुभकर्मों का तत्तल्लोकों में फलभोग कर पुनः सत्कुल में उत्पन्न होता है और श्रवणादि द्वारा उसकी भी शीघ्र मुक्ति होती है। ब्रह्मलोक-पुण्यलोकादि भी संन्यासी के पूर्वजन्मार्जित शुभकर्म का ही फल है यही मानना उचित भी है। अन्यथा जिस मनुष्य ने वैराग्यपूर्वक श्रवणादि के लिये संन्यास लिया है वह दैववश श्रवण से पहले मर जाता है, उसे भी यदि संन्यास का उक्त नान्तरीयक फल माना जायगा तो वह जैसे संन्यस्त है वैसे विरक्त भी है, अतः यदि संन्यास से उसको ब्रह्मलोकादि की प्राप्ति होगी तो उसी प्रकार वैराग्य से उसे प्रकृतिलय की भी प्राप्ति होगी, किन्तु ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते और क्रम से होने में कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार जिसका योग परिपक्व हो गया है उसे भी संन्यास और वैराग्य से उक्त फलों की प्राप्ति का प्रसङ्ग होगा। अतः उक्त रीति से यह सिद्ध है कि संन्यास श्रवणार्थ ही होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि उक्त साधन चतुष्टय से सम्पन्न श्रवणाधिकारी पुरुष श्रोत्रीय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाकर श्रवणादि का सम्पादन करता है।

श्रवणादिकं तु श्रवणम्, मननम्, निदिध्यासनं चेति। श्रवणं नाम वेदान्तानां शक्ति(? सति)तात्पर्यावधारणानुकूलो व्यापारः। श्रुतस्यार्थस्य युक्तितोऽनुसंधानं मननम्। विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण सजातीयप्रत्ययप्रवाहीकरणं निदिध्यासनम्। एतेषां श्रवणं प्रधानम्, इतरे फलोपकार्यङ्गे, श्रोतव्यादिवाक्येषु प्राथमिकत्वात् श्रवणविधेरेवार्थवादिकफलकल्पनये-तरयोस्तत्कल्पनाक्लेशनिवृत्तेः। श्रवणस्य तत्त्वज्ञाने प्रधानभूतशब्दप्रमाणस्वरूपनिर्वाहकतया प्राधान्यम्, अन्यतोऽवगतार्थे गृहीतशक्तितात्पर्यस्यैव शब्दस्य प्रमाणत्वात्। ये तु श्रवणादिषु विधिरेव नास्तीति, मनसैव च तत्त्वज्ञानोत्पत्तिं मन्यन्ते, तेषां निदिध्यासनस्य मनःसहकारितया, श्रवणादेश्च तदर्थतया न श्रवणे प्राधान्यादरः।

[श्रवण-मनन-निदिध्यासन की व्याख्या]

श्रवणादि का अर्थ है-श्रवण-मनन और निदिध्यासन। उनमें श्रवण का अर्थ है-परमार्थसत् ब्रह्म में सम्पूर्ण वेदान्तों के तात्पर्यनिर्णय का प्रयोजक व्यापार। वह व्यापार है मीमांसादर्शन में

कथित तात्पर्यनिर्णय के छः लिंग—उपक्रम-उपसंहार की एकरूपता, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इन छह लिङ्गों का वेदान्त की अद्वितीयब्रह्मपरता में योजन।

मनन का अर्थ है जिस अर्थ में वेदान्त वाक्यों का तात्पर्य निर्णीत हो जाय उस अर्थ का युक्तिपूर्वक अनुसंधान-अनुमान द्वारा पुष्टिकरण।

निदिध्यासन का अर्थ है-विजातीयप्रत्यय=ब्रह्मभिन्नवस्तुग्राही मनोवृत्ति का निरोध कर सजातीय प्रत्यय=ब्रह्माकार मनोवृत्ति को प्रवाहित करना। अर्थात् अविच्छिन्नरूप से ब्रह्म का अनुध्यान करना। इन तीनों में श्रवण प्रधान है और मनन तथा निदिध्यासन उसके फलोपकारी अङ्ग हैं। क्योंकि 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इस आत्मदर्शनोपाय के प्रतिपादक श्रुति में श्रवण का प्रथम उल्लेख है। अतः श्रवण विधि के ही अर्थवादोक्त फल की कल्पना से मनन और निदिध्यासन को फलवत्ता सिद्ध हो जाती है, अतः उनके पृथक फल की कल्पना का क्लेश अनावश्यक है।

उक्त तीनों में श्रवण की प्रधानता इसलिये भी होती है कि वह तत्त्वज्ञान में शब्दात्मक प्रधान प्रमाण के प्रमाकरणस्वरूपस्वरूप का निर्वाहक है, क्योंकि अन्य साधन से ज्ञात अर्थ में जिस शब्द की शक्ति और तात्पर्य अवधारित होता है, वही प्रमा का जनक होता है। अतः ब्रह्मतत्त्व में वेदान्तों के तात्पर्य का अवधारणरूप अथवा उस अवधारण का प्रयोजक व्यापाररूप श्रवण, वेदान्तवाक्य से होने वाली ब्रह्मप्रमा का प्रयोजक है।

कुछ विद्वान् ऐसे हैं जो तत्त्वज्ञान के लिये श्रवणादि की विधि नहीं मानते किन्तु मन से ही तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं। उनके मत में निदिध्यासन मन का सहकारी है और श्रवण एवं मनन निदिध्यासनार्थ अपेक्षित है। अत एव उनकी श्रवण की प्रधानता में अभिरुचि नहीं है।

विधिश्चात्र नियम एव, निर्विशेषात्मबोधेऽपि पुराणप्राकृतवाक्यश्रवणादेः प्राप्तत्वात्, वेदान्तश्रवणस्य नियमनात्। संभवति हि शूद्रादेः शमादिसंपन्नस्य पुराणश्रवणादिना तत्त्वबोधः। ब्राह्मणस्य तु न वेदान्तपरित्यागेन पुराणश्रवणमिति नियमविधेः फलम्। एतच्च श्रवणाद्यावृत्तं तत्त्वधीहेतुः, दृष्टार्थत्वात्। एवं बहुजन्मलब्धपरिपाकवशादसौ 'तत्त्वमसि'आदिवाक्यार्थं विशुद्धं प्रत्यगभिन्नं परमात्मानं साक्षात् कुरुते।

[श्रवणादि का विधि यह नियम विधिरूप है]

जो विद्वान् श्रवणादि की विधि मानते हैं उनके मत में श्रवणादि की विधि अपूर्वविधि अथवा अन्य कोई विधि न होकर नियमविधि ही है। क्योंकि निर्विशेष आत्मा के बोध में भी वेदान्त श्रवण के समान पुराण और प्राकृतवाक्य आदि का भी श्रवण प्राप्त होता है। अतः इस नियमविधि से वेदान्तश्रवण का नियमन होता है। शूद्रादि जो शमादि से सम्पन्न है उसे पुराण के श्रवणादि से भी तत्त्वज्ञान होता है। किन्तु 'ब्राह्मण वेदान्त का परित्याग कर पुराण का श्रवण न करे' यही नियम-विधि का फल है। श्रवणादि तीनों उपाय पुनः पुनः आवर्तित होने पर तत्त्वज्ञान के जनक होते हैं क्योंकि उनका तत्त्वज्ञानरूप दृष्ट फल है। अतः इस फल की सिद्धि न होने तक उनका आवर्तन आवश्यक होता है। इस प्रकार अनेक जन्मों में श्रवणादि के आवर्तन से उनका परिपाक होने

पर ब्रह्मजिज्ञासु साधक 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों से प्रतिपाद्य विशुद्ध-निरुपाधि प्रत्यगभिन्न= जीवात्मा से अभिन्न परमात्मा का साक्षात्कार करता है ।

तत्र त्वंपदार्थः प्रसिद्ध एव संबोध्यो जीवः । तत्पदार्थश्चेश्वरः, स च 'बिम्बचैतन्यम्' इति केचित्, 'विक्षेपशक्तिप्रधानाज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यम्' इत्यन्ये, जीवनिष्ठाज्ञानविषयभूतं चैतन्यम्' इत्यपरे । उक्तार्थयोश्च तत्-त्वम्पदयोरत्र सामानाधिकरण्यं न 'सिंहो देवदत्तः' इतिवद् गौणम्, मुख्ये संभवति तस्याऽन्याय्यत्वात् । नापि 'मनो ब्रह्म' इतिवदुपासनार्थम्, श्रुतहान्यऽश्रुतकल्पनापत्तेः । मुख्यत्वेऽपि न नीलोत्पलादिस्थानीयम्, गुण-गुणिभावाद्यसंभवात्, 'निर्गुणाऽस्थूल'–आदिवचनविरोधाच्च। नापि 'यः सर्पः स रज्जुः' इतिवद् बाधीयम्, उभयोश्चि-द्रूपतया बाधाऽयोगात् । तस्मात् पदार्थयोः परस्परभेदव्यावर्तकतया विशेषण-विशेष्यभावप्रत्ययानन्तरं लक्षणया 'सोऽयं देवदत्तः' इतिवद् विशुद्धप्रत्यगभिन्नाखण्डपरमात्मप्रतीतिः ।

['तत्'–'त्वम्' पदों का वाच्यार्थ]

'तत्त्वमसि' वाक्य में 'त्वम्' पद का अर्थ प्रसिद्ध है और वह है संबोध्य जीव । संबोध्य का अर्थ है युष्मत्पदघटितवाक्यजन्यबोधाश्रयरूप में वक्ता को अभिमत । अर्थात्, जिस व्यक्ति को बोध कराने के अभिप्राय से युष्मत्पदघटित वाक्य का प्रयोग होता है वह संबोध्य होता है । यह संबोध्यता जीव में ही होती है क्योंकि जीव को बोध कराने के लिये ही युष्मत्पदघटित वाक्य का प्रयोग होता है । तथा उक्त वाक्य में 'तत्' पद का अर्थ है ईश्वर=ब्रह्म । कुछ लोगों के अनुसार तत् पद से प्रतिपाद्य ईश्वर बिम्बचैतन्यरूप है । अन्य विद्वानों के मत में विक्षेपशक्ति प्रधान अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही ईश्वर है । अपर विद्वानों के मत में जीवनिष्ठ अज्ञान का विषयभूत चैतन्य ही ईश्वर है । ईश्वर और जीव के बोधक क्रमशः 'तत्' और 'त्वम्' पद का 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में सामानाधिकरण्य है । सामानाधिकरण्य का अर्थ है परस्परान्वितार्थक होते हुये समान विभक्तिक होना । यह सामानाधिकरण्य 'तत्' पद और 'त्वम्' पद में है, क्योंकि उनका प्रयोग उनके अर्थों के परस्पर अन्वयबोध के लिये प्रयुक्त है और समानविभक्तिक भी है । किन्तु यह सामानाधिकरण्य 'सिंहो देवदत्तः' इस वाक्य में सिंहपद और देवदत्त पद के सामानाधिकरण्य के समान गौण नहीं है, क्योंकि 'सिंहो देवदत्तः' वाक्य में सिंहपद सिंहसदृश का लक्षक है, किन्तु इस वाक्य में 'तत्' या 'त्वम्' सादृश्यविशिष्ट का लक्षक नहीं है । कारण, मुख्य अर्थ सम्भव रहने पर लाक्षणिक अर्थ का अभ्युपगम न्यायसंगत नहीं होता ।

['तत्त्वमसि' वाक्य में सामानाधिकरण्य मीमांसा]

एवं, 'मनो ब्रह्म' इस वाक्य में मन और ब्रह्म पद का सामानाधिकरण्य जिस प्रकार उपासनार्थ है इसप्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में तत्-त्वम् पद का सामानाधिकरण्य उपासनार्थ नहीं है । क्योंकि उपासनार्थ मानने पर श्रुतहानि और अश्रुत कल्पना की आपत्ति होगी । वह इस प्रकार–जीव और ब्रह्म का ऐक्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'-'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों से श्रुत है अतः उसकी हानि होगी । जीव और ब्रह्म में अश्रुतकल्पना यानी अन्य श्रुति से अश्रुत उपास्य-उपासकभाव की कल्पना की भी

आपत्ति होगी। इसीप्रकार तत्त्वमसि वाक्य में तत् पद और त्वम् पद मुख्य शक्यार्थ का बोधक होने पर भी उनका सामानाधिकरण्य 'नीलोत्पलं' इस वाक्य में नीलपद और उत्पलपद के सामानाधिकरण्य जैसा भी नहीं हो सकता, क्योंकि तत् पदार्थ और त्वम् पदार्थ में गुण-गुणिभावादि का अभाव है। तथा कथञ्चिद् गुण-गुणिभाव का अभ्युपगम करके भी उसका समर्थन नहीं किया जा सकता। क्योंकि ईश्वर को निर्गुण और स्थूल आदि बताने वाले वचन का विरोध होगा। एवं 'यः सर्पः स रज्जुः' इस में जैसे बाधा में सामानाधिकरण्य होता है वैसे तत् और त्वम् पद का बाधा में सामानाधिकरण्य भी नहीं है। क्योंकि बाधा में सामानाधिकरण्य का अर्थ है कि बाधित अभेद का बोधक होते हुये समानविभक्तिक होना। 'यः सर्पः स रज्जुः' इस वाक्य में 'रज्जु' पद 'तत्' पद ये दोनों रज्जु और सर्प के बाधित अभेद का बोधक है और परस्पर समानाधिकरण है-किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में इस प्रकार का सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है क्योंकि तत्-त्वम् पदार्थ का अभेद बाधित नहीं है। दोनों में चिद्रूपता अबाधित है। इसलिये 'तत्' पद और 'त्वम्' पद के अर्थों में परस्परभेदव्यावृत्तिफलक विशेषणविशेष्यभाव की प्रतीति हो जाने के बाद लक्षणा द्वारा जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य से तत्कालीन और एतत्कालीन एक अभिन्न देवदत्त का बोध होता है उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में भी तत् पद और त्वम् पद के उपस्थित अर्थों में विशेषण-विशेष्यभाव की प्रतीति के बाद परमात्मा का बोध होता है।

['तत्त्वमसि' वाक्य में शुद्ध चैतन्य में लक्षणा]

आशय यह है कि जिन पदार्थों में अभेद सम्बन्ध से विशेषणविशेष्यभावशाली बोध होता है उन पदार्थों में उस बोध से परस्पर भेद की व्यावृत्ति होती है। क्योंकि भेद और अभेद में सहज विरोध होने के कारण अभेद प्रत्यय द्वारा भेद का निवर्त्तन आवश्यक होता है। किन्तु 'सोऽयं देवदत्तः' यह दुःशक्य है, क्योंकि इस वाक्य में 'इदं' पद पुरोदेशवर्तित्वविशिष्ट का शक्ति से बोधक है और 'तत्' पद पुरोदेशान्यदेशवृत्तित्वविशिष्ट अर्थ का बोधक है। इसप्रकार इदं पदार्थ में और तत्पदार्थ में एक दूसरे के भेदक धर्म विद्यमान हैं। अतः इन दोनों में पदार्थों के अभेद बोध से उनके परस्परभेद की व्यावृत्ति सम्भव नहीं है। अत एव 'तत्' और 'इदं' दोनों पद की, विशेषण का त्यागकर विशेष्यमात्र में लक्षणा की जाती है। अतः लक्षणाजन्य अभेद बोध से परस्पर भेद की व्यावृत्ति होती है। उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस स्थल में भी 'तत्' पद का अर्थ सर्वज्ञत्वादिविशिष्ट ब्रह्मचैतन्यात्मक ईश्वर और 'त्वम्' पद का अर्थ है अल्पज्ञत्व-अल्पकर्तृत्वादि विशिष्ट चैतन्य। अतः जब इन दोनों का अभेद बोध होगा तो उस बोध से उन दोनों के परस्परभेद की व्यावृत्ति के लिये उन में विद्यमान परस्परभेदक धर्मों का त्याग कर शुद्धचैतन्यमात्र में दोनों पदों की लक्षणा करके लक्ष्यार्थ बोध का अभ्युपगम करना होगा। फलतः उक्त वाक्य से विशुद्ध प्रत्यगभिन्न परमात्मा का बोध होने में कोई बाधक नहीं हो सकता।

सा च लक्षणा पदद्वयेऽपि विशेषणांशत्यागेन चिन्मात्रे स्ववाच्यैकदेशे, अन्यथाऽखण्डार्थप्रतीत्यनुपपत्तेः, लक्षणाबीजविरोधासमाधानाच्च। इयमेव जहदजहल्लक्षणा, भागलक्षणा च गीयते। न चाभेदान्वयिचैतन्यांशोपस्थितिरपि शक्त्यैव, वैशिष्ट्यांशस्य त्वनुपपत्त्याऽनन्वय इति न लक्षणायाः प्रयोजनमिति वाच्यम्, जीवत्वेश्वरत्वाभ्यामुपस्थितयोरभेदान्वयाऽसंभवाद्

विशेष्यांशमात्रोपस्थित्यर्थं तदादरात् । न च शक्तिजन्ययैवोपस्थित्या विरुद्धप्रकारांशपर्युदासेनान्वयः, 'गौर्नित्यः' इत्यादावपि भागलक्षणोच्छेदात् । 'तत्र विशेषणत्वेनोपस्थितस्य न नित्यत्वान्वययोग्यता' चेत् ? अत्रापि जीवत्वेश्वरत्वाभ्यामुपस्थितयोर्नाऽभेदान्वययोग्यतेति तुल्यम् ।–'गोत्वं नित्यम्' इति बोधानुरोधात् तत्र विशेष्यतयोपस्थित्यर्थं लक्षणादर इति चेत् ? अत्रापि विशेष्यतयोपस्थितयोर्विशेष्यांशयोरभेदः संसर्गविधया भायात्, इष्टं चाऽखण्डार्थत्वम्, इति लक्षणयैव शुद्धवस्तूपस्थितिः । अत एव निर्विकल्पको वाक्यार्थबोधः, पदार्थस्यैव वाक्यार्थत्वात् । न च वाक्यवैयर्थ्यम्, पदस्याऽप्रामाण्यात्, वाक्योत्थबोधमन्तरेण भेदभ्रमाऽनिवृत्तेश्च । न हि 'सः' इति 'अयम्' इति च देवदत्तस्वरूपमात्रविवक्षया प्रयुक्तपदजन्यबोधाद् भेदभ्रमनिवृत्तिः, 'सोऽयम्' इति वाक्याच्च भवति सेति ।

[विशेष्यरूप वाच्यएकदेश में तत्-त्वम् पदों की लक्षणा]

उक्त लक्षणा यानी 'तत्त्वमसि' इस वाक्य से अखण्डार्थप्रतीति के लिये अपेक्षित लक्षणा उस वाक्य के तत् और त्वम् दोनों पदों में होती है और वह भी उन दोनों पदों के अर्थों में विशेषणांश को त्याग कर उन पदों के वाच्यार्थ के विशेष्यात्मक एकदेश चिन्मात्ररूप अर्थ में । क्योंकि यदि दोनों पदों की चिन्मात्र में लक्षणा नहीं मानी जायगी तो चिन्मात्रस्वरूप अखण्डार्थ की प्रतीति नहीं हो सकेगी । और त्वम् पदार्थ और तत् पदार्थ के अभेद की अनुपपत्तिरूप लक्षणाबीज का भी समाधान नहीं होगा । विशेषणांश को छोड़कर विशेष्यमात्र में होने वाली यह लक्षणा ही जहदजहल्लक्षणा या भाग (त्याग) लक्षणा कही जाती है । जहदजहल्लक्षणा की व्युत्पत्ति है–'जहती चाऽसौ अजहती च इति जहदजहती, जहदजहती चासौ लक्षणा चेति जहदजहल्लक्षणा ।'–अर्थात् वाच्यार्थ के यत्किञ्चिद् एक अंश का त्याग करने वाली और वाच्यार्थ के अन्यअंश का त्याग न करने वाली लक्षणा । भागलक्षणा का अर्थ है–भाग में=एकदेश मात्र में लक्षणा ।

[शक्ति से शुद्ध चैतन्य की उपस्थिति का असंभव]

इस लक्षणा के विरोध में यह शंका होती है कि 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में तत् और त्वम् पद की, विशेषण को छोड़कर केवल चैतन्यमात्र में शक्ति मानना आवश्यक है क्योंकि अभेद के अन्वयी दोनों पदार्थों का घटक चैतन्यमात्र है और उसकी उपस्थिति भी उन पदों की शक्ति से होती है । यद्यपि शक्ति में विशेषणांश भी उपस्थित होता है किन्तु उन दोनों पदार्थों के घटक विशेषणों में अभेद अनुपपन्न है । अत एव उनमें अभेदान्वय न होकर विशेष्य में ही अभेदान्वय होता है अतः लक्षणा का कोई प्रयोजन नहीं है ।"–किन्तु यह ठीक नहीं है । क्योंकि जीवत्व और ईश्वरत्व परस्पर में भिन्न होने से उन दो रूप से उपस्थित अर्थों में अभेदान्वय नहीं हो सकता । अतः विशेषणों में अभेद न होने से विशिष्ट में भी अभेद नहीं हो सकता । क्योंकि, विशिष्ट यह विशेषण और विशेष्य से भिन्न न होने के कारण कोई भी वस्तु विशेषण में अवृत्ति होकर विशेष्यमात्र में वृत्ति नहीं हो सकती । इसलिये विशेष्यांशमात्र की उपस्थिति के लिये लक्षणा का आदर आवश्यक है ।

[शक्ति द्वारा उपस्थित अर्थों का आंशिक बोध अमान्य]

यदि यह कहा जाय कि–'शक्तिजन्य ही उपस्थिति से विरुद्ध प्रकारांश का त्याग कर विशेष्य-मात्र में परस्पर में अन्वय हो सकता है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि शक्ति द्वारा उपस्थित अर्थ का आंशिक बोध अप्रामाणिक है। अन्यथा 'गौर्नित्यः' इस वाक्य से गोपदशक्ति द्वारा ही गोत्व में नित्यपद के अर्थ का अन्वय हो जाने से गोपद की गोत्व में भागलक्षणा का उच्छेद हो जायगा। अर्थात् शक्ति द्वारा अर्थ बोध के तात्पर्य से 'गौर्नित्यः' इस प्रयोग के प्रामाण्य की आपत्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि–'गौर्नित्यः' इस वाक्य में गो शब्द से गौ विशेष्यरूप में उपस्थित है किन्तु उसमें नित्यत्व के अन्वय की योग्यता नहीं है। अतः गोत्व में नित्यत्व के अन्वय के लिये गोत्व में गोपद की भागलक्षणा आवश्यक है'–तो यह बात 'तत्त्वमसि' इस स्थल में भी समान है, क्योंकि यहाँ भी जीवत्व और ईश्वरत्वरूप से उपस्थित अर्थों में अभेदान्वय की योग्यता नहीं है, अतः जीवत्व और ईश्वरत्व को छोड़कर विशेष्यमात्र की उपस्थिति के लिये भागत्यागलक्षणा आवश्यक है।

[गो पद की लक्षणा के प्रयोजन की आशंका का उत्तर]

यदि 'गौर्नित्यः' इस वाक्य में गो पद की लक्षणा के समर्थन में यह कहा जाय कि–"उक्त वाक्य से 'गोत्वं नित्यम्' इस बोध की उपपत्ति के लिये विशेष्यविधया गोत्व की उपस्थिति अपेक्षित है, क्योंकि 'विशेष्यतासम्बन्ध से पदार्थान्वयबोध के प्रति विशेष्यतासम्बन्ध से पदजन्य उपस्थिति कारण होती है'–इस कार्यकारणभाव के अनुरोध से 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन'=एक पदार्थ का पदार्थान्तर के साथ ही अन्वय होता है, किन्तु पदार्थ के एकदेश के साथ नहीं होता–यह नियम है। अतः गोपदनिष्ठशक्तिजन्य उपस्थिति विशेष्यतासम्बन्ध से गोत्व में न रहने से गोत्व में नित्यत्व अन्वय नहीं हो सकता। अत एव गोपद से गोत्वविशेष्यकोपस्थिति के लिये गोत्व में गोपद को भागत्यागलक्षणा का आदर होता है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में भी 'तत्' और 'त्वम्' पद से शक्तिजन्य बोध माना जायगा तो तत् और त्वम् पद से शक्ति से उपस्थित ईश्वरत्वविशिष्ट और जीवत्वविशिष्ट में जीवत्व और ईश्वरत्व को छोड़कर जीव पदार्थ चैतन्य और ईश्वरपदार्थ चैतन्य के अभेद संसर्ग का ही भान होगा किन्तु इस वाक्य से अभेदसंसर्गक बोध इष्ट नहीं है, इष्ट तो है अखण्डार्थ का बोध, जिसके लिये लक्षणा से शुद्ध वस्तु की उपस्थिति आवश्यक ही है।

'तत्त्वमसि' इस वाक्य में तत् और त्वम् पद से लक्षणा द्वारा शुद्ध चैतन्यात्मक वस्तु की उपस्थिति होने से ही उक्त वाक्य का अर्थबोध निर्विकल्पक होता है। क्योंकि वहाँ पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है। ऐसा मानने पर यह शंका कि–'यदि पदार्थ और वाक्यार्थ में भेद नहीं है तो वाक्य का प्रयोग व्यर्थ है। किसी एक पद मात्र का बोध ही पर्याप्त है।'–नहीं की जा सकती क्योंकि पद अप्रमाण है–अर्थात् एक पद मात्र से प्रमात्मक ज्ञान का उदय नहीं होता। दूसरी बात यह है कि वाक्यजन्यबोध के अभाव में जीव और ईश्वर में भेदभ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि लौकिकवाक्यस्थल में भी केवल 'सः' अथवा केवल 'अयं' इस पद का देवदत्त के स्वरूपमात्र की विवक्षा से प्रयोग करने पर उस एक एक पद मात्र से जन्य बोध से 'अयं न सः' इस भेदभ्रम की निवृत्ति नहीं होती है–किन्तु 'सोऽयं' इस वाक्यजन्य देवदत्तस्वरूपविषयक बोध से ही होती है।

तदिदमात्मज्ञानमुत्पन्नमात्रमेवानन्तजन्मार्जितकर्मराशिं विनाशयति, "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि०" इति श्रुतेः । तेन कर्मक्षयार्थं न कायव्यूहकल्पना, 'स एकधा भवति' 'स त्रेधा' इत्यादिवाक्यानामुपासकविषयत्वात् । न च देहनाशप्रसङ्गः, प्रारब्धप्रतिबन्धात्, 'तस्य तावदेव चिरं यावद् न विमोक्ष्ये, अथ संपत्स्ये' इति श्रुत्याऽकर्मविपाकेनाऽप्रारब्धनिवृत्तावपि तस्य ज्ञानाऽनिवर्त्यत्वाभिधानात् । तस्यां चावस्थायां प्रारब्धफलं भुञ्जानः सकलसंसारं बाधितानुवृत्त्या पश्यन् स्वात्मारामो विधिनिषेधाधिकारशून्यः संस्कारमात्रात् सदाचारः प्रारब्धक्षयं प्रतीक्षमाणो 'जीवन्मुक्तः' इत्युच्यते । अस्य च प्रारब्धतो जन्मान्तरमपि । अत एव सप्तजन्मविप्रत्वप्रदे कर्मणि प्रारब्धे उत्पन्नतत्त्वज्ञानस्य पुनर्देहान्तरं, प्रारब्धस्य ज्ञानाऽनाश्यत्वादिति केचित् ।

[आत्मज्ञान से कर्मबन्धनों का विनाश]

उक्त रीति से अर्जित आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, वह उत्पन्न होते ही अनन्त जन्मों से अर्जित कर्मराशि को नष्ट कर देता है । जैसा कि कहा गया है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयः ।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

अर्थ:—परावर=जिससे पर=ब्रह्माभिन्नत्वरूप से ज्ञायमान समस्त पदार्थ-अवर-अपकृष्ट है, अथवा अवर=जिससे कोई वर=श्रेष्ठ नहीं है, एवम्भूत पर यानी इन्द्रिय-वाणी और मन का जो अविषय है उस ब्रह्म का दर्शन=अखण्ड साक्षात्कार होने पर द्रष्टा के हृदय की गांठ=अन्तःकरण के साथ आत्मा का आध्यासिक तादात्म्य-छूट जाती है, और सभी संशय निवृत्त हो जाते हैं, तथा समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं ।

यतः आत्मतत्त्वज्ञान से ही सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाता है, अत एव कर्मक्षय के लिये भोग की अपेक्षा न होने से तत्त्वज्ञानी को, भोग द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का युगपद् नाश करने के लिये, कायव्यूह=अनेक विलक्षण शरीरों की रचना की आवश्यकता नहीं होती । 'स एकधा भवति', 'स त्रेधा भवति' इत्यादि श्रुतिवचन जो साधक को दो तीन रूप में अवस्थित होने का निर्देश करते हैं वह तत्त्वज्ञानी के सम्बन्ध में नहीं, किन्तु उपासक यानी सगुण ब्रह्म की उपासना करने वाले के सम्बन्ध में है ।

[तत्त्वज्ञान के बाद त्वरित देहनाश में प्रारब्ध का प्रतिबन्ध]

यह शंका कि आत्मतत्त्वज्ञान से ही सम्पूर्ण कर्मों का नाश होने पर तत्त्वज्ञान होते ही 'तत्त्वज्ञानी के देहनाश की प्रसक्ति होगी'- नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रारब्धकर्म का आत्मतत्त्व के ज्ञान से नाश नहीं होता, अतः प्रारब्ध कर्म से देहनाश का प्रतिबन्ध हो जाता है । तात्पर्य यह है कि उक्त श्रुति तत्त्वज्ञान को प्रारब्धकर्मों से भिन्न समस्त कर्मों का ही नाशक बताती है । क्योंकि ऐसा न मानने पर 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' = भोग किये बिना सैंकड़ों कल्पों (युगों) में भी कर्म

नष्ट नहीं होता।' इस वचन की कथमपि उपपत्ति नहीं हो सकेगी। इसलिये पूर्वश्रुति में कर्मपद को प्रारब्ध कर्मेतर कर्मपरक और इस वचन में कर्मपद को प्रारब्धकर्मपरक मानने से दोनों वचनों की उपपत्ति हो जाती है। एवं उक्त वचन के अतिरिक्त उपनिषद् का ही एक दूसरा 'तस्य तावदेव०' वचन है जिससे यह ज्ञात होता है कि कर्मविपाक के बिना ज्ञानमात्र से प्रारब्धभिन्नकर्म की निवृत्ति तो होती है किन्तु प्रारब्धकर्म की निवृत्ति ज्ञान से नहीं होती। उक्त वचन का अर्थ यह है कि– 'उसे=तत्त्वज्ञानी को पूर्णमुक्त होने में केवल उतना ही विलम्ब होता है जितने में वह प्रारब्धकर्मों से मुक्त नहीं होता। उसके बाद उसे ब्रह्मात्मतासम्पत्ति=विदेहमुक्ति=पूर्णमुक्ति प्राप्त होती है।

[तत्त्वज्ञानी की अन्तकालीन दशा]

उस अवस्था में–अर्थात् तत्त्वज्ञान हो जाने पर देहपात न होने तक की अवधि में तत्त्वज्ञानी प्रारब्धकर्मों का फलभोग करता है और सम्पूर्ण संसार को बाधित=पारमार्थिकरूप से असत् देखता है। एवं सांसारिक बातों से रुचिहीन होकर केवल अपने आत्मानन्द में मग्न रहता है। विधि और निषेध अधिकार से शून्य हो जाता है। केवल श्रेष्ठ कर्म करने के दीर्घकालीन अभ्यासजनित संस्कार-मात्र से सदाचारों का पालन करता है। उस समय उसे अपने प्रारब्ध कर्मों के क्षय की ही प्रतीक्षा शेष रहती है। ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुष को ही जीवन्मुक्त कहा जाता है। जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह मत है कि उसके प्रारब्ध कर्म का नाश उसके उसी जन्म में हो जाय जिसमें उसे तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ है–यह आवश्यक नहीं है। यदि उस जन्म में प्रारब्धकर्मों का फल भोग पूरा नहीं हो पाता तो उसे जन्मान्तर भी लेना आवश्यक होता है। इसीलिये लगातार सातबार विप्रकुल में जन्मप्रद प्रारब्ध कर्म के रहते तत्त्वज्ञान प्राप्त करने वाले पुरुष को पुनः देहान्तर की प्राप्ति होती है क्योंकि प्रारब्धकर्म का नाश ज्ञान से नहीं होता।

संप्रदायस्तु–नैवम्, कर्म हि नैकमेव प्रारब्धतां भजते, एकेन कर्मणा भोजनादिक्षुधादि-जन्यसुखदुःखभोगानुपपत्तेः। 'भोजनादिजन्यसुखादेर्न कर्मजन्यत्वम्, स्वाभाविकत्वात्' इति तु न युक्तम्, दृष्टहेतुनिष्पादनेनैव कर्मणां सुखादिहेतुत्वात्, कर्मविशेषाभावादेव भोजनाद्यभावे सुखाभावात्। तस्मात् तत्तत्क्षणवर्तिबहुल्पसुख-दुःखहेतुगुरुलघुकर्मणामनेकेषां प्रायणकालोद्बुद्ध-वृत्तिकानां प्रारब्धता वाच्या। इत्युत्पन्नज्ञानस्य देहान्तरस्वीकारे ज्ञानोत्पादकदेहनाशकाल एव कर्मणां प्रारब्धतापत्तेः प्राक् संचितावस्थानां तेषां ज्ञानेन नाशाभावे संचितकर्मनाशकता-बोधकोक्तश्रुतिबाधः। नाशे वा कथं मनुष्यदेहान्तरोत्पत्तिः, तस्य प्रतिक्षणवर्तिक्षुधादिदुःख-बहुलत्वात् ?। तस्मात् सर्वेषां संचितानां नाशात् सप्तजन्मप्रदस्याप्यन्तिमतत्त्वबोधेनाऽज्ञान-तत्कार्यनिवृत्तौ निवृत्तिरिति न तस्य देहान्तरम्। इन्द्रादीनां तु ज्ञानिनां देहान्तरम्, प्रारब्धेनैव तन्नाशाभावात्। न च प्रकृतेऽपि तथा, उत्पन्नज्ञानस्य प्रतिक्षणभोगप्रदतत्तत्कर्मणां प्रारब्धत्वे मानाभावात्, इन्द्रादीनां तु देहश्रवणस्यैव मानत्वात्, देहान्तरस्य तादृक्सामर्थ्यकल्पने गौरवाच्च।

[मृत्युकाल में फलोन्मुख कर्मों की प्रारब्धता]

वेदान्तदर्शन का साम्प्रदायिक सिद्धान्त यह है कि–पूर्वोक्त मत ठीक नहीं है, क्योंकि प्रारब्ध यह कोई एक कर्म नहीं है, क्योंकि एक कर्म से भोजनादिजन्य सुख और क्षुधादिजन्य दुःख का भोग नहीं हो सकता और एक कर्म में अनेकविध सुख-दुःख की जनकता युक्तिविरुद्ध भी है। यदि यह कहा जाय–'भोजनादिजन्य सुखादि कर्मजन्य नहीं होता किन्तु स्वाभाविक-दृश्यकारणमात्रजन्य होता है'-तो यह युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि कोई भी कर्म साक्षात् सुखादि का हेतु नहीं होता किन्तु सुख-दुःखादि के दृष्ट कारणों के सम्पादन द्वारा ही सुखादि का हेतु होता है। भोजनादि के अभाव में जो सुख का अभाव होता है वह भी भोजनादि के सम्पादक कर्मविशेष के अभाव से ही होता है। अतः भोजनादि दृष्ट कारणों से सुखादि की उत्पत्ति मान कर कर्म में सुखादिजनकता का खण्डन नहीं किया जा सकता। अतः यही मानना युक्तिसङ्गत है कि केवल एक कर्म ही प्रारब्ध नहीं होता किन्तु पूर्वजन्म के प्रायणकाल = मृत्युकाल में जिन कर्मों की फलोन्मुखवृत्ति का उद्बोधन हुआ है वे सभी छोटे-बडे कर्म प्रारब्ध होते हैं, जिनसे विभिन्न क्षणों में न्यूनाधिक अथवा अल्प सुख अथवा दुःख की प्राप्ति होती है।

[तत्त्वज्ञानी को नये देहधारण की अनुपपत्ति]

अब तत्त्वज्ञानी को देहान्तर की प्राप्ति मानने पर ज्ञानोत्पादक देह के नाशकाल में ही कर्मों को प्रारब्धता प्राप्त होगी और उसके लिये यदि पूर्वसञ्चित कर्मों का ज्ञान से नाश नहीं मानेंगे तो तत्त्वज्ञान से सञ्चित कर्मों का नाश बताने वाली श्रुति का बाध होगा। यदि तत्त्वज्ञान से सञ्चित कर्मों का नाश माना जायगा तो प्रारब्धता प्राप्त करने वाले कर्मों का अभाव होने से अन्य मनुष्य देह की प्राप्ति कैसे होगी ? क्योंकि वह शरीर प्रतिक्षण में होनेवाले क्षुधादिजन्य दुःखादि से भरा होता है, अतः कर्म के बिना उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये यही मानना उचित है कि तत्त्वज्ञान से सभी सञ्चित कर्मों का नाश होता है। सप्तजन्मप्रद कर्म की भी, अन्तिम तत्त्वज्ञान से अज्ञान और अज्ञान के समस्त कार्यों की निवृत्ति होने पर, निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि अज्ञान ही समस्त कार्यों का उपादान कारण होता है और उपादान कारण का नाश होने पर निराधार कार्य का अस्तित्व नहीं हो सकता, इसलिये तत्त्वज्ञानी को देहान्तर प्राप्ति नहीं होती। इन्द्रादि तत्त्वज्ञानीओं को जो देहान्तर की प्राप्ति होती है वह उनके प्रारब्ध कर्म से ही होती है, क्योंकि उनके प्रारब्ध कर्म का तत्त्वज्ञानोत्पादक देह में तत्त्वज्ञान से नाश नहीं होता। किन्तु सर्वसाधारण तत्त्वज्ञानी के विषय में ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि सर्वसाधारण तत्त्वज्ञानी के प्रतिक्षण भोग प्रदान करने वाले तत्तत्कर्म प्रारब्धरूप होने में तथा वे देहान्तर का आरम्भक होने में कोई प्रमाण नहीं है। इन्द्रादि के तत्तत्कर्मों की प्रारब्धता में उनके देहान्तरप्राप्ति का बोधक शास्त्र ही प्रमाण है। सभी तत्त्वज्ञानी को देहान्तर और देहान्तरप्रापक सामर्थ्य की कल्पना करने में गौरव भी है।

ततश्च ज्ञानिदेहारम्भकेष्वनेकजन्मप्रदेष्वनेकेषु सुकृत-दुष्कृतेषु सत्स्वपि न जन्मान्तरमेतस्य सुवचम्, सति देहे देहान्तराऽयोगात्। तन्नाशानन्तरं तदुपगमे च "यं यं वापि स्मरन् भावम्" इति स्मृतेर्देहान्तरविषयान्तिमप्रत्ययस्यावश्यकत्वाज्ज्ञानिनामपि तदापातात्। ततः प्रायणकाले उत्पादितदेहान्तरविषयान्तिमप्रत्ययत्वं प्रारब्धत्वम्, इति ज्ञानिदेहारम्भकाणां

तज्जन्मभोगप्रदत्वावच्छेदेनैव प्रारब्धत्वात्, तज्जन्मभोगसमाप्तावज्ञाननिवृत्तेर्न देहान्तरम् । न चेदेवम्, उत्क्रमणस्यावश्यकत्वाद् 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' इति श्रुतिसंकोचः । इति न ज्ञानिनो जन्मान्तरम्, किन्तु प्रारब्धक्षयेऽज्ञाननिवृत्तौ चिन्मात्रमेवावशिष्यत इति ।

अयं वेदान्तिनां सर्वः संप्रदायो निरूपितः ।
स्वैरं यत्राग्रहग्रस्ताः पतन्त्येते तपस्विनः ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त कारण से तत्त्वज्ञानी के देहारम्भक अनेक जन्मप्रद अनेक सुकृत-दुष्कृत रहने पर भी-'तत्त्वज्ञानी को जन्मान्तर प्राप्ति होती है'-यह कथन-कहना कठीन है। क्योंकि तत्त्वज्ञानोत्पादक देह के पहले देहान्तर नहीं हो सकता और उसके नाश के बाद यदि देहान्तर का उपगम माना जायगा तो "यं यं वापि स्मरन् भावं, त्यजत्यन्ते कलेवरं । तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावित: ।"=मृत्यु के समय मनुष्य जिन-जिन भावों का स्मरण करता है उन-उन भावों से भावित होने के कारण मृत्यु के बाद उस भाव को प्राप्त करता है'- (भगवद्गीता में कुन्तीपुत्र अर्जुन के प्रति श्रीकृष्णोक्ति) इस स्मृति वचन के अनुसार तत्त्वज्ञानी को भी देहान्तर विषयक अन्तिम प्रत्यय आवश्यक होगा। क्योंकि मृत्युकाल में जिस कर्म से देहान्तरविषयक अन्तिम प्रत्यय उत्पन्न होता है उसी को प्रारब्ध कहा जाता है, इसलिये तत्त्वज्ञानी के देहारम्भक कर्म उस जन्म में भोगप्रद होने से उसी जन्म के लिये प्रारब्ध होते हैं। अत: उस जन्म के भोग की पूर्ति होने पर अज्ञाननिवृत्ति हो जाने से तत्त्वज्ञानी को देहान्तर की प्राप्ति नहीं होती। यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो तत्त्वज्ञानी का भी प्राणोत्क्रमण=लिङ्गशरीर का मृत देह से निकलकर नवीन स्थूल देह प्राप्ति के लिये उर्ध्वगमन मानना होगा। अत: 'न तस्य प्राणा: उत्क्रामन्ति=तत्त्वज्ञानी का प्राणोत्क्रमण नहीं होता' यह श्रुति यथाश्रुत अर्थ में प्रमाण न हो सकेगी किन्तु उस में संकोच करना पड़ेगा। इसलिये यही मानना उचित है कि ज्ञानी को जन्मान्तर नहीं होता किन्तु प्रारब्ध का क्षय=तत्त्वज्ञानोत्पादक देह के आरम्भक कर्मों का नाश होने पर अज्ञान की निवृत्ति होने से चिन्मात्र हो अवशिष्ट रहता है। तत्त्वज्ञानी की यह चिन्मात्रता ही मोक्ष है।

इस प्रकार वेदान्तीओं के पूरे सम्प्रदाय का वर्णन किया गया। जिस में आग्रहग्रस्त होने से ये तपस्वी स्वेच्छया कूद पड़ते हैं ॥ ३ ॥

एतन्निराकरणवार्तामाह—

अत्राप्यन्ये वदन्त्येवमविद्या न सतः पृथक् ।
तच्च सन्मात्रमेवेति भेदाभासोऽनिबन्धनः ॥ ४ ॥

अत्रापि=अद्वैतपक्षे **अन्ये**=वादिनः वदन्ति यदुत अविद्या न **सतः**=ब्रह्मणः **पृथक्**=तत्त्वान्तरम्, द्वैतापत्तेः। **तच्च**=सच, **सन्मात्रमेव**=सन्मात्रमेव, इति हेतोः, **भेदाभासः**=भेदाध्यवसायः **अनिबन्धनः**=जनकविषयाभावादकारणः ॥ ४ ॥

[वेदान्तमतनिरसन-उत्तरपक्ष प्रारम्भ]

चौथी कारिका में वेदान्तमत के निराकरण की वार्त्ता का उपक्रम किया गया है—

अद्वैत पक्ष के विषय में अन्य वादीओं का यह कहना है कि यदि द्वैतापत्ति के भय से ब्रह्म से भिन्न अविद्या का अस्तित्व नहीं है किन्तु ब्रह्ममात्र का ही अस्तित्व है तो लोकसिद्ध भेदबुद्धि अकारणक हो जायगी। क्योंकि अद्वैतपक्ष में भेद बुद्धि के कारणीभूत विषय का अस्तित्व नहीं है ॥४॥

५वीं कारिका में उपर्युक्त आपत्ति के वेदान्ती अभिमत उत्तर का परिहार किया गया है—

पराशयं परिहरति—

सैवाथाभेदरूपापि भेदाभासनिबन्धनम् ।
प्रमाणमन्तरेणैतदवगन्तुं न शक्यते ॥ ५ ॥

अथ सैव = अविद्या **अभेदरूपापि** = सन्मात्राऽभिन्नाऽपि, **भेदाभासनिबन्धनम्** = अविद्यमाननीलादिप्रतिभासकारणम् । **एतत्** = परोक्तम्, **प्रमाणमन्तरेण** = एतदर्थनिश्चायकप्रमाणं विना **अवगन्तुं न शक्यते**, प्रमेयव्यवस्थितेः प्रमाणाधीनत्वात् ॥ ५ ॥

उक्त आपत्ति के उत्तर में यदि कहा जाय कि-"अविद्या ब्रह्म से अभिन्न स्वरूप होते हुये भी भेदप्रतीति यानी अविद्यमान नीलादिविषयों के प्रतिभास का कारण होती है।"–तो यह कथन प्रमाण शून्य होने से नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि किसी भी वस्तु की स्वीकृति प्रमाण के अस्तित्व पर निर्भर होती है ॥ ५ ॥

छट्ठी कारिका में प्रमाण के भावाभाव दोनों पक्ष में, वेदान्त मत में दोष बताया गया है–

तद्भावाऽभावयोरुभयतो दोषमाह—

भावेऽपि च प्रमाणस्य प्रमेयव्यतिरेकतः ।
ननु नाद्वैतमेवेति तदभावेऽप्रमाणकम् ॥ ६ ॥

भावेऽपि च = उपगमेऽपि च **प्रमाणस्य** = उक्तार्थनिश्चायकस्य **प्रमेयव्यतिरेकतः** = तस्य प्रमेयभिन्नत्वाद् हेतोः, **ननु** = निश्चितम् अद्वैतमेवेति न, प्रमाणप्रमेयद्वैविध्यव्यवस्थानात् । **तदभावे** = प्रमाणानभ्युपगमे अप्रमाणकमद्वैततत्त्वम्, तथा च को नाम विनोन्मत्तं श्रद्दधीत ?! ॥ ६ ॥

'लोक में अनुभूयमान भेदबुद्धि विषयजन्य नहीं, अविद्याजन्य होती है- इस अर्थ में यदि किसी प्रमाण का अस्तित्व होगा तो ब्रह्मभिन्न प्रमाण का अस्तित्व होने से ब्रह्माद्वैतवाद का भङ्ग हो जायगा और यदि उक्त अर्थ में प्रमाण का अभाव होगा तो अद्वैत का भङ्ग होगा-अर्थात् अद्वैतवाद निष्प्रमाणक हो जायगा और निष्प्रमाण वस्तु उन्मत्त को छोड़कर कोई समझदार व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता ॥ ६ ॥

७वीं कारिका में वेदान्ती की इस उक्ति का निराकरण किया गया है कि-'उपर्युक्त उपालम्भ ऐसी बात पर दिया जा रहा है जो वेदान्त मत में नहीं मानी जाती है। क्योंकि, वेदान्त मत में अविद्या में ब्रह्म का व्यावहारिकभेद एवं प्रमाण-प्रमेयादि का विभाग कर उनमें भी व्यावहारिकभेद पूर्वोक्त रीति से स्वीकार किया गया है और यह कहा गया है कि व्यावहारिकरूप में पूरे प्रपञ्च का

अस्तित्व है, किन्तु पारमार्थिकरूप में 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य के अनुसार एक अखण्ड ब्रह्म का ही अस्तित्व है'—इस पर ग्रन्थकार कहते हैं—

नन्वयमनुक्तोपालम्भः, अविद्यायाः पृथक्त्वस्य, प्रमाण-प्रमेयादिविभागेन व्यावहारिकभेदस्य च प्रागुक्तरीत्याऽभ्युपगमादेव, परमार्थतस्तु 'तत्त्वमसि' इत्यादिनोक्तमखण्डमेव सत्, इत्यत आह—

विद्या-ऽविद्यादिभेदाच्च स्वतन्त्रेणैव बाध्यते।
तत्संशयादियोगाच्च प्रतीत्या च विचिन्त्यताम् ॥ ७ ॥

विद्याऽविद्यादिभेदाच्च **स्वतन्त्रेणैव** = स्वाभ्युपगतप्रामाण्येन शास्त्रेणैव बाध्यतेऽद्वैतम्। तथाहि—"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं स ह्यविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति श्रुतौ विद्याऽविद्ययोरमृतप्राप्तिमृत्युतरणफलयोः स्फुटमेवोक्तो भेदः, स चाद्वैतेन विरुध्यते।

[अद्वैतवाद स्वशास्त्रों से बाधित]

वेदान्त का अद्वैत सिद्धान्त अपने शास्त्र से ही बाधित हो जाता है, क्योंकि उसमें विद्या-अविद्यादि का भेद स्वीकार किया गया है। इसी लिये अद्वैत के विषय में इसप्रकार का संशयादि भी सम्भव है कि वेदान्त में प्रतिपादित द्वैत सत्य है अथवा अद्वैत सत्य है? तथा, जो विभिन्न घटादि पदार्थों की मृद्रूप से अभिन्नता की और प्रातिस्विकरूप से भिन्नता की प्रतीति होती है उस प्रतीति से भी यह अद्वैतमत विचारणीय हो जाता है, क्योंकि एकमात्र अद्वैत का ही अस्तित्व होने पर घटादि-भावों की भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीति की उपपत्ति नहीं हो सकती। आशय यह है कि 'विद्यां च अविद्यां च' इस श्रुतिवचन में अविद्या से मृत्यु का तरण और विद्या से अमृत की प्राप्तिरूप फल बताया गया है। उक्त फलों में भेद स्पष्ट होने से उनके उत्पादक अविद्या और विद्या में भेद स्पष्ट है और वह भेद अद्वैत से विरुद्ध है।

नन्वत्राविद्यया श्रवणादिलक्षणया मृत्युं तीर्त्वाऽविद्यामेव निवर्त्य विद्ययोपलक्षितममृतमश्नुते, स्फटिकमणिरिवोपाधित्यागादन्तरेण प्रयत्नान्तरं स्वरूपेऽवतिष्ठत इत्यर्थः। अविद्ययैवाविद्यानिवृत्तिश्च यथा पयः पयो जरयति स्वयं च जीर्यति, यथा विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, यथा वा कतकचोदादिरजो रजोन्तराणि संहरत् स्वयमपि संहृतं भवति तथेति। न चासत्याद् न किञ्चित् कार्यम्, मायायाः प्रीतेः भयस्य रेखाङ्कादेश्च सत्यप्रतिपत्तेर्दर्शनात्-इत्यत आह-**तत्संशयादियोगाच्चेति** = 'किमत्रोक्तार्थेन 'तत्त्वमसि'आद्युक्ताद्वैताबाधः, उत विद्याऽविद्यापदार्थाभ्यां ज्ञानकर्मभ्यामतिरिक्तमुक्तिसाधनत्वबोधात् तद्बाधः ?' इति संशयात्। एवं "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परं चापरं च" इत्याद्युक्तो भेदः सत्यः, उत प्रागुक्तोऽभेदः ?' इति संशयः। तथा "परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः" इत्याद्युक्तं शब्दब्रह्माद्वैतम्, प्रागुक्तं निर्गुणब्रह्माद्वयं वा ? इत्यपि।

['विद्यां च०' इत्यादि श्रुति के अन्य अर्थ की कल्पना]

यदि यह कहा जाय कि–'उक्त वचन में यह कहा गया है कि-श्रवणमननादिरूप अविद्या से मृत्यु का अतिक्रमण यानी मृत्यु शब्द से निर्दिष्ट अविद्या की निवृत्ति कर के मनुष्य विद्या से उपलक्षित अमृत की प्राप्ति करता है। अर्थात् जैसे रक्तकुसुम की उपाधि के संनिधान में रक्त दीखाई पड़ता स्फटिकमणि उस उपाधि के निवृत्त होने पर अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा जिस अविद्यारूप उपाधि से अन्य स्वरूप प्रतीत होता है, उसकी निवृत्ति होने पर वह बिना किसी अन्य प्रयत्न, अपने विशुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। श्रवणादिरूप अविद्या से आत्मविषयक अविद्या की निवृत्ति और उसकी निवृत्ति होने पर निवर्तक श्रवणादिरूप अविद्या की भी निवृत्ति उसी प्रकार होती है जैसे दूध का अजीर्ण, दूध को जीर्ण कर स्वयं भी जीर्ण हो जाता है। एवं औषधरूप में प्रयुक्त विष, आक्रामकविष को शान्त कर स्वयं भी शान्त हो जाता है और कतकचूर्णादिरूप रज जलव्याकीर्ण अन्य रजकणों को शान्त कर स्वयं भी शान्त हो जाता है। यह भी शंका कि–"यदि अविद्या असत्य है तो उससे उक्त कार्य नहीं हो सकता क्योंकि असत्य से किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।"–ठीक नहीं है क्योंकि माया से=इन्द्रजाल से उत्पन्न पुष्प-फलादि असत्य वस्तु से प्रीति की और सर्पादि से भय की उत्पत्ति एवं रेखा-अङ्कादि से संकेतित सत्य वस्तु की प्रतिपत्ति देखी जाती है।

[साध्य और सिद्ध में भेद होने से अद्वैतबाध]

किन्तु वेदान्ती के इस लम्बे कथन से भी उसके अद्वैत सिद्धान्त की सुरक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि उक्त उत्तर से यह संशय होता है कि–'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से उक्त अद्वैत अबाधित है अथवा उक्त उपनिषद् वचन के विद्या और अविद्या पद का ज्ञान और कर्म अर्थ लेने से जो ज्ञान-कर्म से अतिरिक्त मुक्ति की सिद्धि का बोध होता है उससे उक्त अद्वैत ही बाधित है ? क्योंकि अद्वैत सिद्ध वस्तु है और मुक्ति को उक्त वचन में विद्याऽविद्या से साध्य बताया गया है अतः साध्य और सिद्ध ये दो भिन्न वस्तुओं के होने से अद्वैतबाध की प्राप्ति अनिवार्य है।

एवं 'द्वे ब्रह्मणी०' इत्यादि श्रुति यह कहती है कि ब्रह्म दो हैं–पर और अपर। मुमुक्षु को दोनों का ज्ञान करना चाहिये। अतः यह शंका होती है कि-इस श्रुति द्वारा जाने गये जीव और ब्रह्म का भेद सत्य है अथवा 'तत्त्वमसि' वाक्य द्वारा ज्ञात जीव-ब्रह्म का अभेद सत्य है ! इसी प्रकार 'परं चापरं च०' यह श्रुति यह प्रतिपादन करती है कि ओंकार ही पर और अपर ब्रह्म है। अतः संशय हो सकता है कि इस श्रुति के अनुसार शब्दब्रह्म अद्वैत है अथवा पूर्वोक्त निर्गुण ब्रह्म अद्वैत है !

न च "परं च०" इत्यादावुपासनार्थं सामानाधिकरण्यम्, निर्गुणब्रह्मण उपासितुमशक्यत्वात्, एतदालम्बने "ब्रह्मोपासितव्यम्" इति प्रतीकोपदेशात्, यथा देवतायाः साक्षात्, पूजाया असंभवात्, तल्लाञ्छने दारुण्यश्मनि वा पूजाविधानं तद्बुद्ध्येति वाच्यम्; "तत्त्वमसि" इत्यादावेवोपासनार्थं तद् भविष्यति, जीवेश्वरयोरभेदश्रुतेरिति संशयाविगमात्। एवं–"तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" इति श्रुतेः सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वं वा, "सर्वगन्धः, सर्वरसः०" इत्यादिश्रुतेर्ब्रह्मात्मकत्वं वा ? इत्याद्यूह्यम्।

[तत्त्वमसि वाक्य में उपासनार्थता का संदेह]

यदि यह कहा जाय कि–'परं चापरं च' इस श्रुति में ब्रह्मपद और ओंकारपद का सामानाधिकरण्य उपासनार्थ है। क्योंकि निर्गुण ब्रह्म की उपासना शक्य नहीं है। अत एव इस श्रुति में ओंकार रूप आलम्बन में ब्रह्म को उपासनीय बताते हुये ब्रह्मप्रतीक का उपदेश किया गया है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे देवता की साक्षात् पूजा सम्भव न होने से देवता के प्रतीक रूप काष्ठ या पाषाण में देवताबुद्धि से पूजा का विधान होता है।' –किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि इस संदेह की निवृत्ति फिर भी नहीं हो सकती कि 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में भी तत् और त्वम् पद का सामानाधिकरण्य अद्वैत बोधनार्थ नहीं है किन्तु उपासनार्थ है, क्योंकि दूसरी श्रुतियों में जीव और ईश्वर का भेद बताया गया है। इसी प्रकार 'सनेदं पूर्णं०' इस श्रुति में सम्पूर्ण प्रपञ्च को ब्रह्मात्मक कहा गया है और 'सर्वगन्धः सर्वरसः' इस श्रुति में ब्रह्म को सर्वात्मक कहा गया है अतः इस से भी अद्वैत की प्रामाणिकता में संदेह अनिवार्य है।

किञ्च, अनाकलितनयानां परेषां न क्वापि निश्चायिका श्रुतिः, तत्र तत्र प्रदेशे विरुद्धार्थाभिधानात्, नानासंप्रदायाभिप्रायव्याकुलतयैकव्याख्यानाऽव्यवस्थितेश्च। ननु युक्तिसिद्ध एवार्थे सुसंप्रदायेन श्रुति-शक्तितात्पर्यमवधार्यते, अन्यत्र 'यजमानः प्रस्तरः' इतिवदुपचार एव। युक्तिश्च प्रपञ्चासत्य एवोपदर्शितदिशा, इत्यद्वैतश्रुतीनां प्रामाण्यम्। अत एवानधिष्ठानस्य शून्यस्याऽध्यासाऽयोगेन ब्रह्मरूपेण रूपवत्त्वात् सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वेऽपि ब्रह्मणो न सर्वात्मकत्वम्, सर्वस्वभावस्य सर्वस्माद् वियोजयितुमशक्यत्वेनानिर्मोक्षापातादिति–अत आह–प्रतीत्या च = अनुभवेन च, विचिन्त्यतां यद्वत–'नाद्वैतम्' इति।

[वेदों का अर्थ सुनिश्चित नहीं है]

इसके अतिरिक्त यह ज्ञातव्य है कि नयदृष्टि की उपेक्षा कर देने पर वेदान्तीओं की कोई भी श्रुति किसी भी अर्थ का निश्चायक नहीं हो सकती, क्योंकि उसके विभिन्न भागों में परस्पर विरुद्ध अर्थ का अभिधान किया गया है। दूसरी बात यह कि वेदान्त दर्शन के भी विभिन्न सम्प्रदाय हैं, जिन्होंने अपने अपने अभिप्राय अनुसार श्रुति के अर्थ की कल्पना कर उसे ऐसी स्थिति में डाल दिया है जिससे उसका कोई एक सुव्यवस्थित व्याख्यान नहीं हो सकता।

[युक्तिसंगत अर्थ में वेदवाक्य प्रमाण होने की शंका]

यदि यह कहा जाय कि-प्रमाणिक सम्प्रदाय युक्ति से अनुमोदित अर्थ में ही श्रुतिवचन की शक्ति और तात्पर्य का अवधारण करता है। जैसे 'यजमानः प्रस्तरः' यहां यह युक्ति के आधार पर निश्चय किया जाता है कि प्रस्तर पद औपचारिक है। अतः प्रपञ्च की असत्यता के पक्ष में जो युक्ति प्रदर्शित की गयी है उसको दृष्टि में रखते हुये अद्वैत में श्रुति का प्रामाण्य निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। यतः युक्तिसिद्ध अर्थ में ही श्रुति का तात्पर्यावधारण उचित है इसीलिये सब में ब्रह्मात्मकता और ब्रह्म में सम्पूर्ण विश्वात्मकता के प्रतिपादक श्रुतिवचनों के अर्थ निर्णय में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। क्योंकि सम्पूर्ण विश्व में ब्रह्मात्मकता के पक्ष में यह युक्ति है कि विश्व का

अध्यास अधिष्ठान के विना तथा शून्य में नहीं हो सकता किन्तु सद् ब्रह्म में ही हो सकता है। अतः ब्रह्म के सत्तात्मकरूप से विश्व का सत्तावान् होना युक्तिसंगत है। इस अभिप्राय से सम्पूर्ण विश्व की ब्रह्मात्मकता युक्तिसिद्ध है किन्तु ब्रह्म की सर्वात्मकता युक्तिसिद्ध नहीं है क्योंकि यदि ब्रह्म सर्वात्मक होगा तो सब से उसका पृथक्करण शक्य न होने से मोक्षाभाव की आपत्ति होगी। इस प्रकार जो युक्तिसिद्ध अर्थ है वही उक्त श्रुतियों का अभिप्रेत है।

[अद्वैतवाद में अनुभवबाध अनिवार्य]

किन्तु विचार करने से यह स्पष्ट है कि वेदान्तीओं के उस उत्तर से भी उनके अद्वैत सिद्धान्त की सुरक्षा नहीं हो सकती क्योंकि प्रतीति यानी लोक सिद्ध अनुभव के आधार पर चिन्तन करने से अद्वैत की उपपत्ति नहीं होती।

तथाहि–अनुभूयन्ते तावदविगानेन घटादयो भावा मृद्-घटादिरूपेण भेदा-ऽभेदात्मका अवग्रहाद्यात्मनोपयोगेन। तत्र च स्वयमेकमेव चैतन्यं प्रमाण-फलस्वरूपम्, एकामेव च पदशक्तिं पदार्थांशे ज्ञातामन्वयांशे चाऽज्ञातां स्वीकुर्वाणः परः कथमेकमर्थं द्विरूपमनुभवन्नपि प्रत्याचक्षीत? यदि च त्रपां परित्यज्य 'अभेदस्यैवालोचनम्' इति परापेक्षतया भेदस्य मिथ्यात्वं ब्रूयात्, तदा प्रत्यक्षं चक्षुर्व्यापारसमनन्तरभावि वस्तुभेदमधिगच्छदेवोत्पद्यते, यतो भेदो भावस्वभाव इति भावमधिगच्छता कथं नाधिगम्येत? । न च भेदः 'इदमस्माद्व्यावृत्तम्' इति कल्पनाविषय एव, अभेदस्यैव 'इदमनेन समानम्' इति कल्पनाविषयत्वात्। भेदस्य विविक्तपदार्थस्वरूपस्य पराऽसंमिश्रितत्वात्, स्वस्वरूपव्यवस्थितानां भावानां कल्पनाज्ञानमन्तरेण योजनाभावात्, अन्यथा व्यवहाराऽनिर्वाहात्, तदुक्तम्–"अनलार्थ्यनलं पश्यन् न तिष्ठेद् नापि प्रतिष्ठेत" इति।

कहने का अभिप्राय यह है कि घट-शराव कपालादि भाव पदार्थ मृद् रूप से परस्पर अभिन्न और घटकपालादि रूप से परस्पर भिन्न निर्विवाद रूप से अनुभूत होते हैं। अतः उनके अवग्रह-इहा-अवाय-धारणा रूप उपयोग से भेदाऽभेद दोनों सिद्ध है। एवं वेदान्त में एक ही चैतन्य को अन्तःकरणवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्यरूप में प्रमाण और वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप में फल माना गया है। एवं इसीप्रकार वेदान्तसम्प्रदाय में यह भी माना गया है कि पद की शक्ति अन्विततार्थ में होती है और वह अर्थ में ज्ञात होकर और सम्बन्धांश में अज्ञात होकर एक पदार्थ से सम्बद्ध अपर पदार्थ के शब्दबोध का प्रयोजक होती है। इस प्रकार कुब्जशक्तिवाद का अभ्युपगम कर एक ही शक्ति में ज्ञातत्व और अज्ञातत्व दोनों का अभ्युपगम किया गया है। तो इसप्रकार मनुष्य को जब उभयात्मक एक अर्थ का अनुभव होता है तो वह वस्तु की अनेकान्तरूपता का प्रत्याख्यान कैसे कर सकता है?

यदि वेदान्तपक्ष की ओर से लज्जा का परित्याग कर यह कहा जाय कि परानपेक्ष प्रत्यक्ष-अभेदमात्र का ही होता है। भेद का प्रत्यक्ष परापेक्ष=प्रतियोगी सापेक्ष होता है अतः परापेक्ष होने से भेद मिथ्या है। तो इसके उत्तर में यह भी कहा जा सकता है कि चक्षुसंनिकर्ष के बाद जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह संनिकृष्ट वस्तु में इतरवस्तु के भेद को विषय करके ही उत्पन्न होता है क्योंकि भेद यह

भाव का स्वभाव है तो फिर यह सोचने की बात है कि जब मनुष्य को किसी भाव का प्रत्यक्ष होगा तो उसके स्वभावभूत भेद का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होगा ? अतः अभेद का ही प्रत्यक्ष परानपेक्ष होता है और भेद का प्रत्यक्ष परापेक्ष ही होता है यह कहना निर्युक्तिक है। इस पर यदि यह कहा जाय कि-"भेद 'इदमस्माद्व्यावृत्तम्'='यह इससे भिन्न है'-इस कल्पना-परापेक्षबुद्धि का ही विषय है"-तो अभेद के सम्बन्ध में भी यही बात इस प्रकार कही जा सकती है कि-"अभेद 'इदमनेन समानम्०' इस कल्पना=परापेक्षबुद्धि का ही विषय है।" सत्य यह है कि भेद विविक्तपदार्थस्वरूप है, उसमें पर का मिश्रण नहीं है। किन्तु अपने स्वरूप में व्यवस्थित भाव का योजन यानी नर की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति का विषयीभवन, कल्पनात्मकज्ञान अर्थात् इष्टवस्तु की भिन्नता और अभिन्नता के ज्ञान के बिना नहीं होता, क्योंकि उक्त ज्ञान के बिना लोकव्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता। जैसा कि कहा गया है कि अग्नि का अर्थी अनल को स्वरूपतः देखते हुए भी जब तक उसे अनलभिन्न अथवा अनलाभिन्न रूप में ग्रहण नहीं करता तब तक उसके सम्बन्ध में न तो प्रवृत्ति करता है और न निवृत्ति करता है।

एतेन "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षम्०" इत्यादि, निरस्तम्। विधातृत्वं हि भावस्वरूपग्राहित्वमिति प्रतिनियतार्थप्रतिभासादेव भेदग्रहणाऽविरोधात्। भिन्नत्वेन ग्रहणं त्वभिन्नत्वेनैव परापेक्षमौत्तरकालिकं न विरोत्स्यते। एतेन च इतरेतराभावरूपत्वाद् न भेदः प्रत्यक्षविषयः इत्यप्यपास्तम्, भावस्वरूपग्रहणे तत्प्रतिभासनात् वस्तुनो देश-कालादिभेदाद् भेदेऽनवस्थाद्यभिधानं त्वभेदेऽपि समानम्।

[प्रत्यक्ष केवल विधाता होने के विधान का प्रतिकार]

इसलिये 'प्रत्यक्ष विधाता होता है अर्थात् विधिरूप में ही वस्तु को ग्रहण करता है इतर-निषेधरूप में नहीं', यह कथन भी निरस्त हो जाता है। क्योंकि विधातृत्व का अर्थ है भावस्वरूप का ग्रहीता होना, भावस्वरूप का 'प्रतिनियत' अर्थ होता है और प्रतिनियत का फलतः अर्थ है इतर-व्यावृत्त। अतः प्रत्यक्ष में भावस्वरूप के प्रतिभास से ही उसमें भेद का ग्रहण=भेदभान मानने में कोई विरोध नहीं है। आशय यह है कि यदि प्रत्यक्ष से वस्तु का ग्रहण होता है तो उसके इतरभेदात्मक-स्वरूप का भी वस्तु के रूप में ग्रहण होता ही है। किन्तु उसका इतरभिन्नरूप से ग्रहण परापेक्ष होता है और प्रतियोगी की उपस्थिति होने पर वस्तुग्रहण के उत्तरकाल में वह होता है। अभेदग्रहण भी इसी ढंग से सम्पन्न होता है। अर्थात् किसी वस्तु का जब ग्रहण होता है तब उस वस्तु में अभेद भी उस वस्तु के रूप में गृहीत होता है, किन्तु वस्तु का स्वाभिन्नत्वरूप से ग्रहण स्वग्रहण के उत्तरकाल में होता है। अतः वस्तु ग्रहण के साथ भेदग्रहण और वस्तुग्रहण के बाद इतरभिन्नत्वरूप से उसका ग्रहण मानने में कोई विरोध नहीं है।

[भेद प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति की शंका का निरसन]

उक्त कारण से ही यह मत भी निरस्त हो जाता है कि-'भेद परस्पराभावरूप है, इसलिये भेद के लिये अपेक्षणीय दो वस्तु में किसी एकमात्र के प्रत्यक्ष के साथ भेद भी प्रत्यक्ष का विषय होता है ऐसा नहीं हो सकता। तथा भेद नियमतः प्रतियोगीघटितमूत्तिक है, जैसे घटभेद-पटभेद इत्यादि।

क्योंकि प्रतियोगी से मुक्त भेद अनुभव विरुद्ध है अतः अनुयोगी में प्रतियोगी का प्रत्यक्ष सम्भव न होने से तद्घटितभेदस्वरूप का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता ।'-यह मत निरस्त इस प्रकार है कि भेद अधिकरणात्मक होता है अत एव किसी भी भाव का प्रत्यक्ष होने पर तत्स्वरूप तदाश्रित भेद का भी प्रत्यक्ष होना अनिवार्य है । जो भेद को प्रतियोगिघटितमूलिक कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि भेदत्वरूप से भेदग्रहण प्रतियोगिग्रहण के विना नहीं हो सकता । अतः यह कथन तर्कहीन है कि-'यतः घटादि में पटादि का ग्रहण नहीं होता अत एव पटादिघटितमूलिक पटादिभेद का भी ग्रहण नहीं हो सकता ।'-क्योंकि पटादिभेद पटाद्यात्मकता का विरोधी है, अत एव जिस अधिकरण में भेद का ग्रहण होता है उसमें पटाद्यात्मकता के ग्रहण की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि उसका ग्रहण भेदग्रह का विरोधी है । किन्तु, पटादिभेदत्वरूप से भेदग्रहण के लिये पटादि की पटत्वादिरूप से प्रतीति अपेक्षित होती है जो अनुयोगी से पृथक् हो जाती है ।

[देशकालभेदमूलकता में अनवस्था दोष का प्रतिक्षेप]

भेदपक्ष में जो यह दोष दिया जाता है कि-"वस्तुभेद को देशकालभेदमूलक मानने पर अनवस्था होगी, क्योंकि देश-कालादि का भेद भी अन्य देशकालादिमूलक ही मानना पड़ेगा ।"-यह कथन तो अभेद पक्ष में भी समान है, क्योंकि अभेद का देशकालभेदमूलक भेद का अभाव-अर्थ करने पर देशकालभेदमूलक भेद में अनवस्था होने से उसके अभाव में भी अनवस्था का होना अनिवार्य है । यदि अभेद का अर्थ 'देशकालैक्यमूलक ऐक्य' किया जायगा तो देशकाल में देशकाल के अभेद को भी अन्य देशकालैक्यमूलक मानने से अनवस्था होगी । एवं सम्पूर्ण विश्व में ब्रह्माभेद मानने पर भी अनवस्था होगी । क्योंकि ब्रह्माभेद में वही ब्रह्माभेद मानने पर आत्माश्रय होगा, अतः ब्रह्माभेद में अन्य ब्रह्माभेद मानना होगा । इसीप्रकार उसमें भी अन्य ब्रह्माभेद मानना होगा-इसप्रकार अनवस्थित ब्रह्माभेद की कल्पना अपेक्षित होने से अभेदपक्ष में भी अनवस्था अपरिहार्य है ।

एकस्य द्वयात्मकत्वाऽयोगादन्यतरमिथ्यात्वावश्यकत्वे भेदानामेव मिथ्यात्वमिति तु विपरीतम्, नानाभेदानां मिथ्यात्वकल्पनापेक्षयैकस्याऽभेदस्यैव तत्कल्पनौचित्यात्, अन्यथा सर्वत्र सन्मात्राऽभेदनिश्चये कालभेदाभावेन 'सोऽयम्' इत्यवमर्शाभावेऽपि तद्भेदे घट-पटयोः 'सोऽयम्' इत्यवमर्शप्रसङ्गात् । न च देशान्तरस्थघटादिभेदाननुगतत्वात् सद्रूपतायाः पारमार्थिकत्वम्, भेदानां तु प्रच्यवाद् न तथात्वमिति तत्प्रच्युतिं परिगतस्याननुगतत्वस्य तदभावेऽभानात्, प्रातिभासिकस्याननुगतत्वस्योभयत्र तुल्यत्वात्, प्रत्यभिज्ञानादपि नान्वयि सद्रूपत्वम्, तन्निरासात् इत्यादि वदता पर्यायास्तिकनयानुसारिणा गले गृहीतः कांदिशीकः कां दिशमनुसरेत् ? ।

[अभेदमिथ्यात्वकल्पना में लाघव]

भेदपक्ष के विरोध में जो यह बात कही गयी थी कि 'एकवस्तु भेदाभेद उभयात्मक नहीं हो सकती । अतः यदि किसी वस्तु में उस का भेद-अभेद दोनों प्राप्त हैं तो किसी एक को मिथ्या मानना आवश्यक होगा । ऐसी स्थिति में भेद को मिथ्या मानना ही उचित है क्योंकि भेद अनन्त

होने से उसे सत्य मानने पर गौरव होगा" यह कथन विपरीताभिधान है, क्योंकि अनेकभेद में मिथ्यात्वकल्पना की अपेक्षा एक अभेद में ही मिथ्यात्व की कल्पना उचित है। यदि ऐसा न माना जायगा तो सम्पूर्ण पदार्थ में सन्मात्र के अभेद का निश्चय होने से कालभेद भी नहीं होगा तब अतीत-वर्तमान उभयकालावगाही प्रत्यभिज्ञात्मक 'सोऽयम्' इस प्रकार की बुद्धि भी न हो सकेगी। यदि कालातिरिक्तमात्र में ही सन्मात्र का अभेद मानकर कालभेद का अभ्युपगम किया जायगा तो घट और पट में भी 'सोऽयम्' इस प्रकार की प्रतीति का अनिष्ट होगा।

[अनुगत न होने से भेद अपारमार्थिकता की शंका का उच्छेद]

यदि यह कहा जाय कि–"सद्रूपता एतद्देशस्थ तथा देशान्तरस्थ सभी घटादि पदार्थ में अनुगत होने से पारमार्थिक है किन्तु भेद पारमार्थिक नहीं है, क्योंकि उसकी प्रच्युति यानी प्रतियोगी से व्यावृत्ति होती है, अतः वह अनुगत न होने से पारमार्थिक नहीं हो सकता"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जो वस्तु सत्ता से प्रच्युत हो जाती है अर्थात् निवृत्त हो जाती है, उस में सत्ता नहीं होती, अतः सत्ता भी अनुगत नहीं है। अत एव अनुगत न होने के नाते उसे पारमार्थिक नहीं कहा जा सकता। यदि सत्ता को अनुगतत्वेन गृहीत होने से अनुगत माना जायगा तब तो यह प्रातिभासिक अनुगतत्व होगा जो भेद में भी सम्भव है। अतः अनुगतत्व प्रतिभास के बल से सत्ता में पारमार्थिकत्व और घटादि भेदों में अपारमार्थिकत्व का अभ्युपगम नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार 'सोऽयं' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा से भी सर्वान्वयी सद्रूपता की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा का निरास किया जा चुका है। यह कह कर पर्यायास्तिकनयानुसारी विद्वान् सत्ताऽद्वैतवादी वेदान्ती का गला पकड़ लेता है तब वह किस दिशा में जाय इसका निर्णय न कर सकने से कांदिशीक बन कर किसी भी दिशा में जाने में अर्थात् अपने पक्ष में उद्भावित दोष का परिहार करने में असमर्थ हो जाता है।

किञ्च, सद्रूपत्वं ज्ञाने घटादिना सहैवानुभूयते, तत्र प्रमाणत्वेन सत्त्वाश्रयत्वे विषयं विना ज्ञानस्वरूपाऽप्रतिभासनाद् विषय एव सत्त्वं किं नेष्यते ?। ज्ञानस्य सर्वत्रानुगतत्वेन स्वसत्ता-स्फोरकत्वे विषयस्यापि सामान्यतस्तथात्वेन तत्त्वस्य सुवचत्वात्, नीलाद्याकारेणाननुगतत्वस्य चोभयत्र तुल्यत्वात्। एवं विषयं विनाऽभासमानस्य ज्ञानस्योपाधिभेदं विनाऽविभाव्यमान-भेदत्वकल्पनेऽपि विषये तथाकल्पनं सुवचम्। प्रतीतिपरित्यागेन लाघवानुरोधे तु निराश्रयमेव सत्त्वं कल्प्यताम्।

[विषय में सत्त्व की कल्पना अनिवार्य]

उसके अतिरिक्त दूसरी बात यह ज्ञातव्य है कि ज्ञान में सद्रूपत्व का अनुभव घटादि के साथ ही होता है, जैसे–'घटज्ञानं सत्' 'पटज्ञानं सत्' इत्यादि और यह अनुभव ज्ञान को सद्रूपता में प्रमाण होने से यदि ज्ञान को ही सत्ता का आश्रय माना जायगा तो यह प्रश्न स्वाभाविक है कि विषय में ही सत्ता क्यों न मानी जाय ? क्योंकि विषय के विना ज्ञानस्वरूप का भान होता नहीं, अतः विषय-विनिर्मुक्त ज्ञानमात्र में सत्ता के अभ्युपगम में कोई युक्ति नहीं है। यदि यह कहा जाय कि "ज्ञान सर्वत्र अनुगत है, अर्थात् ज्ञान ज्ञानात्मकसामान्यरूप से सब विषयों से सम्बद्ध है, अत एव वह सब विषयों के साथ स्वयं ही अपनी सत्ता की सिद्धि में प्रयोजक होता है"-तो यह बात विषय के सम्बन्ध

में कही जा सकती है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि-विषय भी सामान्यरूप से सर्वत्र अनुगत है, अतः वह भी अपनी सत्ता की सिद्धि में प्रयोजक है। यदि इसके विरुद्ध यह कहा जाय कि-'विषय नीलादि आकार से अनुगत नहीं है'-तो यह बात ज्ञान और विषय दोनों में समान है क्योंकि ज्ञान के लिये भी यह कहा जा सकता है कि ज्ञान भी तत्तदाकारज्ञानात्मना अर्थात् नीलाकारादिरूपेण अनुगत नहीं है। इसी प्रकार यह कहना कि विषय के बिना ज्ञान का भान नहीं होता, अतः विषयरूप उपाधि के भेद के बिना ज्ञान का भेद नहीं गृहीत होता। अतः ज्ञानभेद वास्तविक नहीं किन्तु विषयौपाधिक है। इस प्रकार ज्ञान की एकता सिद्ध होगी'-तो यह कथन विषय पक्ष में भी सम्भव हो सकता है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि 'ज्ञानभेद से ही विषयभेद गृहीत होता है। अतः विषयभेद ज्ञानोपाधिक है इस प्रकार विषय का अद्वैत सिद्ध होगा। किन्तु यह कथन प्रतिबन्दी उत्तर मात्र है। इसलिये उक्त युक्ति से ज्ञानाद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि 'घटः सन्-पटः सन्' एवं 'घटं जानामि' इत्यादि प्रतीति की अपेक्षा कर लाघव के अनुरोध से एकमात्र ज्ञान की कल्पना कर उसे ही सत्ता का आश्रय माना जायगा तो इस कल्पना में अधिक लाघव है कि सत्ता निराश्रय है। अतः इस पद्धति से ब्रह्माद्वैत की सिद्धि सम्भव नहीं है।

'प्रपञ्चप्रतिभासस्य मुक्तावभावात् तस्यात्मविशेषाऽदर्शनजन्यत्वेन भ्रान्तत्वात् प्रपञ्चस्याऽसत्त्वमि'त्यपि न रमणीयम्, मुक्तौ विषयाऽस्फुरणे ज्ञानस्यैवाभावप्रसङ्गात्, सविषयस्यैव ज्ञानस्य दृष्टत्वात्, निर्विषयस्य तस्य कल्पनायां दृष्टविपरीतकल्पनाप्रसङ्गात्। अत एव-सर्वविषयत्वं ब्रह्मणः काल्पनिकतादात्म्याश्रयणेन-इत्यपि निरस्तम्, सर्वविषयतायाज्ञानत्ववद् मुक्तज्ञानस्वभावत्वात्। 'सर्वापेक्षा सर्वविषयता न तत्स्वभावे'ति चेत्? सर्वापेक्षं सर्वाभिन्नत्वमपि न तत्स्वभाव इति कुतोऽद्वैतसिद्धिः?। 'क्लृप्तसर्वतादात्म्याभाव एव सर्वाभिन्नत्वमि'ति चेत्? संसारेऽपि तदबाधितमिति नित्यमुक्ततापातः।

[प्रपञ्च प्रतिभास भ्रान्त होने से प्रपञ्च मिथ्यात्व शंका का छेद]

यदि यह कहा जाय कि-'मुक्ति में प्रपञ्च का प्रतिभास नहीं होता। अतः यह सिद्ध होता है कि वह आत्मा के विशेषाऽदर्शन से यानी आत्मतत्त्व के अज्ञान से उत्पन्न होता है और अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण ही वह भ्रम है और भ्रम विषय का साधक नहीं होता। इसलिए प्रपञ्च असत्य है।"-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि मुक्ति में यदि विषय का स्फुरण नहीं होगा तो ज्ञान के ही अभाव की आपत्ति होगी। क्योंकि ज्ञान नियमतः सविषयक ही देखा जाता है। अतः मुक्ति में निर्विषयक ज्ञान की कल्पना करने पर दृष्टिविपर्यय की कल्पना होगी। इसीलिये यह कथन भी निरस्त हो जाता है कि 'ब्रह्म में सर्वविषयकत्व सर्व वस्तुओं के काल्पनिक तादात्म्य से होता है'-क्योंकि जैसे ज्ञानत्व मुक्तज्ञान का स्वभाव है उसी प्रकार सर्वविषयकत्व भी मुक्तज्ञान का स्वभाव है।

यदि यह कहा जाय कि 'सर्वविषयता सर्वविषय सापेक्ष होने से वह ज्ञानस्वभावरूप नहीं हो सकती।'-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार विचार करने पर भी अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि सर्वाभिन्नत्व भी सर्वापेक्ष होने से वह भी ज्ञान का स्वभाव नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि 'ब्रह्म में जो सर्वतादात्म्याभाव क्लृप्त है अर्थात् सर्वतादात्म्य का पारमार्थिक रूप से

अभाव है वही सर्वाभिन्नत्व है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यह सर्वाभिन्नत्व संसारदशा में भी है, तब तो नित्यमुक्तत्व की आपत्ति होगी।

किञ्च, काल्पनिकसर्वतादात्म्येन सर्वज्ञत्वे रथ्यापुरुषस्यापि सर्वज्ञत्वाऽभिमानिनस्तव योगितुल्यत्वं स्यात्। योग्यऽयोगिवृत्तिविशेषोऽपि स्वभावभेदं विना दुर्वचः। मिथ्यास्वभाव-विशेषाद् विशेष' इति तु 'मिथ्या च स्वभावश्च' इत्यत्यन्तव्याहतम्। एतेन "रज्जौ सर्प इव सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयत्वाद् मिथ्या प्रपञ्चः" इति निरस्तम्। भ्रान्तिविषयत्वातिरिक्तस्य मिथ्यात्वस्याननुभवात्। "मिथ्यार्थानङ्गीकारे मिथ्याज्ञानस्याप्यङ्गीकर्तुमशक्यत्वे प्राभाकरो न निराक्रियेत" इति तु मन्दप्रलपितम्, मिथ्याज्ञानस्थलीयप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्यैव तन्निराकरणा-दित्यन्यत्र विस्तरः। यदि च ज्ञानगतं मिथ्यात्वं साक्षादेवार्थेऽङ्गीक्रियते तदा ज्ञानविषयसंकरः स्यात्, रजतज्ञानस्यार्थमिथ्यात्वनिमित्तं मिथ्यात्वे च मिथ्यारजतमनुभूतमिति बाधेऽपि मिथ्यात्वं स्यादिति भ्रान्त-भ्रान्तिसंकर इति न किञ्चिदेतत्।

इसके अतिरिक्त यह ज्ञातव्य है कि यदि काल्पनिक सर्वतादात्म्य से ब्रह्म को सर्वज्ञ माना जायगा तो रथ्यापुरुष-यानी गलीकुंचों में भटकने वाला पामर पुरुष भी सर्वज्ञता का अभिमान होने पर वेदान्तमत में योगी के तुल्य हो जायगा, क्योंकि सर्वज्ञता के अभिमानकाल में उस में भी काल्पनिक सर्वतादात्म्य है। इसके उत्तर में यह नहीं कहा जा सकता कि 'योगीगत काल्पनिक सर्वतादात्म्य ही सर्वज्ञता है'-क्योंकि कौन योगी है-कौन अयोगी है-यह कहना स्वभावभेद के बिना कठिन है। यदि यह कहें कि-मिथ्यास्वभावभेद से योगी और अयोगी का भेद सुवच हो सकता है-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि स्वभाव भी है और मिथ्या भी है यह कथन अत्यन्त विरुद्ध है।

'रज्जु में सर्प के समान सत् और असत् रूप में अनिर्वचनीय होने के कारण प्रपञ्च मिथ्या है'-यह कथन भी निरस्त प्राय: है, क्योंकि भ्रमविषयकत्व से अतिरिक्त मिथ्यात्व अनुभवसिद्ध नहीं है। यदि यह कहा जाय कि-'मिथ्यापदार्थ का अंगीकार न करने पर मिथ्याज्ञान का भी अंगीकार अशक्य होगा अतः प्रभाकर के मिथ्याज्ञान के अभाववाद का निराकरण अशक्य होगा।' तो यह कथन मन्दप्रलाप सदृश है। क्योंकि प्रभाकर के मिथ्याज्ञान के अभावमत का निराकरण इस आधार पर नहीं किया जाता कि यतः अर्थ मिथ्या है अत एव मिथ्याज्ञान भी अवश्य है, किन्तु इस आधार पर किया जाता है कि रजतार्थी की शुक्ति आदि के ग्रहण में जो यदा-कदा प्रवृत्ति होती है वह मिथ्याज्ञान को न मानने पर न हो सकेगी। यदि यह कहा जाय कि-'मिथ्याज्ञान यदि अवश्य मान्य है तो मिथ्या विषय भी मानना आवश्यक होगा क्योंकि विषय के मिथ्या हुये बिना ज्ञान मिथ्या नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि मिथ्यात्व ज्ञान का स्वतन्त्रधर्म है। यदि विषय में भी उसकी कल्पना की जायगी तो ज्ञान और विषय में संकर हो जायगा, क्योंकि दोनों मिथ्या होने से समान हैं। एक बात यह भी है कि यदि रजतज्ञान में अर्थतः मिथ्यात्व होगा तो अर्थरूप निमित्त के मिथ्या होने से 'मिथ्यारजतमनेनानुभूतम्'='इसने मिथ्यारजत का अनुभव किया।' यह भ्रान्ति का ज्ञान भी मिथ्या हो जायगा क्योंकि उसका विषयभूत अनुभव मिथ्या है और विषय के मिथ्यात्व से ज्ञान

मिथ्या होता है। इस प्रकार भ्रान्तिज्ञ भी भ्रान्त हो जायगा। अतः ज्ञान को विषयक के मिथ्यात्व से मिथ्या मानना असङ्गत है।

स्वाभावसामानाधिकरण्यरूपं मिथ्यात्वं तु घटेऽपि तुल्यम्, स्वाधिकरणेऽपि परापेक्षया स्वाभावात्। सर्वथा स्वाभावसामानाधिकरण्यं तु विरुद्धमेव, गन्ध-रूपयोरपि स्वभावभेदमपेक्ष्यैव सामानाधिकरण्यात् घ्राणग्राह्यतानियतगन्धस्वभावेन द्रव्यस्य चक्षुर्ग्राह्यतानियतस्वभावरूपाधारतायोगात्। एतेन "अनुभवत्वस्यैव लाघवेन साधकतावच्छेदकत्वात् पुरोवर्तिनि सर्पसिद्धिः" इत्यपास्तम्, अनुभवस्यार्थसाधकत्वं हि नार्थोत्पादकत्वम्, किन्त्वर्थग्रहणपरिणामः, इति तत्र सर्पज्ञानसिद्धावपि सर्पोत्पत्त्यसिद्धेः। न च तत्रानुभूयमानस्यान्यत्र सत्त्वादिकल्पने गौरवम्, तवैव तदुपादानाज्ञानस्याऽन्तरवच्छेदेन तदनुभवाय तदाकारवृत्तेः रज्जुसत्त्वस्य तत्र भानेऽन्यथाख्यात्यापत्तिभिया तत्संसर्गोत्पत्त्यादेश्च कल्पने गौरवात्।

यदि मिथ्यात्व को स्वाभावसामानाधिकरण्यरूप माना जायगा तो उसका अर्थ यह होगा कि जो वस्तु अपने अभावाधिकरण में रहती है वह मिथ्या होती है तो यह मिथ्यात्व शुक्तिरजतादि के समान व्यावहारिक घटादि में भी प्रसक्त होगा, क्योंकि प्रत्येक वस्तु के अधिकरण में परापेक्षया उसका अभाव होता है। यदि सर्वथा स्वाभावसामानाधिकरण्य को मिथ्यात्व कहा जायगा तो यह सर्वथा विरुद्ध होगा क्योंकि सर्वथा सामानाधिकरण्य किसी भी दो वस्तु में नहीं होता। जैसे, पुष्प में गन्ध और रूप का सामानाधिकरण्य होता है, किन्तु वह सर्वथा नहीं होता किन्तु स्वभावभेद की अपेक्षा से ही होता है क्योंकि पुष्पादिद्रव्य घ्राणग्राह्यतानियतस्वभाव से जैसे गन्ध का आधार है वैसे रूप का नहीं है किन्तु गन्ध के घ्राणग्राह्यतानियतस्वभाव से गन्ध का और रूप के चक्षुर्ग्राह्यतानियतस्वभाव से रूप का आधार होता है।

पूर्व में जो यह बात कही गयी थी कि "विषय की साधकता का अवच्छेदक प्रामाणिक-अनुभवत्व नहीं होता किन्तु लाघव से अनुभवत्वमात्र ही होता है, विषयत्वेनानुभवत्वेन साध्य साधक-भाव (=बोध्यबोधकभाव) होता है अतः पुरोवर्ती रज्जु में सर्प के अनुभव से सर्प की सिद्धि होगी"-वह युक्ति से निरस्त हो जाती है। वह इस प्रकार-अनुभव में जो अर्थसाधकता होती है वह अर्थोत्पादकतारूप नहीं होती, क्योंकि अनुभव से उसके विषय की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु अर्थग्रहणपरिणामरूप है। इसके अनुसार 'अनुभव अर्थ का साधक होता है' इसका आशय यह है-'अनुभव आत्मचैतन्य का अर्थग्रहणात्मक परिणाम है। इसलिये रज्जु में सर्पानुभव से सर्पोत्पत्ति की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि यदि रज्जुस्थल में अनुभूयमान सर्प की उत्पत्ति नहीं मानी जायेगी तो उसकी अन्यत्र सत्ता आदि की कल्पना करने में गौरव होगा"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इस की अपेक्षा वेदान्तमत में ही कल्पनागौरव है। जैसे, अज्ञान का शरीर के भीतर रज्जु-सर्प के 'अहं इमं सर्पं जानामि=मैं इसको साँप जानता हूं' इस अनुभव के लिये उसके उपादानभूत रज्जु-अवच्छिन्नचैतन्यविषयक अज्ञान की तदाकारवृत्ति और उस सर्प में रज्जु-सत्त्व का भान मानने पर अन्यथाख्याति के आपत्ति के भय से सर्प में सत्त्व के संसर्ग की उत्पत्ति आदि की कल्पना आवश्यक होगी।

किञ्च, तत्र सत्त्वसंसर्गोत्पत्तिस्वीकारेऽपि सत्त्वांशेऽन्यथाख्यातिभिया सत्त्वान्तरोत्पत्तिरेव युक्ताऽभ्युपगन्तुम् । तथा च स्वयमसती तत्रोत्पद्यमाना सत्ता स्वसंबन्धोत्पत्तिमपेक्षते, सोऽपि स्वसंबन्धान्तरोत्पत्तिमित्यनवस्था । सत्स्वभावस्य च तस्य सत्यरजतवदुत्पत्तौ किमनिर्वचनीयत्वम् ? । 'स्वानुपादाने समुत्पन्नत्वात् तत्त्वं' चेत् ? अहो ! व्याहताभिधायी देवानांप्रियः, यद् भावकार्यं स्वानुपादानोत्पन्नमङ्गीकुरुषे । 'अत्र प्रसिद्धोपादानत्यागादयं विशेष'श्चेत् ? उपादानत्वाविशेषे कः प्रसिद्ध्यप्रसिद्धिकृतो विशेषः ? ।

दूसरी बात यह है कि सत्त्वसंसर्ग की उत्पत्ति स्वीकार करने पर भी सत्त्वांश में अन्यथाख्याति का भय होगा । अतः रज्जु-सर्प में अन्य सत्त्व की उत्पत्ति ही मानना उचित होगा और वह सत्ता यदि रज्जुसर्प में स्वयं असत् रहते हुये उत्पन्न होगी तो उसके सम्बन्ध की भी उत्पत्ति माननी पड़ेगी और वह सम्बन्ध भी यदि उसमें असत् होते हुये ही उत्पन्न होगा तो उसके भी सम्बन्धान्तर की उत्पत्ति माननी पड़ेगी । यदि उस स्थल में भी सत्स्वभाव सर्प की ही उत्पत्ति मानी जायगी तो उसकी अनिर्वचनीयता क्या होगी ? यदि यह कहा जाय कि–'अपने अनुपादान में उत्पन्न होने से उसकी अनिर्वचनीयता होती है'–तो यह व्याहतवचन वक्ता की देवानांप्रियता=यानी अज्ञता का सूचक होगा । क्योंकि इस कथन से अपने अनुपादान में भावकार्य की उत्पत्ति का अंगीकार सिद्ध होता है जो सिद्धान्तविरुद्ध है । यदि यह कहा जाय कि–'रज्जुसर्पादि की उत्पत्ति सर्वथा सर्पोपादान के अभाव में नहीं है किन्तु सर्प के प्रसिद्ध उपादान के अभाव में है, इसीलिये उसे अनुपादान में उत्पत्ति कहा जाता है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि रज्जु-सर्पस्थल में और अण्डजसर्पस्थल के उपादानत्व में कोई विशेष नहीं है तब मात्र प्रसिद्धि-अप्रसिद्धिकृत क्या विशेष हो सकता है ?

किञ्च, एवं दण्ड-घटादौ दान-स्वर्गादौ च लोक-शास्त्रप्रसिद्धः कार्यकारणभावो भज्यते, भज्येत च कार्यात् कारणानुमानम्, कारणाच्च कार्यानुमानादिकम्, अनिर्वचनीये व्यभिचारात् । विलक्षणदण्डत्वघटत्व-दानत्वस्वर्गत्वादिना कार्यकारणभावे चातिगौरवम्, वेदादौ दान-स्वर्गादिपदानां सामान्यतो दानत्व-स्वर्गत्वाद्यवच्छिन्नोपस्थापकानां विलक्षणदानत्वस्वर्गत्वाद्युपस्थितये लक्षणापत्तिः, नानार्थत्वे च दानादिपदानां प्रतिपदं तात्पर्यग्रहाय प्रकरणाद्यपेक्षापत्तिः ।

तीसरी बात यह है कि यदि अनिर्वचनीय पदार्थ की उत्पत्ति मानी जायगी तो दण्ड और घटादि में लोकप्रसिद्ध एवं दान और स्वर्गादि में शास्त्रप्रसिद्ध कार्य-कारणभाव का भङ्ग हो जायगा जिसके फलस्वरूप घटादि कार्य से दण्डादिकारण के अनुमान का और चरम कारण से कार्यानुमान आदि का भङ्ग हो जायगा क्योंकि अनिर्वचनीय में व्यभिचार है–जैसे, अनिर्वचनीय घटादि दण्डादि के विना भी उत्पन्न होता है । अतः घटादिकार्य में दण्डादिरूप कारण का व्याप्तिग्रह नहीं हो सकता । और इसीलिये दण्डादि में घटकारणता का निश्चय न होने से किसी में घटादि की चरमकारणता का निश्चय न होने से किसी कारण में कार्य का व्याप्तिग्रह न हो सकेगा । अतः चरम कारण से कार्यानुमान का भी भङ्ग हो जायगा । यदि उक्त दोषों के वारणार्थ सामान्यरूप से घट और दण्ड,

तथा स्वर्ग एवं दानादि में कार्यकारणभाव न मान कर विलक्षणघटत्व और विलक्षणदण्डत्वरूप से एवं विलक्षणस्वर्गत्व और विलक्षणदानत्व रूप से कार्यकारणभाव माना जायगा तो अत्यन्त गौरव होगा क्योंकि दण्डादिसाध्य घटादि में दण्डादिसाध्यतावच्छेदक जाति की कल्पना कर के भिन्न-भिन्न कार्यकारणभाव की कल्पना करनी होगी। तथा वेदादि में दानत्व-स्वर्गत्वादि सामान्यधर्मावच्छिन्न के उपस्थापक दानस्वर्गादि पद से विलक्षणदानत्वावच्छिन्न और विलक्षणस्वर्गत्वावच्छिन्न की उपस्थिति के लिये उन पदों की तत्तद्धर्मावच्छिन्न में लक्षणा करनी पड़ेगी और दानादि पद अनेकार्थक हो जाने से प्रत्येक पद को अर्थविशेष में तात्पर्यज्ञान के लिये प्रकरणादि के अपेक्षा की आपत्ति होगी।

किञ्च, एवं बाधेऽपि व्यवहारापत्तिः, अनिर्वाच्यरजताभावज्ञानेऽपि रजतसामान्याभेद-भ्रमाऽनिवृत्तेः, रजतविशेषस्य 'इदं रजतम्' इति भ्रमविषयत्वे तद्रजतभ्रमेऽपि 'इदं रजतम्' इत्युल्लेखापत्तेः। किञ्च, एवमिदंवृत्त्या चैत्राऽपरोक्षे इदमंशे उत्पन्नं रजतं तथा तत्र मैत्राऽपरोक्षे मैत्रस्याप्यपरोक्षं स्यात्। 'मैत्र-चैतन्याभेदेनानुत्पन्नत्वाद् नायं दोष' इति तु रिक्तं वचः, इदं-वृत्त्या स्वाभिन्ने इदमंशचैतन्येऽध्यस्तत्वेन तस्य तदभिन्नत्वात्। 'अविद्यावृत्त्या तदभेदोऽपेक्षित' इति चेत्? तादृशतदभेदस्याविद्यावृत्तिनियम्यत्व आत्माश्रयः। इदमंशावच्छेदेन चैत्रीयरजत इदमंशावच्छेदेन चैत्रीयाऽज्ञानहेतुत्वकल्पने चातिगौरवात्, सामान्यत एवेदंविशेष्यकरजतत्व-प्रकारकभ्रम इदंविशेष्यकशुक्तित्वप्रकारकज्ञानाभावस्य हेतुत्वौचित्यात्।

इसी प्रकार, 'नेदं रजतम्' इत्यादि रूप से शुक्तिरजतादि का बाध ज्ञान हो जाने पर भी 'इदं रजतम्' इस व्यवहार की आपत्ति होगी। क्योंकि बाध से अनिर्वचनीय रजत के अभाव का ज्ञान हो जाने पर भी रजतसामान्य के अभेदभ्रम की निवृत्ति नहीं होगी। एवं रजत विशेष को यानी अनिर्वचनीय रजत को 'इदं रजतम्' इस रजतसामान्योल्लेखी भ्रम का विषय मानने पर तद्रजत-विषयक भ्रम में भी भ्रमविषयीभूत तद्रजत का 'इदं तद् रजतम्' के समान 'इदं रजतम्' इस प्रकार उल्लेख की आपत्ति होगी।

इसी प्रकार इदमाकार वृत्ति से चैत्र को जिस इदमंश का अपरोक्षज्ञान होने पर जो रजत उत्पन्न होता है, इदमाकार वृत्ति से मैत्र को उस इदमंश का अपरोक्षज्ञान होने पर मैत्र को भी उस रजत के अपरोक्षता की आपत्ति होगी। यदि यह कहा जाय कि—'उस रजत की उत्पत्ति चैत्रचैतन्या-भेदेन हुई है—मैत्रचैतन्याभेदेन नहीं हुई है, अतएव यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि अपरोक्ष चैतन्य का आध्यासिक अभेद ही विषय की अपरोक्षता होती है'—तो यह कथन युक्तिशून्य है। क्योंकि उक्तरजत मैत्र की इदमाकारवृत्ति द्वारा मैत्रचैतन्य से अभिन्न इदमंशचैतन्य में अध्यस्त होने से वह मैत्रचैतन्य से अभिन्न हो जाता है। इस दोष के निवारणार्थ यदि यह कहा जाय कि—'अविद्या वृत्ति द्वारा तत्तच्चैतन्याभेद प्रातिभासिक पदार्थ की तत्तत्पुरुषीय अपरोक्षता के लिये अपेक्षित है। अतः उक्त स्थल में मैत्र को अधिष्ठान का साक्षात्कार रहने के कारण रजताकार अविद्यावृत्ति नहीं होती। अतः चैत्रीय अज्ञान से उत्पन्न प्रातिभासिक रजत में भी अविद्यावृत्ति द्वारा मैत्रचैतन्याभेद न होने से उक्त आपत्ति नहीं हो सकती।'—तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रातिभासिक रजतादि में अविद्या-वृत्ति द्वारा प्रमातृ चैतन्याभेद को अविद्यावृत्ति से नियम्य मानने पर आत्माश्रय होगा। क्योंकि

अधिष्ठानचैतन्य और प्रमातृचैतन्य का अभेद होने पर विशेषधर्मप्रकारक अधिष्ठान गोचर अज्ञान की वृत्ति होती है। किन्तु यदि उस अभेद को अविद्यावृत्तिनियम्य माना जायगा तो अविद्यावृत्ति में अविद्यावृत्ति की ही अपेक्षा हो जायगी।

यदि चैत्र-मैत्र उभय से दृश्यमान इदमंश में चैत्रीय अज्ञान से उत्पन्न रजत में मैत्र की अपरोक्षतापत्ति का परिहार करने के लिये यह कल्पना की जाय कि इदमंशावच्छेदेन चैत्रीयाज्ञानोत्पन्न रजत के अपरोक्षज्ञान में इदमंशावच्छेदेन अधिष्ठानविषयक चैत्रीय अज्ञान कारण है। अतएव उक्तापत्ति नहीं हो सकती क्योंकि मैत्र को इदमंशावच्छेदेन अधिष्ठानविषयक अज्ञान नहीं है।"–तो इस कल्पना में अत्यन्त गौरव है क्योंकि पुरुषभेद से कार्यकारणभाव में भेद होता है। अतः सामान्यरूप से इदंविशेष्यक रजतत्वप्रकारक भ्रम के प्रति इदं विशेष्यक शुक्तित्वप्रकारक ज्ञानाभाव को कारण मानना ही उचित है। क्योंकि इस कार्यकारणभाव को स्वीकार करने पर चैत्र को 'इदं रजतम्' इस भ्रमदशा में मैत्र को 'इदं रजतम्' इस भ्रम की आपत्ति नहीं हो सकती क्योंकि उसे इदंविशेष्यक शुक्तित्वप्रकारक ज्ञान ही है, इसका अभाव नहीं है।

एवं भ्रमानुमितावपि पर्वते वह्नेस्तत्संसर्गस्य चोत्पत्तौ शुक्तौ रजतवत् तत्र तदपरोक्षत्वापातः। 'दृश्यमानप्रदेशावच्छेदेन वह्न्यनुत्पत्तेर्न दोष' इति चेत् ? न, शुक्तित्वानवच्छेदेनेदंत्वावच्छेदेन च शुक्तौ रजतोत्पादात् 'शुक्तिं रजतं साक्षात्करोमि' इत्यप्रत्ययेऽपि शुक्तित्वपरित्यागेन 'इदं रजतं साक्षात्करोमि' इति प्रत्ययवद् दृश्यमानदेशावच्छेदपरित्यागेन प्रकृते पर्वतत्वावच्छेदमादाय 'पर्वते वह्निं साक्षात्करोमि' इति प्रसङ्गात् !–'पर्वतत्वविषयिणी वृत्तिरिदंत्वविषयिण्यपि, इदंत्वं च दृश्यमानप्रदेशावच्छिन्नत्वम्, तथा चैकं पर्वतत्वं वह्न्युत्पत्तिं कथमवच्छिन्द्यात् ?' इति चेत् ! नन्वेवं 'अयं पर्वतो वह्निमान्' इत्युल्लेखादेतद्देश एव वह्न्युत्पत्तिर्वाच्येत्यतिसंकटम् ! एतेन "पर्वतत्वेन ज्ञानादधिष्ठानज्ञानसिद्धिः, पक्षतापि पर्वतत्वेन" इति निरस्तम्, 'अयं पर्वतो वह्निमान्' इति स्फुटमनुभवात्।

[भ्रमानुमिति में वह्नि-अपरोक्षता आपत्ति]

भ्रम स्थल में अनिर्वचनीय विषय और विषय के संसर्ग की उत्पत्ति मानने पर जैसे शुक्ति में रजतभ्रम स्थल में शुक्ति में अनिर्वचनीय रजत और उसके संसर्ग की उत्पत्ति होने से रजत अपरोक्ष होता है उसीप्रकार पर्वतत्वावच्छेदेन वह्निसाध्यक भ्रमात्मक अनुमिति स्थल में भी वह्निशून्य पर्वत में वह्नि और वह्निसंसर्ग की उत्पत्ति होने से उस स्थल में भी वह्नि में अपरोक्षत्व की आपत्ति हो जायगी। यदि यह कहा जाय कि–'अनुमिति स्थल में दृश्यप्रदेशावच्छेदेन वह्नि की उत्पत्ति न होने से यह दोष नहीं हो सकता'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जैसे शुक्तित्वानवच्छेदेन और इदंत्वावच्छेदेन शुक्ति में रजत की उत्पत्ति होने से 'शुक्तिं रजतं साक्षात्करोमि' अर्थात् 'शुक्ति रजत को देखता हूं' इस प्रकार की प्रतीति न होने पर भी शुक्तित्व का परित्याग कर 'इदं रजतं साक्षात्करोमि'='इस रजत को देखता हूं' इस प्रकार की प्रतीति होती है। उसी प्रकार उक्त-भ्रमात्मक अनुमिति स्थल में अदृश्यमान देशरूप अवच्छेदक को छोड कर और पर्वतत्वावच्छेदक को

लेकर 'पर्वते वह्निं साक्षात्करोमि'=पर्वत में वह्नि को देखता हूं'–इस प्रकार पर्वत में वह्नि में अपरोक्षता की आपत्ति होगी।

[इदंत्वविषयक वृत्ति मानने पर भी आपत्ति]

इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि–'पर्वतत्वविषयक वृत्ति इदन्त्वविषयक भी है और इदन्त्व दृश्यमाणप्रदेशावच्छिन्नत्वरूप है। क्योंकि दृश्यमाण प्रदेश में ही पर्वत का 'अयं पर्वतः' इस रूप में व्यवहार किया जाता है। इस प्रकार जब इदन्त्व-पर्वतत्व दोनों रूप से पर्वत प्रातिभासिक वह्नि और उसकी भ्रमात्मकानुमिति की उत्पत्ति के पूर्व में ज्ञात है तब एक पर्वतत्व ही वह्निउत्पत्ति का अवच्छेदक कैसे होगा ? और जब केवल पर्वतत्व वह्नि उत्पत्ति का अवच्छेदक नहीं हो सकता तो केवल पर्वतत्व अवच्छेदक को लेकर 'पर्वते वह्निं साक्षात्करोमि' यह आपत्ति कैसे हो सकती है ?'' तो इस कथन से वेदान्ती को महान् संकट की प्रसक्ति होगी क्योंकि इस कथन के अनुसार अनुमिति का 'पर्वतो वह्निमान्' इस रूप में उल्लेख न होकर 'अयं पर्वतो वह्निमान्' इस रूप में उल्लेख होगा। अतः इदन्त्वविशिष्टदेश में ही वह्नि की उत्पत्ति माननी होगी। फलतः दृश्यमाणप्रदेशावच्छेदेन भी वह्नि की उत्पत्ति हो जाने से वह्नि के अपरोक्षत्व का प्रसंग तदवस्थ रहेगा।

इस सम्बन्ध में यह कथन कि–'केवल पर्वतत्वरूप से पर्वत का ज्ञान होने से भी अधिष्ठान ज्ञान की सिद्धि हो जाती है और पक्षता भी केवल पर्वतत्वरूप से हो सकती है। अतः 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकार की ही अनुमिति होती है'–निरस्त हो जाता है क्योंकि 'अयं पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकार का अनुभव स्फुट है।

अपि च, 'इमे रजत-शुक्ती' इत्यत्र संनिकृष्टशुक्ति-रजतयोरन्योन्यतादात्म्योत्पत्तावविनिगमः, धर्म्यंश इव प्रकारांशेऽपि प्रमाणतापत्तिः, संनिकर्षसत्त्वेऽन्यथाख्यातिस्वीकारे चान्यत्राप्येकत्र क्लृप्तत्वेन तत्स्वीकारापत्तिः, तत्रान्यरजतादिस्वीकारेऽपि 'इदमेव रजतं शुक्तित्वेनाज्ञासिषम्' इत्याद्यनुभवविरोधः, एवमन्यत्र 'असदेव रजतमत्रान्वभवम्' इत्याद्यनुभवविरोधः, तस्य भ्रान्तत्वे बाधकत्वानापत्तिः, मिथ्यारजतस्य तत्रासत एवोपगमे चासत्ख्यात्यापत्तिः।–"तत्र 'असदेव' इत्यस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमर्थः अविरुद्धं च तत् सति तत्रासति च तत्रेति" चेत् ? कथं तर्हि तत्र सत्त्वा-ऽसत्त्वाभ्यां निरुक्तिविरहः ? । "बाधा-ऽबाधदशयोः सत्त्वा-ऽसत्त्वाभ्यां निरुक्तावप्येकदा तथा निरुक्तिविरहोपगमाद् न दोष" इति चेत् ? न, तुल्यन्यायेन घटादावप्येवमनिर्वचनीयतापत्तेः। अत एवैकपदेन तथाऽप्रतिपाद्यत्वाज्जगत एव तथात्वं व्यवस्थापितमवक्तव्यभङ्गके।

['इमे शुक्ति- रजते' इस भ्रमज्ञान में प्रामाण्यापत्ति]

दूसरी बात यह भी ज्ञातव्य है कि–जब रजत को शुक्तिरूप में और शुक्ति को रजतरूप में ग्रहण करनेवाला 'इमे रजतशुक्ती' इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न होता है तो वहां शुक्ति और रजत दोनों संनिकृष्ट रहते हैं और उन दोनों में अन्योन्य तादात्म्य की उत्पत्ति में कोई प्रमाण नहीं है।

अत एव वह ज्ञान जैसे धर्मी अंश में प्रमाण होता है उसी तरह प्रकारांश में भी प्रमाण होगा। क्योंकि 'एक का धर्म दूसरे में उत्पन्न होकर गृहीत होता है' इसमें कोई प्रमाण नहीं है अतः जो धर्म जिसमें है उसी में गृहीत होगा अथवा स्वतन्त्र रूप से गृहीत होगा। यदि इस दोष के परिहार के लिये संनिकर्ष के होने से एक के धर्म का दूसरे में ग्रहण माना जायगा तो अन्यथा ख्याति होगी और एक स्थान में अन्यथा ख्याति मान ली जायगी तो अन्यत्र सर्वत्र भी अन्यथाख्याति के स्वीकार की आपत्ति होगी। यदि उक्त स्थल में अन्य रजत का अभ्युपगम किया जायगा तो शुक्तिभ्रम के अधिष्ठानभूत रजत का साक्षात्कार होने पर 'इदमेव रजतं शुक्तित्वेनाऽपश्यम्=इसी रजत को मैंने शुक्ति समझ लिया था'- इस अनुभव का विरोध होगा। एवं वहां केवल शुक्ति में रजतभ्रम के बाद अधिष्ठान का साक्षात्कार होने पर 'असदेव रजतमन्वभवम्'=यहाँ हमने असत् ही रजत को देखा'-इस अनुभव का विरोध होगा क्योंकि वेदान्तमत में रजतभ्रमकाल में प्रातिभासिक रजत असत् नहीं किन्तु सत् होता है। यदि इस अनुभव को भ्रमात्मक मानेंगे तो इस के विषयभूत अनुभव में असद्रजतविषयकत्व न होने से वह रजतभ्रम का बाधक न हो सकेगा। यदि इस अनुभव के अनुरोध से असत् ही मिथ्यारजत को स्वीकार किया जायगा तो असत् ख्याति की आपत्ति होगी। यदि कहिये कि-'तत्र असदेव' का अर्थ है-'तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व' और वह शुक्ति देश में मिथ्या रजत को सत् और असत् दोनों स्थिति में अविरुद्ध है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार शुक्तिरजतादि का सत्त्व-असत्त्व दोनों रूप से निर्वचन सम्भव होने से सत्त्व और असत्त्व रूप से उसकी अनिर्वचनीयता कैसे होगी? यदि यह कहा जाय-'अबाध दशा में सत्त्व और बाध दशा में असत्त्व रूप से निर्वचन होने पर भी एक काल में सत्त्व और असत्त्व रूप से निर्वचन का अभाव मानने से दोष नहीं हो सकता'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इस न्याय से घटादि में भी अत्यन्तसत्त्व और अत्यन्ताऽसत्त्वरूप से अबाध्यता न होकर एक काल में सत्त्वासत्त्वरूप से अनिर्वचनीयता की आपत्ति होगी। इस प्रकार अभ्युपगम करने पर वस्तु की अनिर्वचनीयता निरपेक्ष न होकर सापेक्ष सिद्ध होती है। इसीलिये अवक्तव्यभङ्ग में एक पद से सत्त्वाऽसत्त्व उभयरूप से वस्तु का प्रतिपादन न हो सकने से जगत् को अनिर्वचनीय कहा गया है।

अथ नाऽशक्यनिरुक्तिकत्वमनिर्वचनीयपदार्थः किन्तु निरुक्तिनिमित्तविरह इति चेत् ? ननु किं तद् निमित्तं ? ज्ञानं वा, विषयो वा ? । नाद्यस्य विरहः-

"रजतं भाति यद् भ्रान्तौ तत् सदेके, परेत्वसत्।
अन्येऽनिर्वचनीयं तदाहुस्तेन विचार्यते ॥ १ ॥

इति स्वयमेव तज्ज्ञानाभ्युपगमात्। 'सत्यस्थल इवात्रेदं-रजतयोरेकत्वस्यानङ्गीकाराद् न दोष' इति चेत् ? अयमपरस्तव दोषः-'इदं च, रजतं च' इति समूहालम्बनव्यावृत्तविशिष्टज्ञानस्यैकत्वं विनाऽनुपपत्तेः। नापि द्वितीयस्य विरहः, सद्रूपस्याऽसद्रूपस्य वा विषयस्याऽसत्त्वेऽसत्ख्यातेः सत्ख्यातेश्च प्रसङ्गात्, उभयरूपस्य निवृत्तेश्च लोकेऽप्रतीतेः, एकनिषेधेऽन्यविधिनियमात्, अलौकिकतन्निवृत्तेश्चाऽकिञ्चित्करत्वादितिदिक्।

[निर्वचन के निमित्त का विरह होने की बात गलत]

यदि यह कहा जाय कि—"अनिर्वचनीयपद का अर्थ अशक्य निरुक्तित्व नहीं है किन्तु निरुक्ति के निमित्त का अभावरूप है। तात्पर्य यह है कि-'शुक्ति में प्रतीयमान रजत अनिर्वचनीय है' इस का अर्थ यह नहीं है कि प्रपञ्च का निर्वचन अशक्य है किन्तु उसका अर्थ यह है कि जिस निमित्त से निरुक्ति होती है, प्रपञ्च में उस निमित्त का अभाव है।"-किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च में 'निरुक्ति-निमित्त का अभाव' असिद्ध है। जैसे. निरुक्ति के दो निमित्त हो सकते हैं—१. ज्ञान और २. विषय। अर्थात् जो ज्ञान का विषय होता है वह निर्वचनीय होता है अथवा जिस का अस्तित्व होता है वह निर्वचनीय होता है। इन निमित्तों में शुक्ति-रजत में ज्ञानात्मक निमित्त का अभाव नहीं है, क्योंकि उसका ज्ञान सर्वसम्मत है जैसा कि कहा गया है कि 'भ्रमात्मक ज्ञान में जो रजत भासित होता है उसे कुछ लोग सत् कहते हैं, कुछ लोग असत् कहते हैं, और कुछ अन्य विद्वान् अनिर्वचनीय कहते हैं इसलिये उस रजत के सम्बन्ध में विद्वानों का वैमत्य होने से उसका विचार आवश्यक है।'—इस प्रकार इस कथन द्वारा शुक्तिरजत का ज्ञान वेदान्तीओं ने स्वयं स्वीकार किया है।

[इदमाकार-रजताकार वृत्तिभेद मानने पर आपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि-'शुक्तिरजत में ज्ञान का अभाव है' इस कथन का तात्पर्य ज्ञानसामान्य के निषेध में नहीं है किन्तु एक ज्ञान के निषेध में है। आशय यह है कि जैसे सत्यस्थल में 'इदं रजतम्' इस प्रकार इदमाकार-रजताकार एक ज्ञान होता है रजतभ्रमस्थल में उस प्रकार एकज्ञान नहीं होता है किन्तु वहाँ इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति होती है और रजताकार अविद्या की वृत्ति होती है। इसलिये इदं और रजत दोनों वृत्त्यात्मक एकज्ञान के विषय नहीं होते हैं।"-किन्तु इस कथन से भी वेदान्ती की दोषमुक्ति नहीं हो सकती। प्रत्युत इस कथन से वेदान्तमत में एक और दोष दृष्टिगोचर होता है-वह यह है कि 'इदं रजतम्' इस प्रकार का ज्ञान 'इदं च रजतं च' इस समूहालम्बन ज्ञान से भिन्न होता है जो इदमाकार-रजताकार एकवृत्ति माने बिना अनुपपन्न है। फलतः वृत्तिभेद मानने पर भ्रमस्थल में एक विशिष्टज्ञान की उपपत्ति न हो सकेगी।

निरुक्ति के विषयरूप द्वितीय निमित्त का भी अभाव असिद्ध है क्योंकि यदि सद्रूप विषय की सत्ता न मानी जायगी तो असत्ख्याति का प्रसङ्ग होगा। यदि असद्रूपविषय की सत्ता न मानी जायगी तो सत्ख्याति का प्रसङ्ग होगा और सदसद् उभयरूप विषय की असत्ता भी नहीं मान सकते क्योंकि लोक में ऐसी असत्ता की प्रतीति नहीं होती। क्योंकि एक के निषेध में नियम से अन्य का विधि होता है। उभयरूप विषय की अलौकिक निवृत्ति मानना भी निरर्थक है, क्योंकि जब उस विरह की लोक को प्रतीति नहीं होती तो उससे निरुक्ति का अवरोध नहीं हो सकता।

एवं स्वप्नरथादयोऽपि नाऽनिर्वचनीयाः, निद्रादोषेण स्वप्नेऽसंनिहितरथादीनामेव संनिहितत्वादिना भानात्। परेषां तु महत्यनुपपत्तिः, तथाहि—न तावद् मूलाज्ञानकार्यं स्वप्नः, संसारदशायां बाधात्, रजतभ्रमस्य शुक्त्यज्ञानान्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वाज्जाग्रत्प्रपञ्चाज्ञानान्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वाच्च। न च जाग्रत्प्रपञ्चाऽज्ञानमेव तदारम्भकम्, शुक्तौ रजतोत्पत्तिवज्जाग्रत्प्रपञ्चे स्वाप्निकरथाद्युत्पत्त्यापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, तत्सामानाधिकरण्येन

स्फुरणाभावात् । 'यद्धि यदज्ञानेनोत्पद्यते तत् तत्सामानाधिकरण्येन स्फुरति' इति नियमात् । अत एवान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्याऽज्ञानं न तदारम्भकम्, साक्षिवेद्येऽन्तःकरणेऽज्ञानाऽसंभवाच्च ।

[स्वप्न में भासमान रथादि अनिर्वचनीय नहीं है]

जिस प्रकार शुक्तिरजतादि की अनिर्वचनीयता नहीं सिद्ध होती उसी प्रकार स्वप्नरथादि की भी अनिर्वचनीयता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि स्वप्न में असंनिहित रथादि का ही निद्रा दोषवश संनिहितत्व रूप से भान होता है । वेदान्तमत में तो स्वाप्निकपदार्थों के सम्बन्ध से भी भारी अनुपपत्ति है, जैसे कि,–स्वप्न को मूलाज्ञान का कार्य नहीं माना जा सकता क्योंकि संसारदशा में उसका बाध होता है । दूसरी बात यह है–जैसे रजतभ्रम में शुक्तिविषयक अज्ञान के अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान होता है उसी प्रकार स्वप्न में जाग्रत् प्रपञ्च के अज्ञान के अन्वय–व्यतिरेक का अनुविधान होता है, अतः जैसे रजतभ्रम मूलाज्ञान का कार्य नहीं होता किन्तु शुक्ति के अज्ञान का ही कार्य होता है । उसी प्रकार स्वप्न भी मूलाज्ञान का कार्य न होकर जाग्रत् प्रपञ्च के अज्ञान का ही कार्य होगा ।

अब यह भी नहीं कहा जा सकता कि–'जाग्रत् प्रपञ्च का अज्ञान ही स्वप्न का आरम्भक है'–क्योंकि ऐसा मानने पर जैसे शुक्ति के अज्ञान से शुक्ति में रजत की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार जाग्रत् प्रपञ्च के अज्ञान से जाग्रत् प्रपञ्च में स्वप्नरथादि की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा । इस प्रसङ्ग को इष्टापत्ति भी नहीं माना जा सकता क्योंकि जाग्रत्प्रपञ्चसामानाधिकरण्येन स्वप्नरथादि का, जाग्रत् प्रपञ्च को लेकर यह रथ है' ऐसा स्फुरण नहीं होता-जब कि नियम यह है कि जो जिसके अज्ञान से उत्पन्न होता है, उसका तत्सामानाधिकरण्येन स्फुरण होता है,–जैसे शुक्ति के अज्ञान से उत्पन्न होने वाले रजत का उसी शुक्ति को ले कर 'इदं रजतम्' इस रूप में शुक्तिसामानाधिकरण्येन रजत का अनुभव होता है । इसी कारण अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का अज्ञान भी स्वप्न का आरम्भक नहीं माना जा सकता एवं यह भी कारण है कि अन्तःकरण साक्षिवेद्य होता है, और अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यविषयक अज्ञान नहीं हो सकता ।

यत्तु "चिन्मात्रनिष्ठमूलाज्ञानमेवेश्वरत्वावच्छेदेन गगनादि सर्वमारभमाणं जीवत्वावच्छेदेनाप्यहङ्कारस्वप्नादिचित्सामानाधिकरण्येन स्फुरदारभते, जाग्रत्प्रपञ्चाज्ञानान्वय–व्यतिरेकानुविधानं तु स्वप्नारम्भकनिद्रादोषेणान्यथासिद्धम्, संसारदशायां बाधस्तु सविलासाज्ञाननिवृत्तिरूपो नेष्ट एव, अभावबोधो बाधस्तु स्वप्रारम्भकाज्ञानाऽनिवृत्तावपि तूलाज्ञानाऽनङ्गीकारपक्षे रजतादाविव संभवी, स्वप्नारम्भकनिद्रादोषनिवृत्त्याऽऽरोप्याभावज्ञानोपपत्तेः" इति तन्न, मूलाज्ञानजन्यत्वे स्वप्नरथादेर्घटादेरिव निवृत्तावपि मिथ्यात्वप्रतीत्यनुपपत्तेः । तज्जन्यमिथ्यात्वप्रतिपत्ताबाद्यशक्तेः प्रतिबन्धकत्वात् सामान्यतो मिथ्यात्वधीप्रतिबन्धिकायां तस्यां तत्तद्दोषनिवृत्तेरुत्तेजकत्वे विनश्यदवस्थदोषजनिते रजतादौ तदानीमेव मिथ्यात्वप्रतिपत्त्यापत्तेः, एकदोषनिवृत्तावन्यमिथ्यात्वबुद्ध्यापत्तौ तत्तन्मिथ्यात्वबुद्धौ तत्तद्दोषनिवृत्तिहेतुत्वावश्यकत्वाच्च ।

[मूलाज्ञान से स्वप्नादि उत्पत्ति पक्ष की आशंका]

इस सम्बन्ध में वेदान्त की ओर से यदि यह कहा जाय कि–'चिन्मात्र में विद्यमान जो

चिन्मात्रविषयक मूलाज्ञान है वही गगनादि सम्पूर्ण व्यावहारिक वस्तुओं को ईश्वरत्वावच्छेदेन-ईश्वरात्मक चैतन्य में उत्पन्न करता है और वही जीवत्वावच्छेदेन-जीवात्मक चैतन्य में अहंकार और स्वप्नादि को भी उत्पन्न करता है। तथा, वह अहंकारादि चैतन्यसामानाधिकरण्येन-अहमस्मि-रथोऽस्ति इत्यादि रूप में स्फुरित भी होता है। स्वप्नादि में जाग्रत् प्रपञ्च विषयक जिस अज्ञान का स्वप्न के साथ अन्वय-व्यतिरेक का अनुविधान होता है वह अज्ञान स्वप्न जनक निद्रादोष को उत्पन्न कर स्वप्न के प्रति अन्यथा सिद्ध होता है और संसारदशा में जिस स्वप्न का बाध कहा जाता है वह सकार्य (सविस्तार) अज्ञान की निवृत्तिरूप वास्तव बाध नहीं है, किन्तु स्वप्नादि के अभाव का बोधरूप गौण बाध है, जो स्वप्न के आरम्भकमूलाज्ञान की निवृत्ति न होने पर भी उसी प्रकार सम्भव होता है जैसे तूलाज्ञान के अनङ्गीकारपक्ष में शुक्तिरजतादि के आरम्भक मूलाज्ञान की निवृत्ति न होने पर भी शुक्तिरजतादि के जनक आगन्तुक दोष की निवृत्ति होने से शुक्तिरजतादि के अभाव का ज्ञान होता है, उसी प्रकार स्वप्न के आरम्भक निद्रा दोष की निवृत्ति से स्वप्नात्मक आरोप्य के अभाव का ज्ञान उपपन्न होता है।"–

[मिथ्यात्व प्रतीति के अभाव की आपत्ति]

तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि स्वप्नरथादि को मूलाज्ञानजन्य मानने पर जैसे घटादि की निवृत्ति होने पर भी घटादि में मिथ्यात्व की प्रतीति नहीं होती वैसे स्वप्नरथादि की निवृत्ति हो जाने पर भी उसमें मिथ्यात्व को प्रतीति नहीं होगी। क्योंकि मूलाज्ञानजन्य पदार्थ के मिथ्यात्वज्ञान में आद्यशक्ति यानी मूलाज्ञान ही प्रतिबन्धक होता है। यदि स्वप्नरथादि में मिथ्यात्व प्रतीति की उपपत्ति के लिये मिथ्यात्वज्ञानप्रतिबन्धक आद्यशक्ति में तत्तद्दोषनिवृत्ति को उत्तेजक मान कर तत्तद्दोष-निवृत्तिविरहविशिष्टाद्यशक्ति को मिथ्यात्वज्ञान का प्रतिबन्धक माना जायगा तो यद्यपि स्वप्नरथादि के जनक निद्रा दोष की निवृत्ति होने पर तद्दोषनिवृत्तिविरहविशिष्ट आद्यशक्तिरूप प्रतिबन्धक न रहने से स्वप्नरथादि में मिथ्यात्वज्ञान की उपपत्ति हो सकती है, तथापि यह कल्पना उचित नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसी कल्पना करने पर जो रजतादि विनश्यदवस्थदोष से उत्पन्न होता है उस रजतादि में उसकी उत्पत्ति के समय ही मिथ्यात्व प्रतिपत्ति की आपत्ति होगी। क्योंकि उसी समय उस रजतादि के जनक दोष की निवृत्ति हो जाने से तद्दोषनिवृत्तिविरहविशिष्टाद्यशक्तिरूप प्रतिबन्धक का अभाव हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी आपत्ति होती है कि चैत्र की प्रथमनिद्रा की निवृत्ति हो जाने पर द्वितीय निद्राकाल में स्वाप्निक रथादि में मिथ्यात्वबुद्धि की आपत्ति होगी क्योंकि उस समय सामान्यतः दोषनिवृत्तिविरहविशिष्टाद्यशक्तिरूप प्रतिबन्धक नहीं है। अतः इस आपत्ति का परिहार करने के लिये विशेषरूप से तत्तद्दोष का उपादान कर तत्तद्दोषजन्यधर्मिक मिथ्यात्वबुद्धि में तत्तद्दोषनिवृत्ति को कारण मानना आवश्यक होगा। इस प्रकार इस पक्ष में महान् गौरव होगा।

न च तथापि निद्रादोषनिवृत्तौ स्वप्नावगतार्थमिथ्यात्वधीः, शुभादृष्टोपनीतजागर-संवादिभाव्यर्थदर्शनेन तदसिद्धेः, हेतुविशेषं विना निद्राविशेषानुपपत्तेश्च। अपि च एवं जाग्रद्दशायामिव स्वप्नदशायामपि मोदकभक्षणजन्यं सुखं समानं स्यात्, स्वाप्यस्तत्वा-ऽविशेषात्। तथा चायातोऽयं न्यायः—

"आशामोदकतृप्ता ये ये चास्वादितमोदकाः ।
रस-वीर्य-विपाकादि तुल्यं तेषां प्रसज्यते ॥ १ ॥" इति ।

'जागर-स्वप्नसुखयोः स्वाध्यस्तत्वेन तुल्यत्वेऽपि सत्याऽसत्यमोदकभक्षणजन्यत्वेन विशेष' इति चेत् ? न, तुल्याज्ञानजन्यत्वेन द्वयोस्तुल्यत्वात्, तत्र बहिरन्तर्विभागस्यापि स्वप्ने मोदकादेर्बहिष्ट्वेनानुभवेन तुल्यत्वात् । 'तत्र बहिष्ट्वमध्यस्तमि'ति चेत् ? अन्यत्रापि तदध्यस्तत्वं सुवचम् । 'एकस्यैव सत्यमोदकस्य बहिर्बहुभिरनुभवात् तत्र बहिष्ट्वं नारोपितमि'ति चेत् ? स्वप्नेऽपि सुवचमेतत् । स्वप्ने प्रतिसंतानमनुभूतानां नानात्वे च जागरेऽपि प्रतिसंतानमनुभूतानामेकत्वे का प्रत्याशा ? । दृग्दृश्यसंबन्धाऽयोगादनन्तानिर्वचनीयानां काल्पनिकतादात्म्याश्रयणापेक्षया तत्तदाकारदृगुत्पत्तेरेव लघुत्वेन वक्तुं युक्तत्वात् ।

[स्वप्नज्ञानीय पदार्थ में सर्वत्र मिथ्यात्वबुद्धि असिद्ध]

यदि यह कहा जाय कि-'उक्त गौरव फलानुगुण होने से दोष नहीं माना जा सकता क्योंकि उक्त कल्पना करने पर एक निद्रादोष की निवृत्ति होने पर भी स्वप्नावगत अर्थ में मिथ्यात्वज्ञान की उपपत्ति होती है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि शुभादृष्ट से जहाँ किसी भावि अर्थ का स्वप्नज्ञान होता है और वह जाग्रत्काल में अवश्य होने वाला है, उस अर्थ में निद्रादोष की निवृत्ति हो जाने पर भी मिथ्यात्वज्ञान नहीं होता । अतः निद्रानिवृत्ति को स्वप्नावगत अर्थ में मिथ्यात्वबुद्धि का कारण नहीं माना जा सकता । यदि निद्राविशेष की निवृत्ति को निद्राविशेषजन्य स्वप्नदृष्ट अर्थों में मिथ्यात्व प्रतिपत्ति का कारण माना जाय तो वह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि हेतुविशेष के बिना निद्राविशेष की उपपत्ति नहीं हो सकती । अतः इस कल्पना के लिये निद्राविशेष के कारणविशेष की कल्पना करनी होगी जो दुर्वच है । इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि यदि स्वाप्निकपदार्थ मूलाज्ञान से जीव में अध्यस्त होगा तो जाग्रद्दशा में जीव में मूलाज्ञान से अध्यस्त होने वाले वस्तु के समान होगा, अतः जाग्रद्दशा में मोदकभक्षणजन्य जैसा सुख होता है स्वप्नदशा में भी उसी प्रकार के सुख की आपत्ति होगी । अतः यह न्याय बल से प्रसक्त होगा कि जो आशामोदक यानी काल्पनिक लड्डु से तृप्त होते हैं और जो वास्तवमोदक का भक्षण करते हैं उन दोनों में प्रतीयमान मोदकों में साम्य मानने पर समानरूप से रस-वीर्य-विपाकादि की प्रसक्ति होगी ।

यदि यह कहा जाय कि-'जाग्रत्कालीन सुख और स्वप्नकालीन सुख दोनों प्रमातृचैतन्य में अध्यस्त होने से यद्यपि तुल्य है तथापि एक सत्यमोदकभक्षणजन्य है और एक असत्यमोदकभक्षणजन्य है अतः उन दोनों में वैलक्षण्य न्यायसङ्गत है'-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि तुल्य अज्ञान से जन्य होने के कारण मोदकों में भी तुल्यता होने से उसमें सत्यासत्य का भेद नहीं हो सकता । बाह्य और आन्तर रूप से भी जाग्रत्कालिक मोदक और स्वप्नकालीन मोदक में अन्तर नहीं हो सकता क्योंकि स्वप्नकालीन मोदक में भी बहिष्ट्व का अनुभव होता है । स्वप्नमोदक में बहिष्ट्व को अध्यस्त कह कर भी उसमें जाग्रत्कालीनमोदक का वैलक्षण्य नहीं उपपन्न किया जा सकता क्योंकि जाग्रत् मोदक में भी बहिष्ट्व अध्यस्त ही होता है ।

यदि यह कहा जाय कि "एक ही सत्यमोदक में बहु लोगों को बहिष्ट्व का अनुभव होता है। अत एव उसमें बहिष्ट्व को आरोपित नहीं माना जा सकता"–तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि स्वप्न में भी यह बात समानरूप से कही जा सकती है, अर्थात् स्वप्न में दृश्यमाण एक मोदक में स्वप्नावस्था में अनेक मनुष्य को बहिष्ट्व का दर्शन होता है क्योंकि निद्रित मनुष्य यह अनुभव करता है कि जिस मोदक को वह देख रहा है उसे उसकी स्वप्नावस्था में दीखने वाले अन्य अनेक मनुष्य भी देख रहे हैं। यदि यह कहा जाय कि–"स्वप्न में भिन्न भिन्न द्रष्टासन्तान को दीखाई देने वाला मोदक एक नहीं किन्तु अनेक होता है"–तो यह आशा भी कैसे की जा सकती है, कि जाग्रदवस्था में विभिन्न द्रष्टा-सन्तानों में दिखाई देने वाला मोदक एक ही होता है। अतः दृग् और दृश्य में सम्बन्ध की अनुपपत्ति से दृग् में दृश्य के अनन्त अनिर्वचनीय पदार्थों के काल्पनिक तादात्म्य का अभ्युपगम करने की अपेक्षा लाघव के कारण तत्तद्दृश्याकार दृक् की उत्पत्ति मानना ही युक्तिसङ्गत है। क्योंकि वेदान्तमत में तत्तदाकार दृग् के स्थान में तत्तदाकारवृत्ति की उत्पत्ति माननी पड़ती है, अत एव तत्तदाकार दृग् और तत्तदाकारवृत्ति की कल्पना में साम्य है। किन्तु वेदान्तमत में दृग् के साथ तत्तत्पदार्थ के काल्पनिक तादात्म्य की भी कल्पना करनी पड़ती है अतः उसमें गौरव स्पष्ट है।

"इष्टमेवेदं दृष्टिसृष्टिवादे, तथाहि–नास्मिन् मते चैतन्यातिरिक्तपदार्थानामज्ञातसत्त्वमस्ति, मिथ्यात्वस्य स्वप्नादिदृष्टान्तसिद्धत्वात्, तादृशस्यैव सत्त्वस्याङ्गीकारात्। एवं च 'घटादीनां यदा प्रतीतिस्तदा सत्त्वं नान्यदा, इति न दण्डादिजन्यत्वम्, किन्त्वज्ञानमात्रजन्यत्वं, स्वप्नवच्च दण्डाद्युपादानम्, अज्ञानदेहादिकं तु भासमानमेव तिष्ठति, अभावनिश्चयाभावाच्च पुत्राद्यभावकृतरोदनाद्यप्रसङ्गः, प्रत्यभिज्ञानमपि भ्रम एव, ततश्चाकाशादिक्रमेण सृष्टिः पञ्चीकरणं ब्रह्माण्डाद्युत्पत्तिः इत्यादिकं मतान्तरे देवताधिग्रहन्यायसिद्धमपि नास्मिन् मते दृष्टिव्यतिरेकेण सिध्यति। अत एवार्थानां नानेकप्रमाणवेद्यत्वम्, किन्तु 'चक्षुषा पश्यामि' इत्यादि व्यवहारस्य स्वप्नतुल्यत्वात् सुखादिवत् केवलसाक्षिवेद्यत्वम्। 'कथं तर्हि घटादेरपरोक्षत्वम्, वह्न्यादेश्च परोक्षत्वम्, अज्ञानजन्यत्वस्य साक्षिण्यध्यस्तत्वस्य च तुल्यत्वात्?' इति चेत्? वह्न्यादौ परोक्षत्वस्याप्यध्यस्तत्वाद् विशेषसिद्धेः। न च बौद्धमतप्रवेशः, अधिष्ठानस्य स्थायित्वात्, अबाधितत्वाच्च। अज्ञानस्याप्यनादेः सकलदृष्टिहेतोरङ्गीकारात्" इति चेत्?

[दृष्टिसृष्टिवादी वेदान्ती का पूर्वपक्ष]

उक्त कथन के प्रतिकार में वेदान्ती की ओर से यदि यह कहा जाय कि–"तत्तदर्थाकार दृग् की उत्पत्ति दृष्टिसृष्टिवाद में इष्ट ही है, क्योंकि इस मत में चैतन्य से अतिरिक्त पदार्थ की अज्ञात सत्ता नहीं है। इन पदार्थों में स्वप्नादि के दृष्टान्त से मिथ्यात्व सिद्ध है। क्योंकि स्वप्नादि में दृश्यमाण पदार्थ की जैसी सत्ता होती है वैसी ही सत्ता जागृतिकाल में दृश्यमान पदार्थ में भी होती है। इस प्रकार इस मत में जब घटादि की प्रतीति होती है तभी घटादि की सत्ता होती है, अन्यकाल में नहीं होती। इसीलिये घटादि दण्डादिजन्य नहीं होता किन्तु अज्ञानमात्रजन्य होता है। घटादि के उत्पादनार्थ कुम्हार द्वारा जो दण्डादिग्रहण की बुद्धि होती है वह स्वप्न में होने वाले दण्डादिग्रहण

के तुल्य है। अज्ञान-देहादि सर्वदा भासमान ही होता है। पुत्रादि की अप्रतीतिकाल में पुत्रादि का अभाव होने पर भी रुदनादि का प्रसङ्ग नहीं हो सकता। क्योंकि रुदनादि के प्रति पुत्रादि के अभाव का निश्चय कारण है और वह पुत्रादि की अप्रतीतिकाल में नहीं होता। इस मत में 'तदेवेदम्' यह प्रत्यभिज्ञा भी भ्रम है। आकाश वायु आदि के क्रम से भूतों की सृष्टि-आकाशादि का पञ्चीकरण और ब्रह्माण्डादि की उत्पत्ति ये सब इस मत में उसी प्रकार सिद्ध होता है जैसे मीमांसकों के मत में देवतादि का विग्रहशरीर सिद्ध होता है। इसलिये इस मत में दृष्टि के अभाव में दृश्य की सिद्धि नहीं होती।

[देवताशरीरवत् दृष्टिसृष्टिवाद में दृश्य का अभाव]

कहने का आशय यह है कि मीमांसादर्शन में देवता को सशरीरी नहीं माना जाता क्योंकि शरीरवान् मानने पर एक ही काल में सुदूरवर्ती विभिन्नकर्मस्थलों में शरीरवान् देवता की उपस्थिति नहीं हो सकती। अतः यह माना जाता है कि देवता वस्तुतः अशरीर है किन्तु तत्तत्कर्मकाल में सदेह देवता की उपस्थिति की बुद्धि होती है। अर्थात् देवता का वास्तविक शरीर नहीं है किन्तु वैज्ञानिक शरीर है। ठीक उसी प्रकार दृष्टिसृष्टिवाद में दृष्टि के अभाव में दृश्य की सत्ता नहीं होती किन्तु दृश्य और दृष्टि दोनों की अज्ञान द्वारा सहोत्पत्ति होती है। इसीलिये इस मत में अर्थ में अनेकप्रमाणवेद्यता नहीं होती। जागृतिकाल में जो 'चक्षुषा पश्यामि' यह व्यवहार होता है वह स्वप्न में जैसे चक्षुर्जन्य दर्शन न होने पर चक्षुर्जन्यत्वेन दर्शन का व्यवहार होता है, ठीक उसीप्रकार जाग्रत्काल में भी उक्त व्यवहार होता है। इसीलिये इस मत में सुखादि के समान सर्वपदार्थ केवल साक्षिवेद्य है।-व्यवहार का उक्त रीति से समर्थन करने पर यह प्रश्न होता है कि-"यदि अर्थ का दर्शन चक्षुआदि से नहीं होता तो निकट से दृश्यमान घटादि की अपरोक्षता और दूर से अनुमीयमान वह्नि आदि की परोक्षता कैसे हो सकती है? क्योंकि अज्ञानजन्यता और साक्षि में अध्यस्तता दोनों में समान है।"-तो इसका उत्तर यह है कि वह्नि आदि में परोक्षता भी अध्यस्त है। इसलिए अपरोक्ष घटादि और परोक्ष वह्न्यादि में वैलक्षण्य की सिद्धि होती है। यदि यह कहा जाय कि-'वह्नि आदि में परोक्षता का अध्यास मानने पर अध्यस्ताधिष्ठानक अध्यास अभ्युपगत होगा अतः बौद्धमत का प्रवेश होगा क्योंकि शून्यवादी बौद्धमत में अध्यस्ताधिष्ठानक ही अध्यास होता है"-तो यह ठीक नहीं है। वेदान्त मत में अधिष्ठान स्थायी और अबाधित होता है। जब कि बौद्ध मत में अधिष्ठान अस्थायी और बाधित होता है। इस मत में सम्पूर्ण दृश्य का हेतुभूत अनादि अज्ञान मान्य है जब कि बौद्धमत में इस प्रकार के अज्ञान की मान्यता नहीं है।"-

न, अधिष्ठानस्य स्थायित्वासिद्धेः, नीलाद्याकारेणाऽस्थायित्वदर्शनात्। 'नीलाद्याकाराः स्वाध्यस्ता अतिरिक्ता एव, साक्षी तु चिद्रूपः स्थायी'ति चेत्? न, नीलादिविनिर्मुक्तस्य चिद्रूपस्याभासमानत्वेनाऽसत्त्वात्। 'नीलपीतादिभानानुगतं चिद्रूपमेव स्थायी'ति चेत्? तर्हि नीलादिरूपमपि प्रतिप्रमात्रनुगतं स्थायीभवेत्। 'संतानभेदाद् नीलादिभेद'श्चेत्। नीलाद्याकार-भेदाच्चिद्रूपस्यापि किं न भेदः? । अज्ञानमपि नानादिसकलदृष्टिहेतुः, नित्यस्य क्रमिकनाना-दृष्टिहेतुत्वानुपपत्तेः, कारणान्तरविलम्बाभावादेकस्मादेकदैव सर्वोत्पत्तिप्रसङ्गात्। 'तज्जनित-

क्रमिकाज्ञानेभ्यः कार्यभेदनिर्वाह' इति चेत् ? न, एकस्य तस्य जन्यनानाऽज्ञानजननेऽप्यस्य प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात् । 'कालभेदात् ततो भिन्नभिन्नकार्योत्पत्तिसंभव' इति चेत् ? कालभेदादेव तर्हि कार्यभेदनिर्वाहे दत्तोऽज्ञानाय जलाञ्जलिः । न चैकस्य स्वभावभेदं विना कालभेदस्यापि सहकारः, स्वभावभेदे च गगनादित्वेनेति ।

[दृष्टिसृष्टिवाद का प्रतिक्षेप–उत्तर पक्ष]

दृष्टिसृष्टिवाद पर अवलम्बित वेदान्ती का उक्त कथन समीचीन नहीं है क्योंकि 'नीलं सत्' 'पीतं सत्' इत्यादि प्रतीति के अनुरोध से अधिष्ठानभूत सत् नीलाद्याकार होता है और नीलाद्याकार 'नीलं नष्टम् पीतं नष्टम्, इत्यादि प्रतीति के अनुरोध से अस्थायी होता है अतः नीलाद्याकार से सद्रूप अधिष्ठान में अस्थायित्व का दर्शन होने से अधिष्ठान का स्थायित्व असिद्ध है ।

यदि यह कहा जाय कि–"नीलाद्याकार चैतन्य में अध्यस्त है, चैतन्य से अतिरिक्त है; और साक्षि चिद्रूप एवं स्थायि है और वही दृष्टि सृष्टिवाद में समस्त पदार्थों के अध्यास का अधिष्ठान है । अतः नीलाद्याकार के अस्थायी होने से अधिष्ठान की अस्थायिता नहीं सिद्ध होती ।"–तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि नीलादि से मुक्त चिद्रूप की प्रतीति नहीं होती अतः नीलादिमुक्त चिद्रूप की सत्ता है ही नहीं ।

यदि यह कहा जाय कि–"ऐसा नियम है-'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र ब्रह्म न भासते'=ऐसी कोई प्रतीति नहीं है जिसमें ब्रह्म का भान नहीं होता, क्योंकि घटाद्याकार वृत्यात्मक ज्ञान यदि घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक नहीं होगा तो उससे उक्त चैतन्यविषयक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि समानविषय ही अज्ञान और ज्ञान में निवर्त्य निवर्त्तकभाव होता है यह नियम है, इस नियम के अनुसार नीलपीतादिविषयक सभी ज्ञानों में एक अनुगत चैतन्य भासित होता है और इसलिये वह चैतन्य स्थायी है'–तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर सभी प्रमाता के प्रति एक अनुगत नीलादिरूप की भी स्थायिता हो जायगी । क्योंकि विभिन्नकाल में एक ही नील का अनेक प्रमाताओं को अनुभव होता है । यदि यह कहा जाय कि 'सन्तानभेद से-प्रमातृभेद से नीलादि में भेद है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार भेद मानने पर नीलादि आकार के भेद से चिद्रूप में भेद क्यों न होगा ?

[एक ही काल में एक अज्ञान से सकल कार्य आपत्ति]

यह जो कहा गया कि 'अनादि अज्ञान सकल दृष्टि का हेतु है' वह भी ठीक नहीं है क्योंकि नित्य-स्थायी अज्ञान क्रमिक विविध दृष्टि का हेतु नहीं हो सकता । क्योंकि कारणान्तर का विलम्ब सम्भव न होने से एक कारण से एक काल में ही उसके सम्पूर्ण कार्यों की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा । यदि यह कहा जाय कि–'अज्ञान से क्रमशः उत्पन्न होने वाले अज्ञानों से कार्य विशेष का निर्वाह होगा"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अकेले एक अज्ञान से जन्य विविध अज्ञान का अभ्युपगम करने पर भी एक ही काल में नाना अज्ञानों की उत्पत्ति का प्रसंगरूप दोष समान है । कालभेद से भी अज्ञान द्वारा क्रमिक भिन्न-भिन्न कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि कालभेद से कार्यभेद मानने पर अज्ञान को ही जलाञ्जली हो जायगी क्योंकि तब जो कार्य कालभेद से हुआ किन्तु अज्ञान से नहीं । दूसरी बात यह है कि यदि अज्ञान में स्वभावभेद नहीं माना जायगा तो कालभेद उसका सहकारी भी

नहीं हो सकता : यदि स्वभावभेद न मानेंगे तो उसकी अनादिता नहीं हो सकेगी। आशय यह है कि यदि तत्तत्काल में अज्ञान में स्वभावभेद का आधान नहीं होगा तो सभी काल में अज्ञान एकरूप ही रहेगा। अतः विभिन्नकाल में होने वाले कार्यों की एककाल में ही उत्पत्ति की आपत्ति होगी। क्योंकि विभिन्नकालों में विभिन्न कार्यों का उत्पादक जो अज्ञान वह सर्वत्र एकरूप है। यदि कालभेद से अज्ञान में स्वभावभेद का आधान माना जायगा तो स्वभावभेद सादि (आदि वाला) होने से तदात्मना अज्ञान भी सादि हो जायगा। अतः अज्ञान की अनादिता समाप्त हो जायगी।

किञ्च, एवं लोकसिद्धदण्ड-घटादिकार्यकारणभाववत् शब्दसिद्धयागस्वर्गाद्यगम्यागमन-नरकादिसाध्यसाधनभावस्यापि स्वाप्निकतुल्यत्वात्, वेदान्तेष्वप्यनाश्वासप्रसङ्गाच्च वेदान्तिनां यथेष्टाचरणप्रसङ्गात्। यदि हि विहितात् स्वर्गः निषिद्धाद् नरको वा न स्यात्, किमर्थं तर्हि विहितमनुतिष्ठन्तः, निषिद्धं चाऽवर्जयन्तः क्लिश्येरन्? इति। अपि च, अनात्मदृष्टिसृष्टेरनवसानप्रसङ्गः। न चाधिष्ठानज्ञानात् तदवसानम्, तद्धेत्वभावात्। 'अज्ञानं तद्धेतुरिति' चेत्? ज्ञानतोऽसत्यपि दण्डादौ घटाद्युत्पत्तिवत् शमाद्यसत्त्वेऽपि तत एवाधिष्ठानज्ञानोत्पत्तेः शमाद्यननुष्ठानप्रसङ्गात्। 'भ्रान्त्या तदनुष्ठानमिति' चेत्? न, सकृद्वेदान्तार्थश्रवणवतां तदभावप्रसङ्गात्। न च प्राथमिकघटप्रतिभासे दण्डाद्यपेक्षावत् प्राथमिकाऽधिष्ठानज्ञाने शमाद्यपेक्षोपपत्तिः, क्वचित् तावत्प्रतिभासहेतूपनिपातेऽपि नियमाऽसिद्धेः।

[दृष्टि-सृष्टिवाद में दोष परम्परा]

इस मत में दूसरा दोष यह है कि–जैसे घटादि और दण्डादि में लोकसिद्ध कार्यकारणभाव स्वप्नतुल्य है उसी प्रकार स्वर्गादि का यागादि के साथ एवं नरकादि का अगम्यागमनादि के साथ शास्त्रसिद्ध कार्यकारणभाव भी स्वप्न तुल्य हो जायेगा। एवं शमदमादि में आत्मज्ञानसाधनता के बोधक वेदान्त में भी अनास्था की प्रसक्ति होगी। फलतः यथेष्टाचरण में वेदान्ती की प्रवृत्ति का प्रसङ्ग होगा। एवं यदि विहित कर्म से स्वर्ग और निषिद्ध कर्म से नरक नहीं होगा तो मनुष्य विहित कर्म के अनुष्ठान और निषिद्धकर्म के परिवर्जन का क्लेश क्यों करेंगे! एवं आत्मभिन्न पदार्थों की दृष्टि-सृष्टि का अवसान कभी नहीं होगा। इसके प्रतिवाद में यह नहीं कह सकते कि 'अधिष्ठानज्ञान से भी उसका अवसान होगा'–क्योंकि अधिष्ठानज्ञान का कोई हेतु ही नहीं है। "अज्ञान ही अधिष्ठान का हेतु है'-यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे इस मत में दण्डादि के अभाव में भी अज्ञान से घटादि की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार शमदमादि के अभाव में भी अज्ञान से ही अधिष्ठानज्ञान की उत्पत्ति हो जाने से शमदमादि का अनुष्ठान अनावश्यक हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि– 'शमदमादि में अधिष्ठानज्ञानसाधनता के भ्रम से शमदमादि का अनुष्ठान होता है"-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जो लोग एक बार वेदान्तार्थ का श्रवण कर लेंगे–उन में शमदमादि के अनुष्ठानाभाव का प्रसङ्ग होगा क्योंकि श्रवणादि की आवृत्ति में वेदान्तबोध्य अधिष्ठानज्ञानसाधनता भी स्वाप्निक साधनता तुल्य है, अधिष्ठानज्ञान केवल अज्ञान से ही होता है। यदि यह कहा जाय कि-'जैसे घट के प्राथमिक प्रतिभास में दण्डादि की अपेक्षा होती है किन्तु द्वितीयादि प्रतिभास में नहीं होती, उसी प्रकार अधिष्ठान के प्राथमिक ज्ञान में शमदमादि की अपेक्षा होगी'–तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि

किसी एक प्रतिभास में उतने हेतुओं का संनिधान हो जाने पर भी 'वे सब प्रतिभास के कारण हैं।' इस नियम की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः शमदमादि और श्रवणादि की आवृत्ति के अभाव के प्रसंग का परिहार नहीं हो सकता।

किञ्च, भ्रमहेतोरज्ञानाद् नाधिष्ठानज्ञानोत्पत्तिरन्यत्र दृष्टा। न हि शुक्त्यज्ञानाद् रजतभ्रमः, तत एव च शुक्तिज्ञानमिति। 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा'-शास्त्रात् तथा कल्प्यत' इति चेत्? न, शास्त्रस्य स्वप्नतुल्यत्वात्, शमाद्यनुपसंग्रहानुद्धाराच्च। अथ लोकेऽज्ञानातिरिक्तकारणाभावेऽपि वेदे यागादौ स्वर्गादिसाधनता संमतैव। ततश्च यागादेः स्वर्गादिसाधनत्वं प्रतीत्यागमनुतिष्ठता-मुत्पन्नस्य स्वर्गसूक्ष्मरूपस्य यागसूक्ष्मरूपस्य वाऽपूर्वस्य स्वर्गजनकत्वम्, अन्यथाऽव्यवस्था-प्रसङ्गात्, ततश्च वेदान्तेष्वप्याश्वासात् शमादिसंपत्त्या ब्रह्मज्ञानसिद्धिरिति चेत्? न, लोकसिद्धकार्यकारणभावपरित्यागे वेदेऽप्यनाश्वासात्। न हि स्वप्रयोजनमपेक्ष्यैकं प्रमाणं अपरं चाप्रमाणं भवितुमर्हति। न च बलवत्त्वाद् वेदः प्रमाणम्, न तु प्रत्यक्षादिकमिति वाच्यम्, प्रत्यक्षादिबाधितेऽर्थे वेदाऽप्रामाण्येन प्रत्यक्षादीनामेव बलवत्त्वात्।

[भ्रमोत्पादक अज्ञान से अधिष्ठानज्ञान का असंभव]

दूसरी बात यह भी है कि जिस अज्ञान से भ्रम की उत्पत्ति होती है उससे अधिष्ठान ज्ञान की उत्पत्ति कहीं अन्यत्र नहीं देखी गयी है क्योंकि जिस शुक्ति के अज्ञान से रजतभ्रम होता है उसी से शुक्तिज्ञान कभी नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' =मुमुक्षु अविद्या से मृत्यु-देहात्मतादात्म्यभ्रम को दूर कर विद्या से अमृतत्व को प्राप्त करता है' इस शास्त्र के अनुरोध से भ्रम के हेतुभूतअज्ञान से अधिष्ठानज्ञानोत्पत्ति की कल्पना की जा सकती है"— तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टिसृष्टिवाद में शास्त्र भी स्वप्नतुल्य है। साथ ही शमदमादि की अनुपादेयता की आपत्ति का उद्धार फिर भी नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि-'लोक में यद्यपि पदार्थ का, अज्ञान से अतिरिक्त, कोई कारण मान्य नहीं है किन्तु वेद में यागादि की स्वर्गादिसाधनता मान्य है। अतः वेद से यागादि में स्वर्गादिसाधनता का ज्ञान प्राप्त कर याग का अनुष्ठान करने वालों को सूक्ष्मस्वर्गरूप अथवा सूक्ष्मयागरूप अपूर्व उत्पन्न होता है और वही कालान्तर में स्वर्ग का जनक होता है। क्योंकि ऐसा न मानने पर अव्यवस्था हो जायगी। अर्थात् यागादि के अनुष्ठान न करने वालों को भी स्वर्गादि की प्राप्ति का प्रसङ्ग होगा। इस प्रकार वेदान्तों में भी विश्वास होने से अर्थात् शमदमादि आत्मज्ञान का कारण है—इस वेदान्तोपदेश पर आस्था होने से शमादि के सम्पादन द्वारा ब्रह्मज्ञान की सिद्धि होगी।'—तो यह ठीक नहीं है क्योंकि लोकसिद्ध कार्यकारणभाव का परित्याग करने पर वेदबोध्य कार्यकारणभाव में भी अनाश्वास अनिवार्य है। क्योंकि समान दो वस्तु में, व्यक्ति के अपने प्रयोजन के आधार पर एक प्रमाण और दूसरा अप्रमाण नहीं हो सकता। 'वेद बलवान् होने से प्रमाण है'—यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित अर्थ में वेद अप्रमाण होने से प्रत्यक्षादि प्रमाण ही वेद की अपेक्षा बलवान् है।

किञ्च, याग-स्वर्गादिहेतुहेतुमद्भावं प्रतिपादयन् वेदः स्वप्नयागस्वर्गयोरपि हेतु-हेतुमद्भावं

किं न बोधयेत् ? । 'तत्र वेदाप्रामाण्यादिति' चेत् ? कुत्र तर्हि तत्प्रामाण्यम् ? । 'तद्विलक्षण-याग-स्वर्गयोरिति चेत् ? न, आभासमानसत्त्वानङ्गीकारे तद्वैलक्षण्यासिद्धेः, सिद्धौ वा दण्ड-घटादेरपि कार्यकारणभावः सिध्येत् । किञ्च, अपूर्वमपि साक्ष्यसिद्धत्वात् कथमभ्युपेयम् ? । "अज्ञानकारणत्वात् साक्षिसिद्धमेव तत्, उक्तं हि संस्कारस्य साक्षिसिद्धत्वमभियुक्तैः—

'सुप्तेऽस्मिन् विषयग्रामे योऽसुप्तोऽलुप्तदृष्टितः ।
वासनारूपकान् पश्यन् प्राणान् प्राणिति वायुना ॥
भावनाकारकेक्षित्वादात्मैकः कारकायते ॥'

इत्यादाविति" चेत् ? न, सूक्ष्मरूपेण साक्षिसिद्धत्वे तस्य श्रद्धामात्रात्, अन्यथा घटादिज्ञानोत्तरमपि सूक्ष्मरूपेण तज्ज्ञानोपगमप्रसङ्गात् ।

[स्वप्न में किये गये याग से स्वर्गोत्पत्ति का प्रसंग]

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि वेद यदि सामान्यरूप से स्वर्ग-यागादि में कार्यकारण-भाव का प्रतिपादन करेगा तो स्वाप्निक स्वर्ग और स्वाप्निकयाग के कार्यकारणभाव का प्रतिपादन क्यों नहीं करेगा ? यदि यह कहा जाय कि–'स्वाप्निकस्वर्ग और स्वाप्निकयाग के कार्यकारणभाव में वेद अप्रमाण है'–तो यह बताना होगा कि वेद किसमें प्रमाण है ? यदि कहा जाय कि-'स्वाप्निक स्वर्ग और स्वाप्निकयाग से विलक्षण स्वर्गयाग की कारणता में वेद प्रमाण है'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतीयमान की सत्ता का स्वीकार न करने पर स्वाप्निक स्वर्गयागादि और जाग्रत्कालीन स्वर्गयागादि में वैलक्षण्य की सिद्धि नहीं हो सकती और यदि सिद्धि होगी तो स्वाप्निक घट-दण्डादि से जाग्रत्कालीन घट-दण्डादि में भी वैलक्षण्य सिद्ध होने से घटादि-दण्डादि में भी कार्यकारणभाव की सिद्धि हो जायगी ।

इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह है कि यागादिजन्य अपूर्व भी साक्षिसिद्ध नहीं है–अतः उसका भी अभ्युपगम कैसे किया जा सकता है ? और उसके बिना यागादि से कालान्तर में स्वर्गोत्पत्ति कैसे हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि–'अपूर्व अज्ञानकारणक है अतः अज्ञानकारणक शुक्ति-रजतादि के समान वह भी साक्षि सिद्ध ही है । क्योंकि मान्य आचार्यों ने संसार को भी साक्षिसिद्ध माना है जैसे उनका कहना है कि-सुषुप्ति के समय जब सम्पूर्ण विषय सुप्त अज्ञान में लीन हो जाता है तब भी आत्मा असुप्त रहती है अर्थात् जाग्रत्काल के समान ही अवस्थित रहता है । उसकी चैतन्यात्मक दृष्टि लुप्त नहीं हो सकती । अतः उस समय भी वह वासना रूप में विद्यमान प्राणों का अनुभव करता है और वायु से श्वास-प्रश्वास भी लेता है । उस समय भावनात्मक ईक्षण= संस्काररूप में वस्तु के दर्शन का कर्त्ता होने से एक आत्मा ही कारकरूप में अवस्थित रहता है'–किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'पदार्थ सूक्ष्मरूप से साक्षिवेद्य होता है' इसमें केवल श्रद्धा ही प्रमाण हो सकती है । यदि वस्तु का सूक्ष्मरूप में अवस्थान माना जायगा तो घटादिज्ञान के बाद भी सूक्ष्मरूप से घटादिभान के अस्तित्व का अभ्युपगम प्रसक्त होगा ।

किञ्च, अस्मिन् पक्षे परचित्ताऽग्रहणे परं प्रति पर्यनुयोगाऽप्रसङ्गः, तद्ग्रहणं च

स्वाध्यस्तत्वेनेति स्व-परचित्त-संकरप्रसङ्गः । स्वचित्ते परकीयत्वमध्यस्य कथायां त्वव्यवस्था । तस्माद् दृष्टिसृष्टिवादेऽपि वेदान्तिनां शून्यतावादाद् न विशिष्यते । तथा च सुष्ठूपहसितमेतत्–

"प्रत्यक्षादिप्रसिद्धार्थविरुद्धार्थाभिधायिनः ।
वेदान्ता यदि शास्त्राणि बौद्धैः किमपराध्यते ? ॥" इति ।

दूसरी बात यह है कि इस पक्ष में दृष्टिसृष्टिवाद में पदार्थ की अज्ञात सत्ता नहीं होती, दूसरी ओर परचित्त का ग्रहण अनुमानसाध्य होता है और अनुमान गृहीत लिङ्ग से अगृहीतसाध्य में ही प्रवृत्त होता है । किन्तु इस मत में अगृहीत=अज्ञात की सत्ता सम्भव नहीं है अतः परचित्त का ग्रहण न हो सकने से पर के प्रति प्रश्न की अनुपपत्ति होगी । यदि परचित्त को भी स्व में अध्यस्त मानकर उसके ग्रहण का अभ्युपगम किया जायगा तो स्वचित्त और परचित्त में सांकर्य का प्रसङ्ग होगा । अर्थात् स्वचित्तगतभावों के समान परचित्तगतभावों के ग्रहण की भी प्रसक्ति होगी ।

यदि यह कहा जाय कि–'परचित्त का अस्तित्व ही नहीं है' किन्तु स्वचित्त में ही परकीयत्व का अध्यास कर कथा होती है'–तो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर जयपराजयादि की व्यवस्था न हो सकेगी ।

निष्कर्ष यह है कि उपर्युक्त विचारों के अनुसार वेदान्तीओं का दृष्टिसृष्टिवाद बौद्धों के शून्यतावाद से भिन्न नहीं सिद्ध होता । अतः इस मत का विद्वानों ने यह कहते हुये उचित ही उपहास किया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्रसिद्ध अर्थ से विरुद्ध अर्थ का अभिधान करने वाले 'वेदान्त' यदि प्रमाणभूत शास्त्र हो सकते हैं तो फिर बौद्धों का क्या अपराध है कि उनके शास्त्र को प्रमाणभूत शास्त्र न माना जाय ?

अपि च, अविद्यायामेव मानाभावाद् विशीर्यते सर्वं तन्मूलं वेदान्तिमतम् । न च 'न जानामि' इत्यनुगतः प्रत्ययस्तत्र मानम्, 'अहम्-अहम्' इत्यनुगतप्रत्याऽहंत्वस्याप्यनुगतस्य सिद्ध्यापत्तेः । न च 'न जानामि' इत्यत्रानुगतविषयानुपपत्तिरप्यस्मान् प्रति सिद्धा, सर्वात्मना स्वरूपज्ञानाऽभावस्य सर्वत्रानुगतत्वात्, सर्वात्मना स्वरूपज्ञानस्यानुवृत्ति-व्यावृत्तिपर्यायद्वारा सर्वज्ञाननियतत्वाद्, विना सर्वज्ञं कुत्राप्यर्थे तदनुपपत्तेः । तदयमाचारांगे [३-४-११२] परस्पर-समनियमाभिप्रायः परमर्षिवचनोद्गारः–"जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ" इति ।

मुख्य बात यह है कि अविद्या के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है । अतः अविद्यामूलक सम्पूर्णवेदान्तमत अनायास निरस्त हो जाता है । जो अविद्या के सम्बन्ध में 'न जानामि' इस अनुगत प्रत्यय को प्रमाण कहा गया वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि, यदि 'घटं न जानामि' 'पटं न जानामि' इत्यादि प्रतीतियों को 'न जानामि' इस अंश में समान होने से उन प्रतीतिओं से यदि एक अनुगत अज्ञान (अविद्या) की सिद्धि की जायगी तो 'अहं घटं जानामि' 'अहं पटं जानामि' इत्यादि प्रतीतियां 'अहं' इस अंश में समान होने से एक अनुगत अहंत्व की भी सिद्धि की आपत्ति होगी । जिसके फल-स्वरूप अहमर्थ में भिन्नता का लोप हो जायगा । एवं अविद्या के समान अहंत्व भी अनादि सिद्ध होगा ।

[य एकं जानाति स सर्वं जानाति, यः सर्वं जानाति स एकं जानाति ।]

दूसरी बात यह है कि-'अज्ञान का अभ्युपगम न करने पर 'न जानामि' इन प्रतीतिओं में अनुगत विषय की अनुपपत्ति होती है'-यह बात भी जैनदृष्टि से असिद्ध है, क्योंकि जैन मत में 'सर्वात्मनास्वरूपज्ञानाभाव' ही 'न जानामि' इस प्रकार की सभी प्रतीतिओं का अनुगत विषय है और यह अनुपपन्न भी नहीं है क्योंकि अनन्त-अनावृत्ति पर्यायों द्वारा सर्वात्मना स्वरूपज्ञान सर्वविषयकज्ञान नियत है, अतः सर्वज्ञ को छोड़कर किसी भी व्यक्ति को किसी भी पदार्थ का सर्वात्मना स्वरूपज्ञान नहीं हो सकता। अतः असर्वज्ञमात्र में सर्वात्मना स्वरूपज्ञानाभाव सम्भव होने से उसे 'न जानामि' इस प्रतीति का अनुगतविषय मानने में कोई बाधा नहीं है। जैसा कि आगम-'आचाराङ्ग' नामक प्रथम अङ्ग में एकवस्तु के सर्वात्मना ज्ञान और सर्ववस्तुओं के ज्ञान में समव्यापकत्व के अभिप्राय से परमर्षि का यह वचनोद्गार उपलब्ध होता है कि-"जो एक वस्तु को (सर्वांश में) जानता है वह सम्पूर्ण वस्तुओं को जानता है और जो सम्पूर्ण वस्तुओं को जानता है वही एक वस्तु को (सर्वांश में) जानता है।"

घटज्ञानादिनिवर्त्यमपि मिथ्याज्ञानरूपं सम्यग्ज्ञानप्रागभावरूपं वाऽज्ञानं त्वतिरिक्तम्। परेषां तु घटादिज्ञानात् तदज्ञानाऽनिवृत्तिप्रसङ्गः, अनुगताज्ञानस्य मुक्तावेवनिवृत्तेः। न च घट-ज्ञानाद्(द ?)घटविषयतामात्रस्य निवृत्तिर्नाज्ञानस्य, यथा परेषां घटनाशे घटसंबन्धनाशः सत्ताया इति वाच्यम्, दृष्टान्तस्यैवाऽसंप्रतिपत्तेः। न हि घटनाशे स्वरूपात्मकघटसंबन्धनाशो न तु सत्तानाश इति जैनाः प्रतिपद्यन्ते, न चोत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपरिगतरूपबहिष्कृतां सत्तामेव प्रमाणयन्तीति। न च घटविषयतानिवृत्तिरपि सुवचा, स्वभावभूताया घटसंपृक्तावरणजनकता-रूपायास्तस्या निःस्वभावत्वतोऽनिवृत्तौ निवर्तयितुमशक्यत्वादिति। विषयाऽस्फुरणप्रयोजक-तयापि न तत्सिद्धिः, विषयस्फुरणस्वभाव एवात्मन्यभ्युपगम्यमाने परनिमित्ततदस्फुरणस्वभाव-निर्वाहाय तत्प्रतिबन्धकज्ञानावरणकर्मकल्पनौचित्यात्। तदस्फुरणस्वभावे तु किं स्फुरणप्रति-बन्धकेन ? न हि प्रतिबन्धकनिवृत्त्यापि तदस्वस्फुरणस्वभावस्य तत्स्फोरकत्वं नाम, मणिनिवृत्ता-वपि दाहकस्य दहनस्येवाऽदाहकस्याश्मनो दाहकत्वाऽदर्शनादिति।

घटज्ञानादि से जो अज्ञान निवृत्त होता है वह सर्वात्मना स्वरूपज्ञानाभाव रूप अज्ञान नहीं किन्तु उससे मिथ्याज्ञानरूप अथवा सम्यग्ज्ञान के प्रागभावरूप अज्ञान होता है। वेदान्ती के मत में घटादिज्ञान से संसारदशा में घटादि के अज्ञान की निवृत्ति न होने की अनिष्ट प्रसक्ति होगी। क्योंकि उनके मत में अज्ञान अनुगत है अत एव मुक्ति में ही उसकी निवृत्ति हो सकती है। यदि यह कहा जाय कि घटज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती किन्तु अज्ञान में घटविषयकत्व की निवृत्ति होती है, जैसे कि न्यायमत में घट का नाश होने पर घट की सत्ता का नाश नहीं होता किन्तु सत्ता के साथ घटसम्बन्ध का नाश होता है'-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैन को यह दृष्टान्त मान्य नहीं है कि-'घट का नाश होने पर उसके साथ घट के स्वरूपात्मक सम्बन्ध का तो नाश होता है किन्तु सत्ता का नाश नहीं होता।' दूसरी बात यह है कि जैनों को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य नियतस्वरूप से भिन्न सत्ता की प्रामाणिकता भी मान्य नहीं है। वेदान्ती की ओर से जो यह कहा गया कि घटज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती किन्तु अज्ञान में घटविषयकत्व की निवृत्ति होती है वह भी उचित नहीं है क्योंकि

अज्ञान में घटविषयता घटसम्पृक्तावरण की जनकतारूप है अतः वह अज्ञान का स्वभाव है, इसलिये स्वभाव के आश्रयभूत अज्ञान की निवृत्ति न होने पर उसके घटविषयतारूप स्वभाव की निवृत्ति अशक्य है। विषय के अस्फुरण के प्रयोजकरूप में भी अज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि यदि विषयस्फुरण आत्मा का स्वभाव होगा तो उसमें विषय का अस्फुरणस्वभाव किसी अन्य निमित्त से ही मानना होगा। अतः उस अन्य निमित्त के रूप में अज्ञान की कल्पना न कर कर्म द्वारा ज्ञान के आवरण की कल्पना हो उचित है क्योंकि कर्म=अदृष्ट दोनों मत में क्लृप्त है। यदि विषय का अस्फुरण आत्मा का स्वभाव होगा तो स्फुरण का प्रतिबन्ध मानना व्यर्थ है क्योंकि विषय का अस्फुरण स्वभाव से ही सम्पन्न होगा। दूसरी बात यह है कि स्फुरण के प्रतिबन्धक की निवृत्ति होने पर भी आत्मा विषय का स्फोरक नहीं हो सकेगा क्योंकि विषय का अस्फुरण उसका स्वभाव है क्योंकि जैसे दाह के प्रतिबन्धक मणि की निवृत्ति होने पर भी दाहकस्वभाव अग्नि में ही दाहजनकत्व देखा जाता है, अदाहक स्वभाव जल में नहीं देखा जाता।

***एतेन—"विवादगोचरतापन्नं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत्। अत्रातीतत्त्वज्ञानं घटादिज्ञानं चोक्तसाध्यवदिति वेदान्तिनः। नेत्यपरे। इति विवादविषयतापन्नज्ञानानां पक्षत्वात् सुखादिज्ञाने विवादाभावेनाऽपक्षत्वाद् न बाधः।**

उक्त कारण से एवं आगे कहे जाने वाले कारण से वेदान्ती द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले निम्नोक्त महाविद्या अनुमान से भी अज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती।

[वेदान्तीओं का अज्ञानसाधक महाविद्या अनुमान—पूर्वपक्ष]

वेदान्तीओं का अज्ञानसाधक महाविद्या-अनुमान इस प्रकार है—

'विवादविषयीभूत प्रमाणज्ञान स्वप्रागभाव से भिन्न, स्वविषयावरण स्वनिवर्त्य, स्वदेशगत अन्य वस्तु पूर्वक होता है-क्योंकि वह अप्रकाशित अर्थ का प्रकाशक होता है। जैसे-अन्धकार में प्रथमोत्पन्न प्रदीप की प्रभा अन्धकाररूप उक्त अन्य वस्तु पूर्वक होती है।'

इस अनुमान से यह सिद्ध होता है कि विवादास्पदप्रमाणज्ञान के पूर्व ऐसी कोई वस्तु रहती है जो ज्ञान के प्रागभाव से भिन्न और उस ज्ञान के विषय का आवरण, एवं उससे निवर्त्य, तथा उस ज्ञान का समानाधिकरण होती है। वेदान्ती का कहना है कि इस प्रकार जो वस्तु प्रमाणज्ञान पूर्व सिद्ध होती है वही अज्ञान है। अतीतत्त्व का ज्ञान और घटादि ज्ञान उक्त साध्य का आश्रय होता है-यह वेदान्तीओं का मत है और 'यह ज्ञान उक्त साध्य का आश्रय नहीं होता है' यह अन्य दार्शनिकों का मत है। इस प्रकार जिस ज्ञान में उक्त साध्य होने और न होने में वेदान्ती और अन्य दार्शनिकों के मध्य विवाद है, ऐसे विवादविषयीभूतज्ञान को ही पक्ष बनाने के अभिप्राय से प्रमाणज्ञानरूप पक्ष में 'विवादविषयत्व' विशेषण दिया गया है। जिसका अर्थ है 'साध्यसंशयविषयत्व।' यदि पक्ष में यह विशेषण न दिया जाय तो सुखादिज्ञान भी पक्षान्तर्गत होगा। दूसरी ओर वेदान्ती के मत में सुखादि की अज्ञातसत्ता न होने से उसमें अज्ञानरूप उक्त अन्य वस्तु पूर्वकत्व रूप साध्य न होने से

*एतत्पदस्य 'स्वगृह......मपास्तम्' इत्यनेन सम्बन्धो बोध्यः।

बाध प्रसक्त होगा। अतः पक्ष में उक्त विशेषण देकर सुखादिज्ञान में पक्षान्तर्गतत्व का परिहार किया गया है।

नापि धारावाहिकज्ञाने बाधः, एकस्या एव वृत्तेरेतावद्दूरमवस्थानाऽसंभवेन तदभावात्, भावे चोक्तविवादगोचरत्वाभावेन पक्षताया अभावात्। न च घटादिज्ञाने स्वविषयस्य घटादेर्जडत्वेन तदावरणाभावाद् बाधः, घटावच्छिन्नचैतन्यस्यैव वृत्तिरूपघटादिज्ञानविषयत्वात्, अज्ञानेन तत्रावरणजननात्, अज्ञानविषयत्ववज्ज्ञानेनापि तत्रैव तन्निवृत्तिजननाज्ज्ञानविषयत्वोपपत्तेः, ज्ञाना-ऽज्ञानयोः समानविषयत्वप्रसिद्धेः, अदूरविप्रकर्षेण घटादेरुभयविषयत्वव्यपदेशात्। नाप्यनुमितिज्ञाने बाधः, तस्याप्यज्ञाननिवर्तकत्वात्। न च परोक्षज्ञानादज्ञाननिवृत्तावपरोक्षभ्रमनिवृत्तिप्रसङ्गः, इष्टापत्तेः, 'रज्जुरियं न सर्पः' इत्याप्तोपदेशे तद्दर्शनात्।

[धारावाहिक ज्ञानस्थल में बाध का निवारण]

धारावाहिकज्ञानस्थल में द्वितीयादिज्ञान में भी बाध नहीं हो सकता, क्योंकि वेदान्तमत में एक ही अर्थाकारवृत्ति का लम्बे समय तक अवस्थान सम्भव होने से उस मत में धारावाहिक ज्ञान का अभाव है। यदि हो तो भी धारावाहिक स्थल में द्वितीय विज्ञान में वेदान्ती को भी अज्ञानपूर्वकत्व मान्य न होने से वह विवाद का गोचर नहीं है। अतः वह पक्षान्तर्गत ही नहीं है। यदि यह कहा जाय कि–'घटादि ज्ञान में बाध होगा क्योंकि उसका विषय घटादि जड़ है अत एव उसमें आवरण नहीं है। अतः स्वपद से घटादि ज्ञान को लेने पर स्वविषयावरण की प्रसिद्धि न होने से अन्यत्र प्रसिद्ध स्वविषयावरणघटित साध्य का घटादिज्ञान में अभाव है।'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि घटावच्छिन्न चैतन्य ही वृत्तिरूप घटादिज्ञान का विषय होता है और उसका अज्ञान से आवरण होता है। अतः स्वपद से घटादिज्ञान को पकड़ने पर स्वविषयावरण की अप्रसिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि घटावच्छिन्न चैतन्य जैसे अज्ञान का विषय होता है उसी प्रकार घटादिज्ञान का भी विषय होता है; ज्ञान से उसी में अज्ञान की निवृत्ति होती है, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान में समानविषयकत्व का नियम है। अज्ञान एवं वृत्तिरूप ज्ञान का घटादि साक्षात् विषय नहीं होता किन्तु उसके विषयभूत चैतन्य से अदूरविप्रकृष्ट यानी संनिहित होने से उसमें उभयविषयत्व का व्यवहार होता है।

[अनुमितिज्ञान में बाध निवारण]

अनुमितिरूपज्ञान में भी बाध नहीं हो सकता, क्योंकि यह भी अनुमीयमान वस्तु में असत्त्वापादक अज्ञान का निवर्तक होता है, अतः उसमें उक्त अन्यवस्तु पूर्वकत्वरूप साध्य विद्यमान होता है। आशय यह है कि अज्ञान के दो भेद हैं–(१) असत्त्वापादक अज्ञान और (२) अभानापादक अज्ञान। पहले अज्ञान से 'नास्ति' इस व्यवहार का जन्म होता है और दूसरे से 'न भाति' इस व्यवहार का जन्म होता है। इनमें प्रथम अज्ञान की निवृत्ति अनुमिति आदि परोक्षज्ञान से भी होती है और द्वितीय अज्ञान की निवृत्ति प्रत्यक्षज्ञान से ही होती है। इसीलिये अनुमिति के पूर्व जो 'पक्षे साध्यं नास्ति' यह व्यवहार होता है वह अनुमिति के बाद नहीं होता, क्योंकि अनुमिति से उस व्यवहार का प्रयोजक अज्ञान नष्ट हो जाता है। 'पक्षे साध्यं न भाति' यह व्यवहार तभी अवरुद्ध होता है जब प्रत्यक्ष द्वारा अभानापादक अज्ञान की निवृत्ति हो। प्रत्यक्षज्ञान से दोनों ही प्रकार के अज्ञान की निवृत्ति होती है, इसलिये भूतल

में घटादि प्रत्यक्ष होने पर 'भूतले घटोनास्ति, भूतले घटो न भाति' दोनों ही व्यवहारों का प्रतिरोध हो जाता है। इस प्रकार अनुमिति रूप ज्ञान में भी अज्ञाननिवर्त्तकता होने से बाध नहीं होता।

इस पर यह शंका हो सकती है कि–'यदि परोक्षज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होगी तो परोक्षज्ञान से अपरोक्षभ्रमात्मक प्रत्यक्षविषयीभूत अधिष्ठान में प्रत्यक्षयोग्यवस्तु के भ्रम की निवृत्ति का प्रसंग होगा, क्योंकि भ्रम के उपादानभूत अज्ञान का नाश होने पर भ्रम का अवस्थान सम्भव नहीं हो सकता।''–किन्तु यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि 'रज्जुरियं न सर्पः' इस आप्तवचन से 'यह रज्जु है सर्प नहीं है' ऐसा परोक्षज्ञान होने पर रज्जु में सर्पभ्रान्ति की निवृत्ति होने से उक्त प्रसङ्ग को इष्टापत्तिरूप में स्वीकृत किया जा सकता है।

न च 'पीतः शङ्खः' इत्यादौ श्वैत्यानुमित्या तदज्ञाने नष्टे भ्रमनिवृत्तिप्रसङ्गः, अस्य भ्रमस्य सोपाधिकत्व उपाधेरेवाज्ञाननिवृत्तौ प्रतिबन्धकत्वात्। यदि च रविरश्मिभिः सह पित्त-धातोः शङ्खदेशं यावद् गमने शङ्खसंपृक्तस्य च तस्य चाक्षुषयोग्यत्वे दोषवशेन च द्रव्या-ऽग्रहेणेऽपि रूपमात्रग्रहणे मानाभावाद् गौरवाच्च, भ्रमस्य च पीतत्वसंस्कारादेव पित्तदोषसहिता-दुपपत्तेर्नायं पित्तोपाधिकः, तदा पित्तदोषस्यैव तथात्वादिति। रजतज्ञानेऽपि न बाधः, तस्य सुखादिज्ञानवत् पक्षत्वाभावात्।

['पीतः शंखः' भ्रम के उच्छेद की शंका का निवारण]

यदि यह कहा जाय कि–'परोक्षज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति मानने पर 'पीतः शंखः' इस भ्रमस्थल में शंख में श्वैत्य की अनुमिति से श्वैत्य के अज्ञान का नाश होने पर 'पीतः शंखः' इस भ्रम की निवृत्ति का प्रसङ्ग होगा।'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि शंख में पीतत्व का भ्रम सोपाधिक है अतः उक्त स्थल में उस भ्रम की प्रयोजक उपाधि ही अज्ञाननिवृत्ति में प्रतिबन्धक हो जाती है। इस पर यदि यह कहा जाय कि-'उक्त भ्रम पीतद्रव्योपाधिक नहीं है अपितु निरुपाधिक है, क्योंकि वह भ्रम पीतदोष सहकृत पीतत्वविषयक संस्कार से ही उत्पन्न होता है। यदि वह इसलिये होता हो कि सूर्य से अधिष्ठित चक्षुरश्मिओं के साथ नेत्रगत पित्तधातु शंख देश में जाकर शंख पर आवृत होता है और उसके चाक्षुष योग्य होने पर भी दोषवश द्रव्यांश का ग्रह न होकर शंख में केवल उसके रूपमात्र का ग्रहण होता है–तो इस बात में कोई प्रमाण नहीं है और गौरव भी है।''–तो इस कथन से भी उक्त आपत्ति का समर्थन नहीं हो सकता क्योंकि पित्तदोष ही अज्ञान की निवृत्ति में प्रतिबन्धक है। शुक्तिरजतज्ञान में भी बाध नहीं हो सकता, क्योंकि सुखादिज्ञान के समान विवाद का विषय न होने से उसका भी पक्ष में अन्तर्भाव नहीं होता।

साध्ये ज्ञानप्रागभावव्यावृत्त्यर्थमाद्यं विशेषणम्। न च स्वनिवर्त्यपदेन तद्व्यावृत्तिः, तन्निवृत्तेः स्वानतिरेकादिति वाच्यम्, 'सादिरनन्तो ध्वंसः' इति मते तदतिरेकात्। उत्तरज्ञान-निवर्त्यपूर्वज्ञानेन भिन्नविषयेण सिद्धसाधनवारणाय स्वविषयावरणेति। यस्मिन् सति ज्ञान-विषयो न स्फुरति तत् स्वविषयावरणम्, न च पूर्वज्ञानं तथा, तस्योत्तरज्ञानविषयस्फुरणाभावा-प्रयोजकत्वात्। असंभावनाविपरीतभावनात्मकादृष्टव्यावृत्तये तृतीयं विशेषणम्। प्रमातृनिष्ठाऽ-

ज्ञानसिद्धयर्थं 'स्वदेशगते'ति । मिथ्याज्ञानं व्यावर्तयितुं 'वस्त्वन्तरे'ति । हेतावपि द्वितीयादिधारावाहिकज्ञाने व्यभिचारवारणाय 'अप्रकाशिते'ति । अप्रकाशितप्रकाशशब्देन स्वविषयावरणनिवृत्तिरूपो व्यवहारो विवक्षितः, न च धारावाहिकद्वितीयादिज्ञाने तद्धेतुत्वमस्ति, स्वविषयावरणनिवृत्तेराद्यज्ञानकार्यत्वात् ।

['स्वप्रागभावव्यतिरिक्त' विशेषण की सार्थकता]

ज्ञानप्रागभाव को लेकर सिद्धसाधन अथवा अर्थान्तर का वारण करने के लिये साध्य में आद्यविशेषण 'स्वप्रागभावव्यतिरिक्तत्व' का निवेश किया गया है। यदि यह कहा जाय कि–"स्वनिवर्त्य पद से ही उसकी व्यावृत्ति हो जायगी क्योंकि प्रमाणज्ञान के प्रागभाव की निवृत्ति प्रमाणज्ञान से भिन्न नहीं किंतु तद्रूप ही है, अतः स्वजन्यनिवृत्तिप्रतियोगित्वरूप 'प्रमाणज्ञान से निवर्त्यत्व' उस के प्रागभाव में नहीं रहेगा"–तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि 'ध्वंस सादि=जन्य और अनन्त=अविनाशी होता है।' इस मत में प्रमाणज्ञान के प्रागभाव की निवृत्ति प्रमाणज्ञानस्वरूप नहीं हो सकती, क्योंकि प्रमाणज्ञान विनाशी है। अतः स्वनिवर्त्य पद से प्रागभाव का व्यवच्छेद सम्भव न होने से आद्य विशेषण का उपादान आवश्यक है। 'विभु के प्रत्यक्षयोग्य विशेषगुण स्वोत्तरवर्ती गुण से नाश्य होते हैं' इस सिद्धान्त के अनुसार भिन्नविषयक पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान से निवर्त्य होता है अतः प्रमाणज्ञान के पूर्वज्ञान को लेकर सिद्धसाधन का वारण करने के लिये 'स्वविषयावरण' विशेषण दिया गया है। इस विशेषण के देने से पूर्वज्ञान का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि जिसके रहने पर जिस ज्ञान के विषय का स्फुरण नहीं होता वही उस ज्ञान के विषय का आवरण होता है। पूर्वज्ञान उत्तरज्ञान के विषय का आवरण नहीं होता क्योंकि वह उत्तरज्ञान के विषय के स्फुरणाभाव का प्रयोजक नहीं होता।

['स्वनिवर्त्य' विशेषण की सार्थकता]

असम्भावना प्रयोजक एवं विपरीत भावनाजनक अदृष्ट की व्यावृत्ति के लिये तीसरा विशेषण 'स्वनिवर्त्यत्व' का उपादान किया गया है। इसका निवेश न करने पर 'तादृश अन्य वस्तु' पद से असम्भावना प्रयोजक और विपरीतभावना के जनक अदृष्ट को पकड़ा जा सकता है। किन्तु वह भी असम्भावना-विपरीतभावना के द्वारा प्रमाणज्ञान के विषय का आवरण होता है, तथा प्रमाणज्ञान के प्रागभाव से व्यतिरिक्त और प्रमाणज्ञान का समानाधिकरण होता है। अतः प्रमाणज्ञान में तत्पूर्वकत्व रहने से सिद्धसाधन दोष की प्रसक्ति हो सकती है। किन्तु, स्वनिवर्त्यत्व विशेषण देने पर यह दोष नहीं होगा, क्योंकि अदृष्ट स्वकार्य से निवर्त्य होने के कारण उक्त अदृष्ट प्रमाणज्ञान से निवर्त्य नहीं होता।

['स्वदेशगत' विशेषण की सार्थकता]

साध्य में 'स्वदेशगतत्व=स्वसामानाधिकरण्य' विशेषण इसलिये दिया गया है, जिससे प्रमाता में अज्ञान की सिद्धि हो। अन्यथा 'स्वप्रागभावव्यतिरिक्त स्वविषयावरण स्वनिवर्त्य अन्य वस्तु' शब्द से विषयचैतन्यगत अज्ञान को लेकर साध्यसिद्धि का पर्यवसान हो जाने से प्रमातृगत अज्ञान की सिद्धि अवरुद्ध हो सकती है। वस्त्वन्तर (अन्य वस्तु) शब्द न देने पर मिथ्याज्ञानपूर्वकत्व को लेकर सिद्धसाधन अथवा अर्थान्तरदोष की प्रसक्ति हो सकती है। किन्तु वस्त्वन्तर (अन्य वस्तु) विशेषण देने

पर यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि 'वस्त्वन्तर' शब्द का अर्थ है वस्तुभिन्न वस्तुसदृश। प्रकृत में वस्तु है प्रमाणज्ञान। वह होता है ब्रह्मज्ञानेतराबाध्य। अत एव उससे भिन्न ब्रह्मज्ञानेतराऽबाध्यत्वेन तत्सदृश ही वस्त्वन्तर शब्द का पर्यवसित अर्थ होता है ब्रह्मज्ञानेतराबाध्य। मिथ्याज्ञान अधिष्ठानज्ञान से बाध्य होने के कारण ब्रह्मज्ञानेतराबाध्य नहीं होता। अतः 'वस्त्वन्तर' शब्द से उसका परिहार हो सकता है।

['अप्रकाशित' विशेषण की सार्थकता]

हेतुदल में 'अप्रकाशितत्व' विशेषण न देने पर धारावाहिक ज्ञानस्थल में द्वितीयादि विज्ञान में हेतु में साध्य का व्यभिचार हो जायगा। अतः उसका वारण करने के लिये उक्त विशेषण का उपादान किया गया है। यदि यह शंका की जाय कि-'धारावाहिकज्ञान स्थलीय द्वितीयादिज्ञान भी जिस अर्थ का प्रकाशक होता है वह पूर्वज्ञान के पहले अप्रकाशित रहता है अत एव अप्रकाशितत्वघटित हेतु में भी उक्त ज्ञान से साध्य का व्यभिचार होगा'-तो इसका उत्तर यह है कि-'अप्रकाशितार्थप्रकाश'शब्द से स्वविषयावरणनिवृत्तिरूप व्यवहार विवक्षित है। धारावाहिकज्ञानस्थलीय द्वितीयादिज्ञान में स्वविषयावरणनिवृत्ति की कारणता नहीं है क्योंकि उक्त निवृत्ति आद्यज्ञान का ही कार्य होती है। अतः उक्त ज्ञान में व्यभिचार नहीं हो सकता।

न च हेत्वसिद्धिः, साध्योपात्तस्वविषयावरणनिवृत्तेरप्रकाशितार्थव्यवहारशब्देनाऽविवक्षितत्वात्। न च चक्षुरादौ व्यभिचारः, तस्य ज्ञानजननेनान्यथासिद्धत्वात्। न च साधनवैकल्यं दृष्टान्तस्य, स्वविषयावरणान्धकारनिवृत्तिहेतुत्वात्। न च सुखादिज्ञाने व्यभिचारः, तस्य स्वविषयावरणनिवृत्तिहेतुत्वाभावात्। न च स्मृतौ व्यभिचारः, तस्याः स्मृतिप्रागभावरूपस्वविषयावरणनिवर्तकत्वादिति वाच्यम्, तस्य स्वविषयावरणत्वाभावात्, तत्सत्त्वेऽप्यनुभवदशायां तद्विषयस्फुरणात्।

[हेतु-असिद्धि की शंका का निवारण]

यदि यह कहा जाय कि-'उक्त अनुमान से पूर्व प्रमाणज्ञान के विषय का अज्ञानात्मक आवरण सिद्ध न होने से स्वविषयावरणनिवृत्तिजनकस्वरूपहेतु असिद्ध है।''-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि साध्यकुक्षि में प्रविष्ट स्वविषयावरण की निवृत्ति अप्रकाशितार्थप्रकाशशब्द से विवक्षित नहीं है। अतः मिथ्याज्ञानात्मक आवरण को लेकर पक्ष में 'स्वविषयावरणनिवृत्तिजनकत्व' गृहीत हो सकता है। यदि यह शंका की जाय कि-'साध्यकुक्षि में 'स्वविषयावरण' शब्द से मिथ्याज्ञान अथवा चाक्षुषप्रागभाव को लेकर स्वविषयावरणनिवृत्तिजनकत्वरूप हेतु चक्षु आदि में भी है किन्तु उसमें उक्त अन्य वस्तु पूर्वकत्वरूप साध्य नहीं है, अतः चक्षु आदि अर्थ में उक्त साध्य का व्यभिचार होगा''-तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षु आदि अर्थज्ञान को उत्पन्न कर चरितार्थ हो जाने से अर्थावरण की निवृत्ति के प्रति अन्यथासिद्ध हो जाता है। अतः उसमें स्वविषयावरणनिवृत्तिजनकत्व न रहने से व्यभिचार नहीं हो सकता।

[दृष्टान्त में हेतु-असिद्धि शंका का निवारण]

यदि यह शंका की जाय कि-'चक्षु आदि में व्यभिचार का वारण करने के लिये यदि उक्त-

रीति से हेतु का असत्त्व माना जायगा तो प्रदीपप्रभारूप दृष्टान्त में भी साधन का अभाव होगा, क्योंकि प्रदीपप्रभा भी अर्थज्ञान को उत्पन्न कर अर्थावरणनिवृत्ति के प्रति अन्यथासिद्ध हो जाती है।"–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वह स्वविषय के अन्धकाररूपावरण की निवृत्ति का हेतु है। यदि यह कहा जाय कि–'सुखादि की अज्ञात सत्ता न होने से, सुखादिज्ञान में उक्त साध्य न रहने से, उसमें उक्त हेतु साध्य का व्यभिचारी होगा'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें स्वविषयावरण-निवृत्तिजनकत्वरूप हेतु ही नहीं है, क्योंकि उसका विषयभूत सुख आवृत नहीं होता।

[स्मृतिस्थल में अनैकान्तिक दोष का निवारण]

यदि यह कहा जाय कि 'स्मृति में स्वविषय के स्मृतिप्रागभावरूप आवरण की निवर्तकता होने से उक्त हेतु स्मृति में है, किन्तु स्मृतिविषय के आवारक अज्ञान की अनुभव से ही निवृत्ति हो जाने के कारण उसमें उक्त वस्त्वन्तरपूर्वकत्वरूप साध्य नहीं है अतः उसमें हेतु साध्य का व्यभिचारी हो जायगा'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि स्मृतिप्रागभाव स्मृतिविषय का आवरण नहीं है। क्योंकि आवरण का निर्वचन यह किया गया है कि जिसके रहने पर जिस ज्ञान के विषय का स्फुरण नहीं होता वह उस ज्ञान के विषय का आवरण होता है। यह लक्षण स्मृतिप्रागभाव में नहीं घटता, क्योंकि अनुभव-दशा में स्मृतिप्रागभाव के रहने पर भी भावी स्मृति के विषय का अनुभवमहिमा से स्फुरण होता है। अत एव स्मृति में स्वविषयावरणनिवर्तकत्वरूप हेतु न होने से व्यभिचार नहीं हो सकता।

न चैवं प्रमाणज्ञानप्रागभावस्यापि स्वविषयावरणत्वाभावात् तद्व्यावृत्त्यर्थस्याद्यविशेषणस्य वैयर्थ्यम्, अत्यन्तापूर्वार्थज्ञानप्रागभावस्य तथात्वात्। आद्यज्ञानस्य पक्षत्वाद् न तत्र व्यभिचारः। हेतुत्वं च पुष्कलहेतुत्वम्, तेन नेश्वरादौ प्रतियोगिनि चावरणे व्यभिचारः। न चाऽसंभावनादिनिवर्तके श्रवणादौ व्यभिचारः, असंभावनादेः स्वविषयावरणत्वे साध्यसद्भावात्। न च तेनैव सिद्धसाधनम्, तस्य ज्ञानाऽनिवर्त्यत्वात्। दृष्टान्तेऽपि सवितृकिरणस्थासु द्वितीयाद्यासु च दीपप्रभासु साध्यसाधनवैकल्यपरिहाराय विशेषणद्वयोपादानम्–"

इति स्वगृहविचारपरिष्कृतमनुमानमपास्तम्।

[आद्यविशेषण व्यर्थ होने की शंका का निवारण]

इस पर यदि यह कहा जाय कि–'तब तो इसी रीति से प्रमाणज्ञान का प्रागभाव भी उसके विषय का आवरण नहीं होगा, अतः उसकी व्यावृत्ति के लिये आद्यविशेषण का उपादान व्यर्थ है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जो अर्थ जिस प्रमाणज्ञान के पूर्व कभी गृहीत नहीं है उस अर्थ के ज्ञान का प्रागभाव उक्त रीति से स्वविषयावरण हो सकता है। क्योंकि उस ज्ञान के प्रागभावकाल में उस ज्ञान के विषय का स्फुरण कभी नहीं होता। अतः उस प्रागभाव की व्यावृत्ति के लिये प्रथम विशेषण की सार्थकता संगत है। यदि यह शंका की जाय कि–'आद्यज्ञान में हेतु में साध्य का व्यभिचार होगा, क्योंकि आद्यज्ञान के प्रागभावकाल में उसके विषय का स्फुरण नहीं होता अतः उसका प्रागभाव स्वविषय का आवरण है, अत एव आद्यज्ञान में स्वविषयावरणनिवृत्तिजनकत्वरूप हेतु है, किन्तु साध्य नहीं है'–तो यह ठीक नहीं क्योंकि आद्यज्ञान भी पक्षान्तर्गत है अत एव उसमें व्यभिचार का निरूपण नहीं हो सकता।

[हेतुत्व चरमकारणत्वरूप होने से व्यभिचार निरवकाश]

अनुमापक हेतु में प्रविष्ट हेतुत्व पुष्कलहेतुत्व=चरमकारणत्वरूप है। अतः कार्यमात्र के प्रति कारण होने से स्वविषयावरणनिवृत्ति धर्मभूत ईश्वरादि में और प्रतियोगिविधया स्वविषयावरणनिवृत्ति के प्रतियोगीभूत ईश्वरादि में और प्रतियोगिविधया स्वविषयावरणनिवृत्ति के प्रतियोगीभूत आवरण में साध्य का व्यभिचार नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें स्वविषयावरण-निवृत्ति का चरमकारणत्वरूप हेतु नहीं है। यदि यह शंका की जाय कि 'आत्मा का श्रवण-मननादि आत्मविषयक असम्भावनादि का निवर्तक होने से स्वविषयावरणनिवृत्ति का जनक है, किन्तु साध्य उसमें नहीं है। उसके विषयभूत आत्मा के अज्ञान की निवृत्ति आत्मदर्शन से ही साध्य होने के कारण उसमें उक्त साध्य नहीं है, अतः उसमें हेतु साध्य का व्यभिचार होगा''– तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि असम्भावनादि यदि श्रवणादि के विषय का आवरण है तो उसी को लेकर उक्त वस्त्वन्तरपूर्वकत्वरूप साध्य भी उसमें रहेगा। यदि वह स्वविषयक आवरण नहीं होगा तो श्रवणादि में स्वविषयक आवरणनिवृत्तिजनकत्वरूप हेतु का अभाव होगा।

['वस्त्वन्तर' शब्द से असम्भावनादि के ग्रहण पर सिद्धसाधन]

यदि यह कहा जाय कि–"तादृश वस्त्वन्तरशब्द से असम्भावनादि को लेकर प्रमाणज्ञान में उक्त साध्य सिद्ध होने से सिद्धसाधन होगा"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि असम्भावनादि की प्रमाण-ज्ञानमात्र से निवृत्ति न होने के कारण 'स्वनिवर्त्यतादृशवस्त्वन्तर' शब्द से असम्भावनादि का ग्रहण नहीं हो सकता। श्रवणादिरूप प्रमाणज्ञान में असम्भावनादि को लेकर उक्त साध्य की सिद्धि होने पर भी सिद्ध साधन नहीं हो सकता क्योंकि प्रमाणज्ञानसामान्य में साध्यसिद्धि उद्देश्य है।

दृष्टान्तभूत प्रदीपप्रभा में 'अन्धकार' शब्द से जो अन्धकार का समानदेशकालस्थत्वरूपविशेषण और प्रथमोत्पन्नत्वरूपविशेषण दिया गया है, यदि उन विशेषणों को न दिया जाय तो सूर्यप्रकाशस्थ दीपप्रभा और द्वितीयतृतीयदीपप्रभा भी दृष्टान्तान्तर्भूत होगी, तो अन्धकार को लेकर उनमें तादृश-वस्त्वन्तरपूर्वकत्वरूप साध्य के न रहने से दृष्टान्त में साध्यवैकल्य होगा। तथा उनमें सूर्यप्रकाश और प्रथमदीपप्रभा से प्रकाशित ही अर्थ का प्रकाशत्व होने से अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वरूपसाधन का भी अभाव होगा। अतः साध्य-साधन के इन अभावों के परिहार के लिये प्रदीपप्रभारूप दृष्टान्त में उक्त विशेषणद्वय का उपादान किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त महाविद्या अनुमान से वेदान्तीओं द्वारा अज्ञान का साधन किया जाता है।

निरुक्तस्वविषयावरणत्वस्वनिवर्त्यत्वाभावेनास्माद् मूलाज्ञानस्यासिद्धेः, विशिष्टतथात्वस्य चातिप्रसक्तत्वात्, तूलाज्ञानसाधनेऽपि स्वैत्यानुमित्यादेः पक्षीकरणे बाधात्, तद्बहिर्भावे च व्यभिचारात्। तत्पक्षीकरणेऽपि 'असति स्वनिवृत्तिप्रतिबंधके तद्विषयस्फुरणाभावप्रयोजकत्वं तद्विषयावरणत्वम्' इत्युक्तौ न दोष इत्यस्यापि येषां पक्षीकृतज्ञानानामावारके स्वनिवृत्तिप्रति-बन्धकाऽसिद्धिः तत्र साध्याऽसिद्ध्या वक्तुमशक्यत्वात्।

[महाविद्या का अनुमान दोषपरम्पराग्रस्त-उत्तरपक्ष]

इस अनुमान के विरुद्ध व्याख्याकार श्री यशोविजय उपाध्याय का कहना है कि अनुमान का यह परिष्कृतरूप वेदान्तीओं के अपने गृह के भीतर किये गये विचार का फल है किन्तु अन्य विद्वानों के साथ विचार होने पर यह अनुमान विविध दोषों से ग्रस्त होने के कारण निरस्त हो जाता है।

वह इसलिये कि मूलाज्ञान के रहते हुये भी प्रमाण से घटादिज्ञान उत्पन्न होने पर उसके विषय घटादि का स्फुरण होता है, अतः मूलाज्ञान में स्वविषय आवरण के उक्त निर्वचनानुसार मूलाज्ञान घटादिज्ञान के विषय का आवरण नहीं होता। एवं ब्रह्मज्ञान से ही मूलाज्ञान की निवृत्ति होने से वह घटादिज्ञान से निवर्त्य भी नहीं होता। अतः स्वविषयावरण एवं स्वनिवर्त्य तादृश-वस्त्वन्तर शब्द से मूलाज्ञान का ग्रहण शक्य न होने से घटादिज्ञानरूप प्रमाणज्ञानपक्षक इस अनुमान से मूलाज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती।

[विशेषणभेद करने पर अतिप्रसंग]

यदि यह कहा जाय कि-"अज्ञान मूलतः एक है। वही अनवच्छिन्न ब्रह्मविषयक होने से 'मूलाज्ञान' और घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक होने से 'घटादिविषयक अज्ञान' कहा जाता है और विशेषणभेद से विशिष्ट में भेद नहीं होता। इसलिये घटादिज्ञान के विषयावरण और घटादिज्ञान से निवर्त्यरूप में घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यविषयक अज्ञान का ग्रहण होने से मूलाज्ञान का भी ग्रहण हो सकता है अत एव इस अनुमान से मूलाज्ञान की असिद्धि की शंका नहीं की जा सकती" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि विशेषणभेद से विशिष्टों में भेद न होने के आधार पर मूलाज्ञान को घटादिज्ञान के विषय का आवरण और घटादिज्ञान से निवर्त्य माना जायगा तो पटादि के अज्ञान में भी घटज्ञान के विषय के आवरणत्व और घटज्ञान से निवर्त्यत्व की अतिप्रसक्ति होगी। अतः इस रीति से प्रस्तुत अनुमान द्वारा मूलाज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती।

[तुलाज्ञान विशिष्ट चैतन्यविषयक अज्ञान की असिद्धि]

एवं उक्त अनुमान से 'तुलाज्ञान'अवच्छिन्न चैतन्यविषयक अज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि शंख में श्वैत्य की अनुमिति आदि का पक्ष में अन्तर्भाव करने पर बाध होगा, क्योंकि श्वैत्य के अज्ञान को लेकर उक्त अनुमिति में वह साध्य नहीं रहेगा। उस अनुमिति के होने पर भी पीतदोषवश 'शंखो न श्वेतः' यह बुद्धि होती है, अतः यह सिद्ध है कि उससे श्वैत्य के अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती। अतः उक्त वस्त्वन्तर शब्द से श्वैत्य के अज्ञान को लेकर उक्त अनुमिति में वह साध्य नहीं रहेगा।

यदि उसे पक्षबहिर्भूत कर दे तो उसमें उक्त हेतु में साध्य का व्यभिचार होगा। क्योंकि श्वैत्यानुमिति में प्रागभावरूप स्वविषयावरण को लेकर स्वविषयावरणनिवृत्तिजनकस्वरूप हेतु रहता है किन्तु उक्त साध्य नहीं रहता। इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि-"श्वैत्यानुमिति को पक्ष में अन्त-र्भूत करने पर भी बाध नहीं होगा क्योंकि साध्य की कुक्षि में स्वनिवृत्ति के प्रतिबन्धकाभाव विशिष्ट-स्वविषयावरण में स्वनिवर्त्यत्व के निवेश से उक्त अनुमिति में साध्य का सद्भाव उपपन्न हो सकता है, क्योंकि अनुमिति के विषयीभूत श्वैत्य का आवरणभूत अज्ञान अपनी निवृत्ति के प्रतिबन्धक पीतदोष के रहने से ही उक्तानुमिति से निवर्त्य नहीं होता, किन्तु उक्तप्रतिबन्धकाभाव होने पर

उससे निवृत्त होता है अतः उक्तानुमिति में 'स्वप्रागभाव व्यतिरिक्त स्वनिवर्त्य-स्वनिवृत्तिप्रतिबन्धकाभावविशिष्ट स्वविषयावरणस्वदेशगत वस्त्वन्तरपूर्वकत्व' है।"–किन्तु यह कथन भी शक्य नहीं है, क्योंकि पक्षान्तर्गत जिन ज्ञानों के विषयावरण की निवृत्ति का प्रतिबन्धक असिद्ध है उन ज्ञानों में उक्त साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

हेतोरपि स्वविषयावरणनिवर्तकत्वरूपस्योपादानेऽसिद्धेः, अप्रकाशितप्रकाशशब्देन तदुपादानेऽपि तदपरिहारात्, न खलु शब्दान्तरोपादानेनाप्याच्छादनं भवति। स्वविषयावरणनिवर्त्तकत्वव्यपदेशविषयत्वस्य हेतुत्वे तु सुखादिज्ञाने द्वितीयादिधारावाहिकेषु च मिथ्याज्ञाननिवर्तकत्वव्यपदेशविषयेषु व्यभिचारो दुर्निवारः।

[अज्ञानसाधक अनुमान में हेतु-असिद्धि]

अज्ञान की सिद्धि के लिये अपेक्षित हेतु के विषय में भी विचार करने पर उक्तानुमान निर्दोष नहीं प्रतीत होता, क्योंकि यदि स्वविषयावरणनिवर्त्तकत्वरूप हेतु का उपादान किया जायगा तो पक्ष में हेतु का अभावरूप हेत्वसिद्धि होगी। क्योंकि प्रमाणज्ञान के विषय का कोई ऐसा आवरण सिद्ध नहीं है–जिसका प्रमाणज्ञान निवर्त्तक हो। स्वविषयावरणशब्द से प्रमाणज्ञान के प्रागभाव को लेकर हेतु-असिद्धि का परिहार नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रागभाव भी सर्वमान्य न होने से विवादग्रस्त है एवं प्रमाणज्ञान के प्रागभाव की निवृत्ति प्रमाणज्ञानस्वरूप है, अतः प्रमाणज्ञान में उसकी जनकता सम्भव न होने से स्वप्रागभाव द्वारा स्वविषयावरणनिवर्त्तकत्वरूप हेतु की सिद्धि सम्भव नहीं हो सकती। मिथ्याज्ञान को भी 'स्वविषयआवरण' शब्द से ग्रहण कर हेतु-असिद्धि का परिहार नहीं किया जा सकता क्योंकि मिथ्याज्ञान वस्तु दोषावृत होने से उत्पन्न होता है, अतः मिथ्याज्ञान के लिये आवरण अपेक्षित होने से मिथ्याज्ञान को विषय का आवारक नहीं कहा जा सकता। जिस दोष से आवृत वस्तु में मिथ्याज्ञान होता है, वह दोष स्वविषयावरण अवश्य है किन्तु प्रमाणज्ञान उसका निवर्त्तक नहीं है, क्योंकि प्रमाणज्ञान की उत्पत्ति उसकी निवृत्ति होने पर होती है। अतः प्रमाणज्ञान में स्वविषयावरणनिवर्त्तकत्वरूप हेतु की असिद्धि अनिवार्य है।

[हेतु-अप्रसिद्धि की आपत्ति]

'अप्रकाशितार्थ प्रकाश' शब्द से हेतु का उपादान करने पर भी दोष का परिहार नहीं हो सकता, क्योंकि उसका यथाश्रुत अर्थ लेने पर ज्ञानविषयत्वरूप प्रकाशितत्व केवलान्वयि होने से अप्रकाशितार्थ की अप्रसिद्धि होने से हेतु की अप्रसिद्धि होगी। यदि 'स्व के पूर्व स्वाश्रय को अप्रकाशित' यह अर्थ किया जायगा तो धारावाहिक द्वितीयादिज्ञान में व्यभिचार होगा। क्योंकि प्रथमज्ञान का पूर्वकाल द्वितीयादि ज्ञान का भी पूर्वकाल है और उस पूर्वकाल में उसका विषयभूत अर्थ उसके आश्रय प्रमाता को अप्रकाशित है। यद्यपि इसका परिहार स्वाव्यवहित पूर्व कह देने से हो सकता है, किन्तु स्वत्व के अननुगत होने से तद्घटित हेतु सर्वपक्षसाधारण न हो सकने से भागाऽसिद्धि होगी। यदि 'अप्रकाशितार्थप्रकाश' शब्द से भी स्वविषयावरणनिवर्त्तकत्व का ही उपादान किया जायगा तो स्वविषयावरणनिवर्त्तकत्व से शब्द से उस हेतु का प्रयोग करने पर जो हेतु-असिद्धि बतायी गयी है उसका परिहार न होगा क्योंकि अर्थ में भेद न होने पर केवल शब्द परिवर्तन कर देने से उस अर्थ के ग्रहण से प्रसक्त होने वाले दोष का आच्छादन-निराकरण नहीं होता।

यदि यह कहा जाय कि-"स्वविषयावरणनिवर्त्तकत्वव्यवहारविषयत्व को हेतु मानने पर उक्त दोष नहीं हो सकता, क्योंकि 'प्रमाणज्ञान स्वविषयावरणनिवर्त्तक होता है'-यह व्यवहार लोकसिद्ध है।"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि उक्त हेतु सुखादिज्ञान में तथा द्वितीय-तृतीयादि धारावाहिकज्ञान में भी रहता है। अतः उक्तज्ञानों में हेतु में साध्य के व्यभिचार का वारण अशक्य होगा।

दृष्टान्तेऽपि साध्यगतज्ञानविषयतायाः प्रमाविषयतासाधारणत्वाभावेन साध्यवैकल्यम्। उपाधिश्चात्राऽचेतनत्वादि। न चात्रानुकूलतर्कोऽपि कश्चिदस्ति, अप्रकाशितार्थप्रकाशकेऽपि प्रकाशितार्थप्रकाशक इवोक्तवस्त्वन्तरपूर्वकत्वं विनापि विषयस्फोरकत्वोपपत्तेराद्यत्वस्य चाऽनियम्यत्वादिति न किञ्चिदेतत्।

[दृष्टान्त में साध्यासिद्धि दोष]

दृष्टान्त सम्बन्ध में विचार करने पर वह भी असङ्गत प्रतीत होता है क्योंकि साध्य में स्वविषयावरण के गर्भ में स्वविषयता शब्द से ज्ञानविषयता प्रविष्ट है और वह प्रमाविषयता साधारण यानी प्रमाविषयता की सधर्मा नहीं है अतः दृष्टान्त में साध्य का अभाव है। इन सब दोषों के अतिरिक्त उक्त हेतु में अचेतनत्व अथवा प्रमातृवृत्तित्वाभावरूप उपाधि भी है, क्योंकि दृष्टान्त में जहाँ साध्य सिद्ध है वहाँ अचेतनत्व विद्यमान होने से वह साध्य का व्यापक है और साधन के आश्रयभूतपक्ष में विद्यमान न होने से साधन का अव्यापक है। उक्त दोषों के अतिरिक्त उक्तानुमान में अनुकूल-तर्क=व्यभिचारशंकानिवर्तक तर्क का अभाव भी है। क्योंकि जैसे प्रकाशितार्थ प्रकाशक धारावाहिक स्थलीय द्वितीयादिज्ञान उक्त वस्त्वन्तरपूर्वकत्व के बिना भी अपने विषयस्फुरण का प्रयोजक होता है उसी प्रकार अप्रकाशितार्थ का प्रकाशकज्ञान भी उक्त साध्य के बिना अपने विषय के स्फुरण का प्रयोजक हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि-'आद्यविषयस्फुरणप्रयोजकत्व-अनुकूल तर्क हो सकता है। अर्थात् उक्त हेतु में, प्रमाणज्ञान अप्रकाशितार्थ का प्रकाशक हो किन्तु उक्त वस्त्वन्तरपूर्वक न हो इस शंका की निवृत्ति के लिये इस प्रकार तर्क प्रयोग हो सकता है कि प्रमाणज्ञान यदि उक्तवस्त्वन्तरपूर्वक न होता तो अपने विषय का आद्यस्फोरक न हो सकेगा। इस तर्क के निष्कर्षरूप में यह विपरीतानुमान उपलब्ध होगा कि 'यतः प्रमाणज्ञान अपने विषय का आद्यस्फोरक है अतः उक्तवस्त्वन्तर पूर्वक है।'-किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि आद्यत्वविशिष्टविषयस्फोरकत्व में उक्तवस्त्वन्तरपूर्वकत्व की व्याप्ति सिद्ध न होने से उक्त वस्त्वन्तरपूर्वकत्वाभाव में आद्यविषयस्फोरकत्वाभाव का व्याप्ति-ग्रह न हो सकने से उक्तवस्त्वन्तरपूर्वकत्वाभावरूप आपादक से आद्यविषयस्फोरकत्वाभाव का आपादानरूप तर्क नहीं हो सकता।

एवं च जीवेश्वरादिविभागोऽप्यनुपपन्न एव। न च प्रतिबिम्बवादे आभासवादे वा दृष्टान्तोऽपि दृष्टः, मुखे द्वित्वस्य, आदर्शस्थत्वस्य चानिर्वचनीयस्योत्पत्तौ 'आदर्शे द्वे मुखे' इति प्रतीतिप्रसङ्गात्, आदर्शे मुखान्तरोत्पत्तौ च 'तदेवेदं मुखं यदादर्शस्थत्वेन दृष्टम्' इति प्रत्यभिज्ञानाबाधात्। अथ प्रतिबिम्बवाद आदर्शस्थत्वस्य मुखे द्वित्वावच्छेदेनानुत्पत्तेः 'आदर्शे द्वे मुखे' इति न प्रतीतिः, आभासवादे च 'तदेवेदम्' इति भ्रम एवेति चेत्? न 'आदर्शे

मुखप्रतिबिम्बम्' इति प्रतीतिप्रामाण्यात् तत्र प्रतिबिम्बद्रव्यस्यैवोत्पत्तेः स्वीकर्तुं युक्तत्वात्, द्वित्वाद्यवस्य प्रतिबिम्बस्यादर्शेऽभावात्, अनिर्वचनीयमुखोत्पत्तौ च प्रतिबिम्बप्रतीतेः प्रामाण्यानुपपत्तेः । 'कथं तर्हि तत्र भ्रमव्यवहारः ।' इति चेत् ? बिम्ब-प्रतिबिम्बयोरभेदप्रतीतेः । अत एव न 'तदेवेदम्' इति प्रत्यभिज्ञापि दुरुपपादा, प्रतिबिम्बाऽभेदभ्रमविषयस्य तदर्थस्येदमर्थेऽभेदाबाधादिति अधिकं सांख्यवार्तायां विवेचितम् ।

[जीव-ईश्वरादि के विभाग की अनुपपत्ति]

उक्त विचारानुसार जब यह निश्चित हो गया कि अज्ञान असिद्ध है, तो उस के आधार पर जो जीव-ईश्वरादि का विभाग होता है वह भी अनुपपन्न ही है । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है–प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद में कोई दृष्टान्त न होने से उन वादों द्वारा भी जीव और ईश्वर का निरूपण नहीं हो सकता । प्रतिबिम्बवाद के सम्बन्ध में जो यह कहा गया कि–दर्पण में बिम्बभूत मुख से भिन्न प्रतिबिम्बात्मक मुख की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु बिम्बभूत मुख में ही अनिर्वचनीय द्वित्व और अनिर्वचनीय दर्पणस्थत्व की उत्पत्ति होती है–यह सङ्गत नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर 'दर्पण में दो मुख हैं' इस प्रकार की प्रतीति की आपत्ति होगी क्योंकि यह प्रतीति मुख में द्वित्व और दर्पणनिष्ठत्व को विषय करती है और ये दोनों ही धर्म मुख में विद्यमान है । एवं आभासवाद के सम्बन्ध में जो यह बात कही गयी कि 'आदर्श में बिम्बभूतमुख से भिन्न प्रतिबिम्बात्मक मुख की उत्पत्ति होती है'–यह भी असङ्गत है, क्योंकि आदर्श में अन्यमुख की उत्पत्ति मानने पर जो आदर्श एवं ग्रीवा दोनों स्थानों में मुखद्रष्टा व्यक्ति को यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'यह ग्रीवास्थमुख वही है जिसे आदर्श में देखा है' इस प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति होगी ।

[आपत्ति और अनुपपत्ति के बचाव की आशंका]

यदि यह कहा जाय कि–'प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद दोनों ही में कोई दोष नहीं है, जैसे कि-प्रतिबिम्बवाद में जो 'आदर्श में दो मुख हैं' इस प्रतीति की आपत्ति दी गई वह असङ्गत है, क्योंकि यह प्रतीति मुख में द्वित्वावच्छेदेन आदर्शनिष्ठत्व को विषय करती है किन्तु मुख में आदर्शस्थत्व की द्वित्वावच्छेदेन उत्पत्ति नहीं होती । एवं आभासवाद में जो प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति बतायी गयी वह भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि आभासवाद में उक्त प्रत्यभिज्ञा भ्रमरूप ही मानी जाती है ।"–किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'आदर्श में प्रतिबिम्बभूत मुख है' यह प्रतीति प्रामाणिक है, अतः इस प्रतीति के अनुरोध से आदर्श में प्रतिबिम्ब का अभाव होने से 'दो मुख हैं' इस प्रतीति की आपत्ति नहीं हो सकती । किन्तु आभासवाद के समान आदर्श में अनिर्वचनीयमुख की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर प्रतिबिम्ब प्रतीति में लोकसिद्ध प्रामाण्य की उपपत्ति नहीं हो सकेगी । आदर्श में प्रतिबिम्बनामक सत्यमुख की उत्पत्ति और उसकी प्रतीति को प्रमा मानने पर यह प्रश्न हो सकता है कि आदर्श में होने वाली मुखप्रतीति में जो किसी किसी को कभी-कभी भ्रमव्यवहार होता है वह कैसे होगा ?–इसका उत्तर यह है कि बिम्ब और प्रतिबिम्बभूत मुख में अभेदप्रतीति होने से उक्त व्यवहार होता है । इस मान्यता में एक यह भी गुण है कि इस मत में 'तदेवेदम्'=यह वही मुख है जो आदर्श में देखा गया' इस प्रत्यभिज्ञा के उपपादन में भी कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि

'तदेवेदम्' में तत् का अर्थ है प्रतिबिम्बाभेद भ्रम का विषय और उसका अभेद इदमर्थ में अबाधित है। अतः उक्त प्रत्यभिज्ञा की 'यह ग्रीवास्थ मुख वही है जो प्रतिबिम्बाभेद भ्रम का विषय हो चुका है' इस अर्थ से उपपत्ति हो सकती है। इस सम्बन्ध में उपर्युक्त से अधिक बात सांख्यमत चर्चा के प्रसङ्ग में विवेचित की जा चुकी है।

ततः प्रतिबिम्बस्य रूपवत एव भावाद् जीवेश्वरयोर्बिम्ब-प्रतिबिम्बादिभावः। न चाकाशस्याऽमूर्तस्यापि प्रतिबिम्बं दृश्यत इति युक्तम्, आकाशस्याऽयोग्यत्वे तत्प्रतिबिम्बस्य सुतरामयोग्यत्वात्, जले प्रभामण्डलाद्यवच्छिन्नयोग्यदेशस्यैव प्रतिबिम्बोपपत्तेः। 'अमूर्तेऽपि ज्ञाने विषयप्रतिबिम्बाभ्युपगन्त्रा कथममूर्ते बिम्बप्रतिबिम्बभावः शक्यः प्रतिक्षेप्तुम् ?' इत्यप्यज्ञान-विजृम्भितम्, विषयग्रहणपरिणामस्यैव प्रतिबिम्बत्वेनाभ्युपगमात्, इत्थमेव विषयाकाराप्रति-संक्रमादिना ज्ञानस्य प्रतिबिम्बाकारताप्रतिक्षेपस्य ज्ञानवादिकृतस्य प्रत्युक्तेरित्यन्यत्र विस्तरः।

[अरूपी वस्तु का प्रतिबिम्ब असंभव]

इस प्रकार उक्त विचार से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि रूपवान् वस्तु का ही प्रतिबिम्ब होता है। ईश्वर और जीव में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर रूपी नहीं है। इस पर यदि यह शंका हो कि "अमूर्त-नीरूप आकाश का भी प्रतिबिम्ब जलादि में देखा जाता है' अतः रूपवान् का ही प्रतिबिम्ब होता है' ऐसा नियम नहीं है"–तो यह शंका उचित नहीं है क्योंकि आकाश अयोग्य है, अतः उसका प्रतिबिम्ब भी निश्चितरूप से अयोग्य ही है। जल में जो प्रतिबिम्ब देखा जाता है उसे आकाश का प्रतिबिम्ब न मान कर प्रभामण्डलादि से विशिष्टप्रत्यक्ष-योग्य देश का ही प्रतिबिम्ब मानना उचित है। यदि यह कहा जाय कि-"अमूर्तज्ञान में विषय का प्रतिबिम्ब मानने वाले जैन के लिये अमूर्त में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का निषेध करना शक्य नहीं है"–तो यह कथन अज्ञानमूलक है क्योंकि जैन मत में आत्मस्वरूपज्ञान के विषयग्रहणपरिणाम को ही प्रति-बिम्ब माना गया है न कि आदर्श में मुखप्रतिबिम्ब के समान अमूर्त ज्ञान में विषय का प्रतिबिम्ब माना जाता है। इसी प्रकार विज्ञानवादी का यह आक्षेप कि–'ज्ञान में विषयाकार का संक्रमण माने बिना उसमें विषयप्रतिबिम्ब के आकार का अभ्युपगम नहीं हो सकता'–निःसार हो जाता है, क्योंकि जैन मत में ज्ञान में विषयप्रतिबिम्ब का आकार न मान कर ज्ञान का ही विषयग्रहणरूप परिणाम माना गया है और उसीका प्रतिबिम्ब शब्द से व्यवहार होता है। इस विषय का विस्तृत विचार अन्यत्र उपलब्ध है।

ननु–अस्माभिरपि जीवेश्वरभावेन द्वित्वमेव प्रतिबिम्बत्वेनोपेयत इति न दोषः–इति चेत् ? न, अतत्स्वभावस्य तत्त्वायोगात्, तत्स्वभावत्वे चैका-ऽनेकवस्त्वङ्गीकारे परमताश्रयणात्। तदुक्तं ग्रन्थकृतैवान्यत्र–"तद्विभागानामेव नीत्यात्मत्वाद्" इति।

[द्वित्वरूप प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति का अयोग]

यदि वेदान्तीओं की ओर से यह कहा जाय कि–'हमें भी जीव और ईश्वरभाव से ब्रह्म में द्वित्वात्मक प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति ही मान्य है न कि ईश्वर और जीव में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव मान्य है।

अतः वेदान्तमत में भी कोई दोष नहीं हो सकता'–तो यह ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म द्वय-स्वभाव नहीं है अत एव उसमें द्वित्व का अभ्युपगम नहीं हो सकता। यदि द्वयस्वभाव माना जायगा तो एकानेकात्मक वस्तु का अङ्गीकार हो जाने से जैन मत का आश्रयण प्रसक्त होगा। जैसा कि ग्रन्थकार श्री हरिभद्रसूरि महाराज ने ही अन्यत्र कहा है कि ब्रह्म में विभागनानात्व की कल्पना ही जैन सम्मत नीति में पर्यवसित हो जाती है।' क्योंकि एकवस्तु की अनेकात्मकता जैनों की ही नीति है।

एतेन 'अज्ञानतद्विषयतोपाध्यवच्छिन्नत्वेन चैतन्यस्य जीवेश्वरत्वविभागः' इत्यपि मतं निरस्तम्, स्वभावतोऽनवच्छिन्नस्योपाधिसहस्रेणाप्यवच्छेत्तुमशक्यत्वात्, आकाशेऽपि घटाद्यवच्छिन्नत्वस्य चित्रस्वभावत्व एव सुवचत्वात्, अन्यथा तत्संबन्धाऽनिरुक्तेः, अवच्छिन्नाऽनवच्छिन्नस्वभावब्रह्मोपगमे च परमताङ्गीकारात्, स्वनीत्याऽनिर्मोक्षापाताच्चेति। न चावच्छिन्नत्वं विभागरूपमवास्तवम्, अनवच्छिन्नत्वं त्वविभागरूपं वास्तवमिति युक्तम्, विपर्ययस्यापि सुवचत्वात्, अन्यथा "यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा" इति व्यामोहेन शून्यताया एवापत्तेरप्यस्ताविद्यमानरूपप्रकाशोपगमेऽधिष्ठानस्याप्यनावश्यकत्वात्, व्यवहारदृष्टौ चैकानेकरूपस्यैव घटमानत्वात्।

[उपाधिभेद से जीव-ईश्वरविभाग की अनुपपत्ति]

अज्ञानात्मकोपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य ईश्वर और अज्ञानविषयतात्मकोपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य जीव-इस प्रकार जीव और ईश्वर के विभाग का समर्थक मत भी निरस्त प्रायः है क्योंकि चैतन्य स्वभावतः अनवच्छिन्न है अत एव सहस्र उपाधि मिलकर भी उसको अवच्छिन्न नहीं बना सकती। आकाश में जो घटाद्यवच्छिन्नत्व माना जाता है वह भी आकाश को अनवच्छिन्नस्वभाव मानने पर नहीं उपपन्न हो सकता किन्तु उसे चित्र-स्वभाव 'अस्तिकाय' अर्थात् प्रदेशसमूहात्मक मानने पर उपपन्न हो सकता है। अन्यथा आकाश को चित्रस्वभाव न मानने पर उसके साथ घटादि के सम्बन्ध का भी निर्वचन नहीं हो सकता। यदि ब्रह्म को अवच्छिन्न-अनवच्छिन्न उभय स्वभाव माना जायगा तो वस्तु को परस्पर विरुद्ध अनेक स्वभावात्मक मानने वाले जैनमत के स्वीकार की आपत्ति होगी और वेदान्तनीति के अनुसार मोक्षाभाव की भी आपत्ति होगी क्योंकि वेदान्त की यह नीति है कि जिस वस्तु का स्वभाव होता है वह वस्तु कभी उससे मुक्त नहीं होती। अतः यदि अवच्छिन्नत्व ब्रह्म का स्वभाव होगा तो कभी निवृत्त नहीं होगा। अतः ब्रह्म की अज्ञानाद्यवच्छिन्नता शाश्वत होने से मोक्षाभाव का प्रसंग दुर्निवार होगा।

[वास्तव–अवास्तव की प्रमाणशून्य कल्पना अनुचित]

यदि यह कहा जाय कि-"ब्रह्म में अज्ञानादि का अवच्छिन्नत्व विभागरूप=भेदरूप है और वह अवास्तव है; और अनवच्छिन्नत्व अविभागरूप=अभेदरूप है और वह वास्तव है। अतः उपाय द्वारा अवास्तव की निवृत्ति होने से मोक्षाभाव की प्रसक्ति नहीं हो सकती"-तो यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि जब बिना प्रमाण ही कुछ कहना है तो इसके विपरीत भी कहा जा सकता है कि अभेदरूप अनवच्छिन्नत्व अवास्तव है और भेदरूप अवच्छिन्नत्व ही वास्तव है। अतः इन सब कल्पनाओं का

परित्याग कर वस्तु को अनेकान्तात्मक मानना ही उचित है-अन्यथा 'प्रकारान्तर से अर्थ के सम्बन्ध में जितना ही विचार किया जायगा तो उतना ही वह दोषजर्जर होता जायगा' फलतः अर्थ के प्रकारान्तर से निर्वचन करने के व्यामोह से शून्यवाद की प्रसक्ति होगी। क्योंकि वस्तुतः अविद्यमान अध्यस्त पदार्थ का भी ज्ञान यदि माना जा सकता है, तो अधिष्ठान भी अनावश्यक हो जायगा क्योंकि उसकी भी वास्तविक विद्यमानता न मानकर अध्यस्तरूप में ही उसका भी ज्ञान माना जा सकता है। अतः व्यवहार के अनुरोध से एकानेकात्मक वस्तु ही उपपन्न होती है।

किञ्च, प्रतीयमानं सर्वेषां स्याद्वादमुद्रानतिभेदि सत्त्वमविशिष्टमपोह्य सत्त्वान्तर-तत्प्रतीत्यनुकूलशक्त्यादिकल्पने व्यसनमात्रमेव परेषाम्, न तु मानमस्ति, "तस्याभिध्यानात्०" इत्यादिश्रुतेः-"तस्यात्मनोऽभिमुखं ध्यानं क्षीणमोहगुणस्थानसंभवी केवलज्ञानाभिमुखः शुक्लध्यानपरिणामः, ततो घातिकर्मक्षयात्, युज्यतेऽनेनेति योजनं = योगनिरोधमुद्घातः, ततो वेदनीयायुःकर्मप्रदेशसमीकरणात् तत्त्वभावः=सर्वसंवरः, ततोऽन्ते=ऽन्तक्रियायां विश्वमायानिवृत्तिः= सकलकर्मनिवृत्तिः, प्रतिक्षणं बहुतरनिर्जरासूचनाय 'भूयश्च' इत्युक्तम्, कारणोपचय एव कार्योपचयसिद्धेः" इत्यस्यैवार्थस्य सम्यग्दृष्टिपरिग्रहप्राप्तस्य न्याय्यत्वात्। तदुक्तम्-"सम्मद्दिट्ठिपरिग्गहियं मिच्छसुअं पि सम्मसुअं" * इति।

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि सभी वस्तु में स्याद्वादमुद्रा का अतिक्रमण न करने वाले जिस 'समान सत्त्व'=सापेक्ष सत्त्व की प्रतीति होती है उसे छोड़कर यदि वेदान्ती नये ढंग से ही सत्त्व यानी ब्रह्म का पारमार्थिक सत्त्व, प्रपञ्च का व्यावहारिक सत्त्व और शुक्तिरजतादि का प्रातीतिक सत्त्व एवं उनकी प्रतीति के अनुकूल अज्ञान और उसकी आवरण-विक्षेपादि शक्ति की कल्पना करते हैं, यह उनका केवल व्यसन=दुराग्रहमात्र है-उस में कोई प्रमाण है नहीं।

['तस्याभिध्यानाद्'० श्रुति का विशिष्ट अर्थ]

वेदान्ती जो अपने मत के समर्थन में 'तस्याभिध्यानाद्०' इत्यादि श्रुति का उपन्यास करते हैं उसका भी वेदान्ती द्वारा प्रदर्शित अर्थ उचित नहीं है, किन्तु सम्यग्दृष्टिप्राप्त पुरुषों को जो उसका अर्थ प्रतीत होता है वही न्यायसङ्गत है। वह अर्थ इस प्रकार है—

आत्मा के अभिमुख ध्यान से अर्थात् बारहवे क्षीणमोहनामक गुणस्थान में उत्पन्न होने वाले केवलज्ञानप्रापक शुक्लध्यानात्मक परिणाम से, घातीकर्मात्मक ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-मोहनीय और अन्तरायरूप चार कर्मो का क्षय होने से एवं 'योजन' अर्थात् केवलीसमुद्घात यानी केवलज्ञानीपुरुषद्वारा की जाने वाली कर्म स्थिति समीकरण की विशिष्ट प्रक्रिया, तथा तत्त्वभाव यानी सुख-दुःखप्रद वेदनीयकर्म एवं आयुष्कर्म (=जीवन प्रयोजक कर्मप्रदेशदल)-इन दोनों के समीकरण से होने वाले सर्वसंवर-अर्थात् नूतन कर्मबन्ध के द्वारनिरोध से अन्त में शैलेशी अवस्था में प्रतिक्षण कर्मों की बहुतर निर्जरा होने से विश्वमाया अर्थात् सम्पूर्णकर्मो की निवृत्ति हो जाती है और यह निवृत्ति प्रतिक्षण कर्मों के बहुतर निर्जरण द्वारा सम्पन्न होने से भूयःनिवृत्ति यानी

* सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्श्रुतम्।

परिपुष्ट निवृत्ति कही जाती है, क्योंकि कारण के उपचय से कार्य का उपचय होता है यह नियम है ।- इस प्रकार अर्थ करने से यह श्रुति भी सम्यक् श्रुति हो जाती है । कहा भी गया है कि 'मिथ्याशास्त्र भी समयग्दृष्टि से ग्रहण करने पर सम्यक् शास्त्र बन जाते हैं ।'

एवं च 'प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्, स्वप्नरथवत्' इत्यनुमानमपि **निरस्तम्**, मिथ्यात्वस्यात्यन्ताऽसत्त्वरूपस्य साध्यत्वेऽसत्ख्यातिप्रसङ्गात्, अन्यथाप्रतीयमानत्वरूपस्य साध्यत्वेऽन्यथाख्यातेः प्रसङ्गात्, अनिर्वचनीयत्वरूपस्य साध्यत्वे च साध्याऽप्रसिद्धेः, स्वप्नरथादौ तथात्वाऽसिद्धया दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यात् । स्वाभावसामानाधिकरण्यरूपस्य साध्यत्वेऽप्ययमेव दोषः, स्वस्यैव पररूपेण स्वाभावसामानाधिकरण्यात् । सिद्धसाधनं वा, परमार्थसत्त्वाऽभावस्य साध्यत्वेऽपि परमार्थत्वस्याऽनिरुक्तेः, परमार्थसत्त्वग्राहकप्रत्यक्षेण बाधाच्च । **न चानुमान**मिथ्यात्वं साधयन्तं लोकायतं प्रति यथा नानुमानबाधोपन्यासः फलवान्, तथोक्तप्रत्यक्षस्यापि प्रपञ्चान्तर्गतत्वेन मिथ्यात्वं साधयन्तमद्वैतवादिनं प्रति न प्रत्यक्षबाधोपन्यासः फलवानिति **वाच्यम्**, तथा सत्येतदनुमानस्यापि मिथ्यात्वेनाऽसाधकतयोपन्यासानुपपत्तेः । न चैतदनुमानमेव प्रत्यक्षबाधकम्, 'प्रत्यक्षबाधपरिहारे तदनुमानप्रामाण्यम्, एतदनुमानप्रामाण्ये च प्रत्यक्षबाधपरिहार' इतीतरेतराश्रयात्, अनन्यथासिद्धत्वेन प्रत्यक्षस्यैव बाधकत्वाच्च । न हि सत्त्वं विना 'सत्' इति प्रत्यक्षमुपपद्यते, शशशृङ्गेऽपि तत्प्रसङ्गात्, उपपद्यते च मिथ्यात्वं विनापि दृश्यत्वमिति ।

[प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधक अनुमान की दुर्बलता]

इसीप्रकार 'प्रपञ्च दृश्य होने से स्वप्नदृष्ट रथ के समान मिथ्या है'-यह अनुमान भी निरस्त हो जाता है क्योंकि अत्यन्ताऽसत्त्वरूप मिथ्यात्व का साधन करने पर विश्व की ख्याति असत्ख्याति हो जायगी । 'अन्यथाप्रतीयमानत्व रूप मिथ्यात्व का साधन करने पर विश्व की ख्याति-अन्यथा ख्याति हो जायगी ये दोनों ख्याति वेदान्ती को अनिष्ट है । यदि अनिर्वचनीयत्वरूप मिथ्यात्व का साधन किया जायगा तो साध्य की अप्रसिद्धि होगी । क्योंकि स्वप्नरथादि में अनिर्वचनीयत्व की सिद्धि न होने से दृष्टान्त में साध्यवैकल्य है । यदि स्वाभावसामानाधिकरण्यरूप मिथ्यात्व का साधन किया जायगा तो भी यही दोष होगा क्योंकि स्वप्नरथादि में स्वाभावसामानाधिकरण्य सिद्ध नहीं है और प्रत्येक वस्तु का उसके अधिकरण में पररूप से अभाव होने से विश्वमात्र में स्वाभावसामानाधिकरण्य सिद्ध होने से सिद्धसाधन भी होगा । यदि परमार्थसत्त्वाभावरूप मिथ्यात्व का साधन किया जायगा तो परमार्थसत्त्व का निर्वचन न होने से साध्याऽप्रसिद्धि होगी । यदि किसी प्रकार उसका निर्वचन किया जा सकेगा तो प्रपञ्च में परमार्थ सत्त्व के ग्राहक 'घटः सन्-पटः सन्' इत्यादि प्रत्यक्ष से परमार्थसत्त्वाभाव के अनुमान में बाध प्रसक्त होगा ।

[अनुमान में प्रत्यक्षबाध न होने की शंका का निराकरण]

इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि-'जैसे अनुमानमात्र में मिथ्यात्व का साधन करने

वाले चार्वाक के प्रति अनुमान द्वारा बाध का उपन्यास निष्फल होता है, क्योंकि अन्य अनुमानों के समान बाधकरूप से उपन्यस्यमान अनुमान में भी उसे मिथ्यात्व अभिमत है। उसी प्रकार प्रपञ्चमात्र में मिथ्यात्व का साधन करने वाले अद्वैतवादी के प्रति भी प्रत्यक्ष से बाध का उपन्यास सफल नहीं हो सकता। क्योंकि जो प्रत्यक्ष बाधकत्वेन उपन्यस्त होगा वह भी प्रपञ्चान्तर्गत होने से अद्वैतवादी को इसमें भी मिथ्यात्व का साधन अभिप्रेत है।'–तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रपञ्च में मिथ्यात्वसाधन के लिये उपन्यस्तअनुमान भी मिथ्या होने से असाधक होगा। अत एव मिथ्यात्वसाधन के लिये उसका उपन्यास युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि– 'प्रपञ्च में मिथ्यात्व का साधक यह अनुमान ही प्रपञ्च में सत्त्वग्राही प्रत्यक्ष का बाधक है'–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षबाध का परिहार होने पर ही इस अनुमान में प्रामाण्य सिद्ध होगा और अनुमानप्रामाण्य सिद्ध होने पर ही प्रत्यक्षबाध का परिहार होगा। अतः इस अनुमान में प्रत्यक्षबाधकता का अभ्युपगम परस्पराश्रयदोष से ग्रस्त है। इतना ही नहीं, अपितु प्रपञ्च को मिथ्या मान लेने पर प्रपञ्च में सत्त्वग्राही प्रत्यक्ष अन्यथासिद्ध न हो सकने से प्रत्यक्ष ही अनुमान का बाधक होगा, क्योंकि यह स्पष्ट है कि यदि प्रपञ्च में सत्त्व नहीं माना जायगा तो प्रपञ्च में सत्त्वग्राही 'घटः सन्' इत्यादि प्रत्यक्ष की उपपत्ति ही न हो सकेगी, क्योंकि सत्त्व के बिना भी सद्आकार प्रत्यक्ष मानने पर शशशृंग में भी सद्आकार प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। एवं मिथ्यात्व के बिना भी दृश्यत्व न्यायमत के समान वेदान्तमत में उपपन्न हो सकता है। अतः दृश्यत्वसाधक अनुमान प्रत्यक्ष की अपेक्षा दुर्बल होने से उसको प्रत्यक्षबाध्य होना अनिवार्य है।

हेतुरपि दृश्यत्वं दृग्विषयत्वरूपमनिरुक्तिपराहतम्, तथाहि- तद् यदि दृग्-दृश्यस्वरूप-संबन्धविशेषः, तदोभयसंबन्धिरूपस्य तस्य मिथ्यात्वे उभयोरपि मिथ्यात्वम्, सत्यत्वे चोभयोरपि सत्यत्वं स्यात्। यदि च दृगभेदः, तदा पक्षे तदसिद्धिः, दृशि च व्यभिचारः। यदि च 'दृष्टो घटः' इत्यादिधीसाक्षिको विषयतापरपर्याय आध्यासिको दृगभेदस्तदा प्रतिवाद्यसिद्धिः, वादिनो दृग्-दृश्याभेदे भागासिद्धिश्च, आध्यासिकदृगभेदे दृगभेदान्तरस्यानवस्थापत्तिभिया वादिनाऽध्यनङ्गीकारात्। विरुद्धत्वं च, दृश्यत्वस्य मिथ्यात्वाभावव्याप्तत्वादिति न किञ्चिदेतत्।

तदेवं व्यवस्थितमेतत्–प्रतीत्यनुरोधेन नाऽद्वैतमेव तत्त्वम्, किन्तु प्रपञ्चोऽपि ब्रह्मवत् परमार्थसन्नेवेति ॥ ७ ॥

[दृश्यत्व हेतु में दोष की परम्परा]

हेतु के सम्बन्ध में विचार करने पर हेतु भी निर्दोष नहीं प्रतीत होता क्योंकि दृश्यत्वरूप हेतु को यदि दृग्विषयत्वरूप माना जायगा तो विषयत्व का निर्वचन न होने से हेतु का बोध अशक्य हो जायगा-जैसे दृग्विषयत्व यदि दृक्-दृश्य का स्वरूपसम्बन्धविशेषरूप माना जायगा तो उभय-सम्बन्धीरूप सम्बन्ध मिथ्या होने से उभयसम्बन्धी में भी मिथ्यात्व की प्रसक्ति होगी। फलतः दृश्य के समान दृग् भी मिथ्या हो जायगा। यदि उभयस्वरूपसम्बन्ध को सत्य माना जायगा तो दोनों सम्बन्धी में सत्यत्व होने से दृश्य भी सत्य हो जायगा। यदि दृग्विषयत्व को दृग्अभेदरूप माना जायगा तो प्रपञ्च में दृग् का अभेद न होने से हेतु की असिद्धि होगी और दृग् में मिथ्यात्व न रहने से

तथा दृग्‌अभेद रहने से व्यभिचार होगा। यदि दृग्‌अभेद को 'दृष्टो घटः' इत्यादि प्रतीति से सिद्ध आध्यासिक अभेदरूप माना जायगा और उसी का 'विषयता' इस अन्य नाम से व्यवहार किया जायगा तो प्रतिवादी के प्रति हेतु की असिद्धि होगी। क्योंकि उसके मत में आध्यासिक अभेद अमान्य है। एवं वादी के मत में प्रपञ्चरूप पक्षान्तर्गत आने वाले दृग्‌-दृश्याभेद में आध्यासिक दृग्‌अभेद न होने से भागासिद्धि होगी। क्योंकि अनवस्था की आपत्ति के भय से वादी भी आध्यासिक दृग्‌अभेद में अन्य दृग्‌अभेद का अङ्गीकार नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त मिथ्यात्व के अभाव का व्याप्य होने से दृश्यत्व हेतु मिथ्यात्वरूप साध्य के प्रति विरुद्ध भी है अतः उक्त अनुमान में कुछ भी सार नहीं है।

इस प्रकार दीर्घ परामर्श से यह सिद्ध होता है कि अद्वैत ही तत्त्व नहीं है किन्तु प्रतीति के अनुरोध से ब्रह्म के समान प्रपञ्च भी परमार्थ सत् ही है ॥ ७ ॥

एतद्वादविषयविभागवार्तामाह–

८ वीं कारिका में यह बात बतायी गयी है–अद्वैतवाद के विषयरूप में जिसकी प्रसिद्धि है–अद्वैतवाद का विषय वस्तुतः उससे भिन्न है।

मूलं— अन्ये व्याख्यानयन्त्येवं समभावप्रसिद्धये ।
अद्वैतदेशना शास्त्रे निर्दिष्टा न तु तत्त्वतः ॥ ८ ॥

अन्ये = जैनाः **व्याख्यानयन्ति** = व्याचक्षते एवं–यदुत, **समभावप्रसिद्धये** = प्रपञ्चस्याविद्याविलसितत्वपात्रप्रदर्शनेन स्वात्मन्येव प्रतिबन्धस्थैर्यात् शत्रु-पुत्रादौ द्वेष-रागादिभावविच्छेदात् परमचित्तप्रसादरूपसाम्यसिद्ध्यर्थम् **शास्त्रे = श्रावकप्रज्ञप्तिवेदे, अद्वैतदेशना** = "आत्मैवेदं सर्वं, ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इत्यादिका **निर्दिष्टा न तु तत्त्वतः** = अद्वैतमेव तत्त्वमित्यभिप्रायेण। अत एव "पुरुष एवेदं सर्वं ग्निम्" इत्यादि श्रुतीनामापातार्थदर्शनजनितो गणधरसंशयस्तासामुक्तार्थमात्मार्थवादत्वेन तदीयमदाशयस्फातये प्रपञ्चसत्यतावेदकश्रुत्यन्तरप्रकटीकरणेन स्वयमेव भगवता निरस्तः। व्यक्तं चैतद् **विशेषावश्यकादौ**।

[अद्वैत ब्रह्म का उपदेश समभाव की सिद्धि के लिये]

अद्वैतवाद के सम्बन्ध में जैन मनीषियों का यह कथन है कि शास्त्र यानी श्रावकप्रज्ञप्ति नामक वेदशास्त्र में 'यह सब आत्मा ही है–यह सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार जो अद्वैत का उपदेश किया गया है वह समभाव–साम्य की प्रकृष्टसिद्धि के लिये किया गया है। समभाव का अर्थ है सभी विषयों में चित्तकी समानवृत्ति–जिसे चित्त का परमप्रसाद–नितान्तनैर्मल्य कहा जाता है। इसकी सिद्धि शत्रु-पुत्रादि में द्वेष-रागादिभावों के उच्छेद से होती है और वह अपनी आत्मा में ही चित्तवृत्ति के स्थिरीकरण से होता है। चित्त का यह स्थिरीकरण जगत् में अज्ञानमूलकत्व के दर्शन से होता है। इस प्रकार अद्वैतदेशना का उद्देश चित्तनैर्मल्य का सम्पादन है, न कि 'अद्वैतमात्र ही तत्त्व है'- इस विषय का प्रतिपादन।

इसीलिये 'पुरुष एवेदं०=यह सब दृश्यमान विश्व पुरुषस्वरूप ही है' इस प्रकार के अर्थ को प्रतिपादन करने वाली जो श्रुतियाँ हैं उनके आपाततः प्रतीयमान अर्थदर्शन से गणधरों को जो संदेह हुआ था, भगवान महावीर ने स्वयं उसका निराकरण उन श्रुतियों को चित्तप्रसादरूप प्रयोजन के लिये आत्मा के अर्थवादरूप यानी आत्मप्रशंसापरक वचन बता कर और उन श्रुतियों के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये प्रपञ्चसत्यतावेदक अन्य श्रुति वाक्यों को दीखा कर किया। यह तथ्य विशेषावश्यक भाष्य के द्वितीयगणधरवादप्रकरण में स्फुट किया गया है।

यत्तु—"पुरुष एवेदम्०" इत्यादावीश्वरस्य सर्वावेशनिबन्धनः सर्वतादात्म्यव्यवहारः' इति नैयायिकादीनां समर्थनम्-तत्तु तदभिमतेश्वरनिरासाद् न शोभते; शोभते तु सर्वतादात्म्यप्रतिपादकश्रुतीनां सर्वविषयतारूपावेशपरत्वम्, निश्चयतः सर्वस्य सर्वज्ञत्वात्, परमत्रापि स्वस्यैव सर्वात्मकत्वादन्यस्यानुपयोगित्वादनात्मप्रतिबन्धनिवृत्त्या साम्यसिद्धिरेव प्रयोजनमिति युक्तं पश्यामः ॥ ८ ॥

[ईश्वरावेशवादी नैयायिकमत अशोभास्पद]

नैयायिकादि उक्तार्थक श्रुतिवचनों का समर्थन यह कह कर करते हैं कि—'ईश्वर का सम्पूर्ण विश्व में आवेश-संनिधानविशेष-संयोगविशेष है। इसलिये ईश्वर में सर्वतादात्म्यव्यवहार की सम्भाव्यता 'पुरुष एवेदम्०' इत्यादि श्रुति से बतायी गयी है।'–उनका यह समर्थन उनको अभिमत ईश्वर प्रमाणशून्य होने से सर्वथा शोभाहीन=युक्तिहीन है। शोभायुक्त-युक्तिसम्मत कथन तो यह है कि आत्मा में सर्वतादात्म्य का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का यह तात्पर्य लिया जाए कि-आत्मा का सर्वत्र आवेश सर्वविषयकत्वरूप है। क्योंकि निश्चयनय से सभी सर्वज्ञ है, अर्थात् अव्यक्तसर्वज्ञता सर्व प्राणीओं में है। किन्तु इस कथन का भी प्रयोजन चित्तप्रसादरूप साम्य की सिद्धि ही है-जो 'आत्मा ही सर्वात्मक है' इस कथन द्वारा आत्मान्य की अनुपयोगिता बता कर अनात्मा में चित्त-प्रवृत्ति की निवृत्ति द्वारा सम्पन्न होती है ॥ ८ ॥

उक्तव्याख्यानस्य युक्तत्वमेव व्यवस्थापयन्नाह—

९ वीं कारिका में उक्त व्याख्यान की युक्तियुक्तता का समर्थन किया गया है—

मूलं—**न चैतद्बाध्यते युक्त्या सच्छास्त्रादिव्यवस्थितेः ।**
संसारमोक्षभावाच्च तदर्थं यत्नसिद्धितः ॥ ९ ॥

न च एतत् =उक्तव्याख्यानम् **युक्त्या** =न्यायेन बाध्यते। कुतः ? इत्याह—सतां = घटादिसत्त्वग्राहिणां शास्त्रादीनाम्, आदिनाऽनुमानादिग्रहः, **व्यवस्थितेः** =प्रामाण्योपपत्तेः। च=पुनः, **संसारमोक्षभावात्** =संसारमोक्षविभागस्य तात्त्विकत्वात्, **तदर्थं**=[स्वर्गरूपसंसार]-मोक्षार्थम्, तत्पदेन मोक्षस्यैवानुकर्षणात् सकलपुरुषार्थाग्रणीत्वेन मोक्षस्य प्रसिद्धत्वात् तत्पदस्य प्रसिद्धार्थत्वाद् वा **तदर्थं** = मोक्षार्थमिति वा, **यत्नसिद्धितः** = प्रेक्षावतां यम-नियमादिव्यापारोपपत्तेः ॥ ९ ॥

शास्त्र में उपलब्ध अद्वैतदेशना का उक्त अर्थ न्याय से बाधित नहीं होता, क्योंकि घट-पटादि पदार्थों के तत्त्वसूचक शास्त्र और अनुमानादि का प्रामाण्य प्रकृष्ण है। अतः संसार और मोक्ष में वास्तविक भेद है। अतः मोक्ष के लिये प्रेक्षावान् पुरुषों का यम-नियमादि के पालन में प्रयत्नशील होना युक्तिसङ्गत है। कारिका के उक्तार्थ का समर्थन करने के लिये व्याख्याकार ने यह कहा है कि कारिका के उत्तरार्ध में पठित 'तदर्थं' शब्द के पूर्व में यद्यपि संसार और मोक्ष दोनों का उल्लेख है तथापि तत् शब्द से मोक्ष का ही अनुकर्षण होता है। क्योंकि उसी के लिये यम-नियमादि के पालन का प्रयत्न अपेक्षित होता है। अथवा 'तत्पद' प्रसिद्धार्थ का बोधक होता है और मोक्ष सकलपुरुषार्थों में अग्रणी होने से प्रसिद्ध है इसलिये 'तदर्थ' शब्द का अर्थ 'मोक्षार्थ' हो सकता है ॥ ९ ॥

विपक्षे बाधामाह—

१० वीं कारिका में अद्वैतदेशना की उक्त व्याख्या से विपरीत व्याख्या को स्वीकार करने में बाधक उपस्थित किया गया है—

मूलं—अन्यथा तत्त्वतोऽद्वैते हन्त ! संसार-मोक्षयोः ।
सर्वानुष्ठानवैयर्थ्यमनिष्टं संप्रसज्यते ॥ १० ॥

अन्यथा = उक्तविपरीतव्याख्याने, 'हन्त' इति खेदे, संसार-मोक्षयोस्तत्त्वतोऽद्वैते = अविभागे सति **सर्वानुष्ठानस्य** = यम-नियमादेः, **वैयर्थ्यम्** = निष्फलत्वम्, **अनिष्टम्** = परस्याप्यनभिमतम्, **संप्रसज्यते** = प्राप्नोति । संसारनिवृत्त्यर्थः मोक्षार्थो वा मुमुक्षूणां सर्वोऽपि व्यापारः । स चाद्वैतवादे नोपपद्यते, संसारस्यासत्त्वेन नित्यनिवृत्तत्वात्, मोक्षस्यापि सच्चिदानन्दरूपब्रह्मात्मकस्य नित्यत्वेन नित्यावाप्तत्वात् । एवं च प्रपञ्चशून्यतायाः परमार्थत्वे नित्यमुक्ततापत्तिर्यथा मण्डनेनोक्तम् तत्र गत्वा स्वगृहे प्रत्यावृत्तम् ।

[अद्वैतवाद में यम-नियमादि की व्यर्थता]

यदि अद्वैतदेशना का उक्त व्याख्यान न मान कर तात्त्विकदृष्टि से अद्वैत प्रतिपादन में ही उसका अभिप्राय माना जायगा तो खेद का विषय यह है कि संसार और मोक्ष में वस्तुतः अद्वैत हो जाने से यम-नियमादि समस्त अनुष्ठान निष्फल हो जायगा जो कि वेदान्ती को भी अभिमत नहीं है। आशय यह है कि मुमुक्षु पुरुषों का सम्पूर्ण व्यापार संसारनिवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति के लिये ही होता है। जो तात्त्विकरूप से अद्वैतवाद का अभ्युपगम करने पर नहीं उपपन्न हो सकता है क्योंकि अद्वैत के तात्त्विकत्व पक्ष में आत्मा से भिन्न किसी भी वस्तु का अस्तित्व न होने से संसार असत् होने के कारण नित्यनिवृत्त है। अतः उसकी निवृत्ति का प्रयत्न निरर्थक है। एवं मोक्ष भी उस मत में सच्चिदानन्दब्रह्मस्वरूप होने से नित्य सिद्ध है अतः उसकी प्राप्ति के लिये भी प्रयत्न की कोई सार्थकता नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रपञ्चशून्यता को परमार्थ सत् मानने पर मण्डनमिश्र ने जो नित्यमुक्तता की आपत्तिरूप दोष बताया है वह वेदान्तीओं के गृह में जाकर पुनः अपने मीमांसागृह में प्रत्यावर्तन का सूचक है।

'अविद्यानिवृत्त्यर्थो मुमुक्षूणां यत्न' इति चेत् ? न, यतो न तन्निवृत्तिः सती, नाप्य-

सती, नापि सदसती, द्वैतप्रसङ्गानुद्देश्यत्वविरोधेभ्यः, ज्ञानजन्यत्वाच्च । 'अस्तु तर्ह्यनिर्वचनीया, जन्यत्वात्, तदुक्तम्–जन्यत्वमेव जन्यस्य मायिकत्वसमर्पकम्' इति चेत् ? न, अनिर्वचनीयस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वनियमाङ्गीकारेण तन्निवृत्तिपरम्पराप्रसङ्गात् । अथ सदद्वैतव्याकोपादसत्येव सा, असत्त्वेऽपि तस्या उद्देश्यत्वज्ञानजन्यत्वादि कल्पयिष्यत इति चेत् ? नन्वेवमविद्याप्य-सत्येव कार्यजननी कल्प्यतामिति कृतान्तव्याकोपः । कल्प्यादर्शनसंत्रासस्तूभयत्र तुल्यः । पञ्चमप्रकारस्याश्रयणं त्वत्यन्ताऽप्रसिद्धम् ।

'अस्तु तर्हि चैतन्यात्मिकाऽविद्यानिवृत्तिरिति' चेत् ? मदुक्तमेवेत्थं चैतन्यस्य सदा सत्त्वेन तदर्थप्रयत्नवैकल्यं दूषणम् । अथ तत्त्वज्ञानोपलक्षितं चैतन्यमज्ञाननिवृत्तिः, तच्च न तत्त्वज्ञानतः प्रागस्ति, उपलक्षणत्वस्य संबन्धाधीनत्वात्; काकसंबन्धो हि गृहस्य काकोपलक्षितत्वमिति चेत् ? न, काकोपलक्षितत्वस्याप्येकान्ते काकसंबन्धोत्तरं तदाहितस्वभावा(न)नुवृत्त्याऽसंभव-दुक्तिकत्वात्, अनेकान्त एव तदुक्तेः 'अयं छत्री' इत्यादाविव योगसत्त्वपर्यवसानात् । किञ्च, ज्ञानोपलक्षितत्वस्यापि सत्त्वेऽद्वैतव्याघातः, असत्त्व उद्देश्यत्वानुपपत्तिः, मिथ्यात्वे ज्ञाननिवर्त्य-त्वापत्तिः, चिन्मात्रत्वे च्रोक्तदोषानतिवृत्तिरिति न किञ्चिदेतत् ।

[अविद्यानिवृत्ति के लिये मोक्षार्थी का प्रयत्न अयुक्त]

यदि यह कहा जाय कि "मुमुक्षुओं का प्रयत्न अविद्यानिवृत्ति के लिये होता है।"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अविद्यानिवृत्ति का स्वरूप दुर्वच है। जैसे अविद्यानिवृत्ति को सत्-असत् अथवा सदसत् (उभयात्मक) नहीं माना जा सकता। क्योंकि, उसे सत् मानने पर ब्रह्म से भिन्न सत्पदार्थ के अभ्युपगम से द्वैत प्रसङ्ग होगा। असत् मानने पर वह मुमुक्षु के प्रयत्न का उद्देश्य न हो सकेगी और सत्-असत् उभय मानने पर विरोध का प्रसङ्ग होगा अर्थात् सत्त्व-असत्त्व विरुद्ध धर्मों के एकत्र समावेश की प्रसक्ति होगी। साथ ही अविद्यानिवृत्ति ज्ञानजन्य है अतः वह सत्-असत् या उभयात्मक नहीं हो सकती क्योंकि सत् या असत् आदि जन्य नहीं होता।

[अविद्यानिवृत्ति अनिर्वचनीय नहीं हो सकती]

यदि यह कहा जाय कि–'उक्तदोष के कारण अविद्यानिवृत्ति अगर सत् या असत् नहीं हो सकती तो उसे अनिर्वचनीय माना जा सकता है क्योंकि वह जन्य है और यह कहा गया है कि जन्यत्व ही जन्य वस्तु के मायिकत्व-मायाजन्यत्व अनिर्वचनीयत्व का बोधक है।''-तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि अनिर्वचनीय में ज्ञाननिवर्त्यत्व का नियम है। अतः अविद्यानिवृत्ति और उसकी भी निवृत्ति की परम्परा रूप अनवस्था का प्रसङ्ग होगा। यदि यह कहा जाय कि–'सदद्वैतवाद के व्याघात भय से अविद्यानिवृत्ति असत् ही है और असत् होने पर भी उसमें उद्देश्यत्व और ज्ञानजन्य-त्वादि कल्पित है' तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर भी कहा जा सकता है कि अविद्या भी असत् ही है और प्रपञ्चजनकत्व उसमें कल्पित है और ऐसा मान लेने पर वेदान्तसिद्धान्त का व्याघात होगा। यदि यह कहा जाय कि–'कल्पनीय असत् पदार्थ में कार्यजनकत्व के अदर्शन के भय से

यह मानना सम्भव नहीं है'-तो यह भय अविद्यानिवृत्ति को असत् मानकर उसमें उद्देश्यत्व और ज्ञानजन्यत्वादि की कल्पना करने में भी समान है। उक्त सत्त्व, असत्त्व, सदसत्त्व और अनिर्वचनीयत्व इन चार प्रकार से अन्य कोई पांचवा प्रकार अत्यन्त अप्रसिद्ध है, अत: अविद्यानिवृत्ति के सम्बन्ध में किसी पांचवे प्रकार को आश्रय करने की सम्भावना शक्य नहीं है।

यदि उक्त दोषों के कारण अविद्यानिवृत्ति को चैतन्यस्वरूप माना जायगा तो चैतन्य सदा विद्यमान होने से अविद्यानिवृत्ति भी सदा विद्यमान होगी। अतः उसके लिये मुमुक्षु के प्रयत्न के वैकल्यरूप पूर्वोक्त दोष प्रसक्त होगा।

[तत्त्वज्ञानोपलक्षित चैतन्य अविद्यानिवृत्तिरूप कैसे ?]

यदि यह कहा जाय कि-'तत्त्वज्ञान से उपलक्षित चैतन्य ही अज्ञाननिवृत्ति है और एवम्भूत चैतन्य तत्त्वज्ञान से पहले नहीं रहता क्योंकि उपलक्षणत्व सम्बन्धाधीन होता है। अतः चैतन्य के साथ तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध होने के बाद ही तत्त्वज्ञान चैतन्य का उपलक्षण और चैतन्य तत्त्वज्ञान से उपलक्षित हो सकता है। उपलक्षणत्व सम्बन्धाधीन होता है यह काकोपलक्षितगृह में दृष्ट है, क्योंकि वही गृह काकोपलक्षित कहा जाता है जिस में काकसम्बन्ध हो चुका है।'-किन्तु विचार करने पर यह कथन भी ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि एकान्तवाद में गृह में काकोपलक्षितत्व का भी कथन सम्भव नहीं है क्योंकि काकसम्बन्धजनितस्वभाव एकान्तवाद में काकसम्बन्ध के बाद भी अनुवर्त्तमान नहीं रहता है। अतः अनेकान्तवाद में ही गृह में काकोपलक्षितत्व की उक्ति एवं उस दृष्टान्त से चैतन्य में तत्त्वज्ञानोपलक्षितत्व की उक्ति 'अयं छत्री' इस उक्ति के समान योगसत्य रूप में पर्यवसित हो सकती है। कहने का आशय यह है कि जिस वस्तु में जिसका कभी योग हुआ रहता है उस योग का अभाव हो जाने पर भी वह वस्तु उस अतीत योग द्वारा उस रूप में भी सत्य कही जाती है जिस रूप में वह योगकाल में सत्य कही जाती थी। जैसे, जब कोई मनुष्य छत्रधारण किये हुये रहता है तो उस समय उसे छत्री कहना सत्य होता है, उसी प्रकार जिस समय उसके पास छत्र नहीं होता उस समय भी पूर्व छत्र सम्बन्ध के कारण उसे छत्री कहना सत्य माना जाता है। किन्तु यह बात अनेकान्त पक्ष में अर्थात् एक वस्तु को परस्पर विरोधी धर्मात्मक मानने के पक्ष में ही सम्भव होती है। अतः चैतन्य को तत्त्वज्ञानोपलक्षित एवं गृह को काकोपलक्षित तभी कहा जा सकता है जब चैतन्य को तत्त्वज्ञान से सम्बद्धासम्बद्ध एवं गृह को काक से सम्बद्धाऽसम्बद्ध माना जाय।

इसके अतिरिक्त अन्य बात यह है कि ज्ञानोपलक्षितत्व को भी यदि सत् माना जायगा तो अद्वैत व्याघात होगा। यदि असत् माना जायगा तो वह उद्देश्य नहीं हो सकेगा। यदि मिथ्या माना जायगा तो ज्ञान निवर्त्यत्व की आपत्ति होगी। यदि चैतन्यमात्रस्वरूप माना जायगा तो वह नित्यसिद्ध होने से उसके लिये मुमुक्षु के प्रयत्नवैकल्यरूप उक्त दोष का परिहार नहीं हो सकेगा। अतः यह कथन भी निःसार ही है।

* अथ नाऽज्ञानस्य निवृत्तिर्नामध्वंसः, रूपान्तरपरिणतोपादानस्यैव तद्रूपत्वात्, घटध्वंसो हि चूर्णाकारपरिणता मृदेव। न च चैतन्यस्य रूपान्तरमस्ति। तस्माद् नास्त्येवाज्ञानध्वंसः,

* इतः 'सर्वस्वम्' [पृ० १४७] इति पर्यन्तो वेदान्तिपूर्वपक्षः।

किन्त्वज्ञानस्य कल्पितत्वात् तदत्यन्ताभाव एव तन्निवृत्तिः । 'किं तर्हि तत्त्वज्ञानस्य साध्यम् ?' इति चेत् ? नास्त्येवाज्ञानात्यन्ताभावबोधात्मकबाधव्यतिरेकेण । तदुक्तम्—

"तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः ।
अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति ॥१॥"

इति । स चायमधिष्ठानात्मक एव, मिथ्याभूतस्य च बाध एव ध्वंस इत्यभिधीयते । अत एव शुक्तिबोधे रजतध्वंसव्यवहारः, न तु शुक्तिबोधेन रजतध्वंसः संभवति, रजतात्यन्ताभावबोधात्मको बाधस्तु शुक्तिज्ञानात्मक एव भवतीति । 'कथं तर्हि सर्वदा सत इच्छा, तदर्थप्रयत्नविशेषो वा ?' इति चेत् ? नास्माकं परेषामिव मुक्तिर्भिक्षा, किन्तु चिद्रूपैव, नित्यावाप्तैव च, इच्छा-प्रयत्नविशेषौ तु कण्ठगतचामीकरन्यायेनानवाप्तत्वभ्रमात् । तन्निमित्तं चाऽज्ञानमेव । न चैवं मुक्तेः पुरुषार्थत्वहानिः, तद्धि न पुरुषकृतिसाध्यत्वम्, विषभक्षणादेरपि तथात्वापत्तेः । नाप्यभिलषितत्वे सति कृतिसाध्यत्वं तत्, गौरवात्, लाघवेनाभिलषितत्वमात्रस्यैव पुरुषार्थत्वौचित्यात् । चन्द्रोदये पुरुषार्थत्वमिष्टमेव, प्रवृत्तिविलम्बस्तु कृतिसाध्यताधीविलम्बात् । ततः सिद्धं नित्यावाप्तस्यैव कण्ठगतचामीकरवच्चैतन्यस्य पुरुषार्थत्वम् । इत्यस्माकं वेदान्तविवेकसर्वस्वमिति चेत् ?

[अज्ञाननिवृत्ति अज्ञानात्यन्ताभावरूप है—पूर्वपक्ष]

यदि यह कहा जाय कि—अज्ञान की निवृत्ति ध्वंसस्वरूप नहीं है क्योंकि रूपान्तर में परिणत उपादान ही ध्वंसरूप होता है, जैसे, चूर्ण के आकार में परिणत मृत्तिका ही घटध्वंस है । चैतन्य का कोई रूपान्तर नहीं होता । अतः अज्ञान का ध्वंस नहीं माना जा सकता । किन्तु अज्ञान कल्पित होने से अज्ञान का अत्यन्ताभाव ही अज्ञान की निवृत्ति है । यदि यह प्रश्न किया जाय कि—'यदि अज्ञान की निवृत्ति अज्ञान के अत्यन्ताभाव रूप होगी तो अत्यन्ताभाव साध्य न होने से तत्त्वज्ञान का साध्य क्या होगा ?' तो इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है कि अज्ञान के अत्यन्ताभाव का बोधरूप बाध ही उसका साध्य है । उससे अतिरिक्त उसका कोई साध्य नहीं है । जैसा कि वेदान्तमत में कहा गया है कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से ब्रह्म के सम्यग्ज्ञान का जन्म होते ही यह बोध हो जाता है कि अविद्या तथा उसका कार्य न पहले कभी था, न वर्तमान में है और न भविष्य में होगा । अर्थात् अज्ञान का सार्वदिक और सार्वत्रिक अभाव है । यही अज्ञान का अत्यन्ताभाव है और यह अभाव अधिष्ठानभूत ब्रह्मस्वरूप ही है । इसी को मिथ्या का बाध स्वरूप होने से ध्वंस कहा जाता है ।

इसीलिये शुक्तिस्वरूप से शुक्तिविषयक बोध में रजतध्वंस का व्यवहार होता है न कि शुक्तिबोध से रजतध्वंस की उत्पत्ति होती है । रजतात्यन्ताभाव का बोधरूप रजतबाध शुक्तिज्ञानस्वरूप ही होता है । यहाँ प्रश्न हो कि—'यदि अज्ञानात्यन्ताभावरूप अज्ञाननिवृत्ति यदि ब्रह्मस्वरूप है तब तो वह चैतन्यात्मना सत्=सदासिद्ध है फिर उसकी इच्छा अथवा उसके लिये प्रयत्नविशेष कैसे होगा ?' तो इसका उत्तर यह है कि नैयायिकादि के समान वेदान्ती के मत में मुक्ति-मुमुक्षु

से भिन्न नहीं है, किन्तु मुमुक्षु के समान चिद्रूप ही है, इसलिये नित्यप्राप्त भी है। उसकी इच्छा और उसके लिये प्रयत्न उसमें अप्राप्तत्वभ्रम के कारण ठीक उसी प्रकार होता है। जैसे कण्ठ में पहने हुए सुवर्णहार में अविद्यमानता का भ्रम होने से उसकी इच्छा और उसके पाने का प्रयत्न होता है और 'चैतन्यरूप मुक्ति अप्राप्त है'–इस भ्रम का निमित्त उसका अज्ञान ही होता है।

[मुक्ति में पुरुषार्थत्व की हानि नहीं है]

यदि यह शंका की जाय कि-'मुक्ति को नित्यप्राप्त चैतन्यस्वरूप मानने पर उसमें पुरुषार्थत्व की हानि होगी'-तो इसका उत्तर यह है कि मुक्ति को चैतन्यस्वरूप मानने पर भी यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि यह दोष तभी हो सकता है जब पुरुषकृतिसाध्य को ही पुरुषार्थ माना जाय। किन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि विषभक्षणादि भी पुरुषकृतिसाध्य होने से पुरुषार्थ हो जायगा। अभिलषित-कृतिसाध्य को भी पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने में गौरव है, किन्तु लाघव से अभिलषितत्वमात्र को ही पुरुषार्थ मानना होगा। ऐसा होने पर उक्त रीति से चैतन्यस्वरूप मुक्ति भी अभिलषित होने से उसमें पुरुषार्थत्व सर्वथा युक्तिसंगत है। यदि यह कहा जाय कि–'अभिलषित-मात्र को पुरुषार्थ मानने पर चन्द्रोदय भी अभिलषित होने से वह भी पुरुषार्थ हो जायगा'–तो यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है-अर्थात् चन्द्रोदय भी पुरुषार्थ रूप होता ही है। पुरुषार्थ होने पर भी जो उसके लिये मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं होती उसका कारण,–प्रवृत्ति के कारणीभूत इष्टसाधनता के ज्ञान का अभाव है। इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध है कि-नित्यप्राप्त चैतन्य ही कण्ठगत सुवर्णहार के समान मोक्षरूप में पुरुषार्थ है। यही वेदान्त के विवेकपूर्ण विचार का निष्कर्ष है।–

"मुक्तौ भ्रान्तिर्भ्रान्तिरेव प्रपञ्चे भ्रान्तिः शास्त्रे भ्रान्तिरेव प्रवृत्तौ।
क्व भ्रान्तिर्नास्ति वेदान्तिनस्ते यत्सा मूर्तिर्भ्रान्तिभिर्यस्य सर्वा ॥ १ ॥"

कथं चास्य भ्रान्तस्य शास्त्रश्रवणाद् नित्याप्ते चैतन्येऽनवाप्तत्वभ्रमो न निवर्तते ?।
कथं वा विदितवेदान्तः स्वयमनिवृत्तानवाप्तत्वभ्रमः परमुपदेशेन प्रवर्तयन् प्रतारको न स्यात् ?।

[वेदान्ती का समूचा निर्माण भ्रान्तिमूलक है–उत्तरपक्ष]

वेदान्तो के दीर्घप्रतिपादन के विरोध में व्याख्याकार यशोविजयजी महाराज का कहना है कि वेदान्त का यह निष्कर्ष वेदान्ती की अप्रतिम भ्रान्ति का ही सूचक है क्योंकि उक्त निष्कर्ष के अनुसार यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि–

वेदान्ती को मोक्ष के विषय में भ्रान्ति है, प्रपञ्च के विषय में भ्रान्ति है, शास्त्र के विषय में भ्रान्ति है, प्रवृत्ति के विषय में भ्रान्ति है। इस प्रकार एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि वेदान्ती को किस विषय में भ्रान्ति नहीं है ? ऐसा लगता है कि वेदान्ती का पूरा निर्माण ही केवल भ्रान्ति से हुआ है।

इसके अतिरिक्त वेदान्त के सम्बन्ध में यह भी प्रश्न उठता है कि जब चैतन्यरूप मोक्ष नित्य प्राप्त है, अप्राप्तता का तो केवल भ्रममात्र है तो वह भ्रम शास्त्रश्रवणमात्र से ही क्यों निवृत्त नहीं होता ? अथवा यह भी प्रश्न होगा कि–'वेदान्त का ज्ञाता होने पर भी उसके अपने ही-मोक्ष अनवाप्त है,–ऐसे भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है तो उपदेश द्वारा श्रवणादि साधनों में अन्य पुरुषों को प्रवृत्त करने से वह वञ्चक क्यों नहीं होगा ?'

अथ द्विविधोऽस्माकं समाधिः- लयपूर्वकः, बाधपूर्वकश्च । तत्र पञ्चीकृतपञ्चभूतकार्यं व्यष्टिरूपं समष्टिरूपविराट्कार्यत्वात् तद्व्यतिरेकेण नास्ति, तथा समष्टिरूपमपि पञ्चीकृतपञ्चभूतात्मकं कार्यमपञ्चीकृतमहाभूतकार्यत्वात् तद्व्यतिरेकेण नास्ति, तत्रापि पृथिवी शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाख्यपञ्चगुणा गन्धेतरचतुर्गुणात्मकाऽप्कार्यत्वात् तद्व्यतिरेकेण नास्ति । आपश्च गन्धरसेतरत्रिगुणात्मकतेजःकार्यत्वात् तद्व्यतिरेकेण न सन्ति । तदपि गन्ध-रस-रूपेतरद्विगुणवायुकार्यत्वात् तद्व्यतिरेकेण नास्ति । स च शब्दमात्रगुणाकाशकार्यत्वात् तद्व्यतिरेकेण नास्ति । स च शब्दगुण आकाशो 'बहु स्याम्' इति परमेश्वरसंकल्पात्मकाहंकारकार्यत्वात् तद्व्यतिरेकेण नास्ति । सोऽपि मायेक्षणरूपमहत्तत्त्वकार्यत्वात्, तद्व्यतिरेकेण नास्ति । तदपि मायापरिणामत्वात् तद्व्यतिरेकेण नास्ति । इत्यनुसन्धानेन विद्यमानेऽपि कार्यकारणात्मके प्रपञ्चे चैतन्यमात्रगोचरो यः समाधिः स लयपूर्वक इत्युच्यते । अयं च सुषुप्तिवत् सबीजः, तत्त्वमस्यादिवेदान्तमहावाक्यार्थज्ञानाभावेनाविद्यातत्कार्यस्याऽक्षीणत्वात् । एवं चिन्तनेऽपि कारणसत्त्वेन पुनः कृत्स्नप्रपञ्चदर्शनाद् । वेदान्तमहावाक्यार्थज्ञानेनाविद्यानिवृत्तौ सांक्रमेण तत्कार्यनिवृत्तेर्हेत्वभावेन पुनरनुत्थानात् । बाधपूर्वस्तु निर्बीजः समाधिः, तत्र लयपूर्वकसमाधावनवाप्तत्वभ्रमनिवृत्तावपि बीजसत्त्वात् पुनस्तदुत्थानात् प्रवृत्तिः । बाधपूर्वकसमाधौ तु कुलालचक्रभ्रमवत् पूर्वसंस्कारवशादेव । उपदेशस्तु शमादिसंपत्त्यर्थमेव, नानवाप्तत्वभ्रमनिवृत्त्यर्थमिति न तद्वैफल्यमिति चेत् ? न,

[प्रश्नद्वय के उत्तर में समाधि की प्रक्रिया]

इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्ती की ओर से यह कहा जा सकता है कि-

वेदान्तमत में समाधि दो प्रकार की होती है-एक लयपूर्वक, दूसरी बाधपूर्वक । जैसे पञ्चीकृत पञ्चभूतों का व्यष्टिरूप कार्य समष्टिरूप विराट् का कार्य होने से समष्टि से अतिरिक्त नहीं होता और समष्टि भी अपञ्चीकृत महाभूतों का पञ्चीकृत पञ्चभूतात्मक कार्य होने से अपञ्चीकृत महाभूतों से अतिरिक्त उसकी भी सत्ता नहीं होती । अपञ्चीकृतमहाभूतों में भी शब्दरूप-रस-गन्ध-स्पर्श इन पांच गुणों से युक्त पृथ्वी, गन्ध से भिन्न शब्दादि चार गुणों संयुक्त जल (=अप्) का कार्य होने से जल से भिन्न उसकी भी सत्ता नहीं है । एवं गन्ध और रस से भिन्न शब्दादि तीन गुणों से युक्त तेज का कार्य होने से तेज से भिन्न जल की भी सत्ता नहीं है । एवं गन्ध-रस-रूप से भिन्न शब्द और स्पर्शरूप दो गुणों से युक्त वायु का कार्य होने से वायु से भिन्न तेज की भी सत्ता नहीं है । तथा शब्दमात्रगुण वाले आकाश का कार्य होने से आकाश से भिन्न वायु की भी सत्ता नहीं है । एवं 'एकोऽहं बहु स्यां'=मैं अकेला बहुत बन जाऊँ'-परमेश्वर के इस संकल्परूप अहंकार का कार्य होने से इस अहंकार से भिन्न आकाश की भी सत्ता नहीं है । एवं परमेश्वर की मायारूप शक्ति की ईक्षणात्मकवृत्तिरूप महत् तत्त्व का कार्य होने से उस ईक्षण से भिन्न अहंकार की भी सत्ता नहीं है और माया का परिणाम होने से माया से अतिरिक्त ईक्षण की भी सत्ता नहीं है । इस प्रकार के ज्ञान से कार्य-कारणात्मक प्रपञ्च के विद्यमान होते हुये भी चैतन्यमात्र गोचर जो समाधि होती है अर्थात् मुमुक्ष का चित्त कार्यकारणात्मक प्रपञ्च के

रहते हुये भी उक्त अनुसंधान द्वारा जब चैतन्यमात्र में प्रवस्थित हो जाता है तो चित्त की यह चैतन्यमात्र गोचर अवस्था को ही लयपूर्वक समाधि कही जाती है। क्योंकि चित्त की यह अवस्था स्थूल-सूक्ष्म तत्तत्कार्यों का तत्तत्कारणों में लय के अनुसंधान से सम्पन्न होती है। यह समाधि सुषुप्ति के समान सबीज होती है। क्योंकि इस समाधि में 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त के महावाक्यों का अर्थज्ञान न होने से अविद्या और अविद्या के कार्य का क्षय नहीं होता। अतः उक्त रीति से कारण में कार्यलय का चिन्तन होने पर भी कारण के स्वरूपतः बने रहने से सम्पूर्ण प्रपञ्च का पुनः प्रत्यक्ष दर्शन होता है। यह तो हुयी लयपूर्वक समाधि की बात।

किन्तु जो समाधि बाधपूर्वक होती है वह निर्बीज समाधि होती है क्योंकि वेदान्त के महावाक्यार्थ ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होकर साक्षिक्रम से जब उसके कार्यों की निवृत्ति हो जाती है तब अविद्यारूप हेतु का अभाव हो जाने से इस समाधि से समाहितव्यक्ति का पुनरुत्थान नहीं होता।

कहने का आशय यह है कि लयपूर्वक समाधि में चैतन्यात्मक मोक्ष में अनवाप्तत्वभ्रम की निवृत्ति हो जाने पर भी अविद्यारूप बीज विद्यमान रहने से इस समाधि से मुमुक्षु का पुनरुत्थान होकर व्यवहार में उसकी प्रवृत्ति होती है। किन्तु बाधपूर्वक समाधि में अविद्यारूप बीज विद्यमान न रहने से समाधिस्थ मुमुक्षु का इस समाधि से पुनरुत्थान होकर व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु पुनरुत्थान के बिना ही पूर्व संस्कार के कारण ही उसी प्रकार प्रवृत्ति होती है जैसे कुलाल द्वारा दण्ड से चक्र को घुमाने पर उत्पन्न वेगाख्यसंस्कार से बाद में दण्डप्रयोग के बिना भी चक्र का भ्रमण होता है। अतः वेदान्तश्रवण से ही मोक्ष में अनवाप्तत्व भ्रम की निवृत्ति होने के कारण प्रथम प्रश्न निरवकाश है। दूसरे प्रश्न का उत्तर यह है कि वेदान्तश्रवण करने पर भी अनवाप्तत्वभ्रम से युक्त वेदान्ती दूसरों को श्रवणादि साधनों का जो उपदेश करता है वह अप्राप्तत्वभ्रम की निवृत्ति के लिये नहीं किन्तु शमदमादि की सम्पत्ति के लिये करता है। जिससे मुमुक्षु शम-दमादि से सम्पन्न होकर बाधपूर्वक समाधि में पहुँच सके। अतः श्रवणातिरिक्त साधनों के अनुष्ठान का उपदेश विफल न होने से वह वञ्चक नहीं कहा जा सकता।"–

अभाववोधातिरिक्ताविद्यानिवृत्त्यभाव उक्तोभयसमाधिविशेषस्यैवासिद्धेः, कल्पितानुलोम-विलोमक्रमवन्निवृत्तिमात्रस्य विशेषाऽहेतुत्वात्, तादृशक्रमस्यैवानियम्यत्वात्, विविक्तप्रत्ययस्व-रूपमात्राद् विशेषे सर्वज्ञज्ञानचरमक्षण एव मुक्तिरिति वदन् सौगत एव विजयेत।

[समाधिद्वय में विलक्षणता की असिद्धि]

किन्तु वेदान्तीओं का यह उत्तर व्याख्याकार की दृष्टि में समीचीन नहीं है। उनका यह कहना है कि जब अज्ञानात्यन्ताभाव के बोध से अतिरिक्त अविद्यानिवृत्ति का अभाव है तो उक्त समाधिद्वय में इस प्रकार का वैलक्षण्य, कि लयपूर्वक समाधि में अविद्यानिवृत्ति नहीं होती और बाधपूर्वक समाधि में अविद्या की निवृत्ति होती है,-संगत नहीं हो सकता। कारण अनुलोम और विलोमक्रम की कल्पना से युक्त निवृत्तिमात्र वैलक्षण्य का हेतु नहीं हो सकता क्योंकि उस क्रम का ही कोई नियामक नहीं है।

यदि विविक्तप्रत्यय-अविद्यादि से अनुपहित चैतन्य को केवल स्वरूप से ही अविद्यादिउपहित चैतन्य से विलक्षण मान कर मोक्षस्वरूप माना जायगा तो 'सर्वज्ञ के ज्ञान का चरमक्षण ही मुक्ति

है' इस सिद्धान्त के समर्थक बौद्ध की ही विजय होगी। क्योंकि बौद्धमत में भी सर्वज्ञ ज्ञान के चरम क्षण को किसी अन्य प्रकार से सर्वज्ञ के पूर्वज्ञान से विलक्षण न बता कर स्वरूपमात्र से ही विलक्षण माना जाता है और वही बात उक्त रीति से वेदान्त में भी नित्य चैतन्य को मोक्षस्वरूप मानने पर बलादापन्न होती है।

किञ्च, निवृत्तानवाप्तत्वभ्रमस्यापि पुनस्तद्भ्रमोदयादेव प्रवृत्तिरित्यपूर्वेयं प्रेक्षावत्ता। अपिच, शमाद्यर्थोऽप्युपदेशो व्यर्थ एव, मुक्तिसाधनतायां तस्याऽप्रामाण्यात्। अथ तत्त्वज्ञान-साधनतायां तत् प्रामाण्यम्, तच्च स्वत एव फलरूपम्, अत एव न तद् विधेयमिति चेत्? न, तत्त्वज्ञानस्य सुख-दुःखहान्यन्यतरत्वाभावेन स्वतः फलरूपत्वानुपपत्तेः। न च दुःखहानिरूपमेव तत्त्वज्ञानमिति स्वतः फलम्, एकस्य भावाऽभावोभयरूपत्वविरोधात्। अविरोधे वा भावा-ऽभावकल्मितोभयवस्त्वापत्तेः। किञ्च, तत्त्वज्ञानेऽपि मुमुक्षयैवेच्छा जायमाना तस्य स्वतः फलत्वं व्याहन्ति। यदि च तत्र स्वरसत एवेच्छा तदा घटादावपि तथैव सा स्यादिति घटा-देरपि स्वतः फलत्वापत्तिरिति न किञ्चिदेतत्।

[भ्रमनिवृत्ति के बाद पुनः भ्रमोदय से प्रवृत्ति की उपहास्यता–उत्तरपक्ष]

उक्त रीति से नित्यचैतन्यात्मक मोक्ष के लिये इच्छा और प्रवृत्ति का उपपादन करने वाले वेदान्ती की यह अपूर्व-[उपहसनीय] बुद्धिमत्ता प्रकट होती है कि मुमुक्षु लयसमाधिलीन होने पर उसके मोक्ष में अप्राप्तत्वभ्रम की निवृत्ति हो जाने पर भी पुनः अप्राप्तत्वभ्रम का उदय होता है और उससे उसकी प्रवृत्ति होती है। दूसरी बात यह है कि अप्राप्तत्वभ्रम की निवृत्ति के समान समाधि के लिये भी उपदेश व्यर्थ है क्योंकि शमादि की मुक्तिसाधना में कोई प्रमाण नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि-'शमादि की मोक्षसाधनता भले प्रामाणिक न हो किन्तु तत्त्वज्ञान-साधनता प्रामाणिक है और तत्त्वज्ञान स्वतः फलरूप होने से विधेय नहीं हो सकता, अतः उसका उपाय होने से शमादि विधेय हो सकता है। अतः शमादि के लिये उपदेश व्यर्थ नहीं हो सकता।'

तो यह ठीक नहीं, क्योंकि तत्त्वज्ञान सुख अथवा दुःखाभावरूप न होने से स्वतः फल नहीं हो सकता।

यदि कहा जाय कि–'तत्त्वज्ञान दुःखहानिरूप होने से ही स्वतःफल है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि एकवस्तु में भावाऽभावउभयरूपता वेदान्तमत में विरुद्ध है। यदि भावाऽभावरूपता में विरोध न माना जायगा तो भावाभावमिश्रित उभयवस्तु की आपत्ति होगी अर्थात् दुःखहानिस्वरूपेण अभा-वात्मक और तत्त्वज्ञानात्मना भावात्मक एक वस्तु और तत्त्वज्ञान स्वरूपेण भावात्मक एवं दुःखहानि-स्वरूपेण अभावात्मक-इस प्रकार उभयवस्तु की आपत्ति होगी।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह कि यतः तत्त्वज्ञान की इच्छा मोक्षेच्छामूलक होती है। अतः वह स्वतः फलरूप नहीं हो सकता। क्योंकि जिस वस्तु की इच्छा अन्य वस्तु से जन्य नहीं होती वही स्वतःफलरूप होती है। यदि तत्त्वज्ञान की इच्छा मोक्षेच्छापूर्वक न होकर नैसर्गिक होगी तो घटादि में भी उसी प्रकार नैसर्गिक इच्छा मानने से घटादि में भी स्वतःफलत्व की आपत्ति होगी। अतः वेदान्ती का उक्त कथन महत्त्वशून्य है।

अपि च, एवमभ्रान्तपुरुषकृतिसाध्यत्वरूपं पुरुषार्थत्वमपि मोक्षस्यानुपपन्नमेव । न चाभिलषितत्वमात्रं तत्, बलवदनिष्टाननुबन्धित्वभ्रमजन्येच्छाविषये विषभक्षणेऽतिव्याप्तेः, अभ्रान्तेच्छाविषयत्वं तु न मुक्तावपि, अनवाप्तत्वभ्रमजन्येच्छाविषयत्वादेव न चाभिलषितत्वमात्रसत्त्वेऽपि चन्द्रोदये पुरुषार्थत्वं व्यवह्रियते, लक्ष्यीकृतं च तादृशव्यवहारालम्बनमेव तदिति । एतेन 'नानवाप्तत्वभ्रमजन्या मोक्षेच्छा, अवाप्तत्वज्ञानस्येच्छाप्रतिबन्धकस्य दोषेण प्रतिबन्धादेव तदुदयात्' इत्युक्तावपि न क्षतिः, वस्तुतोऽविवेके सत्यनवाप्तत्वज्ञानम्, तस्मिंश्च सति न मुमुक्षा, इति न यावदधिकारसंपत्तिरेव वेदान्तिनः ।

[वेदान्तमत में मोक्ष पुरुषार्थ की अनुपपत्ति]

यह भी ज्ञातव्य है कि वेदान्तमत में मोक्ष में पुरुषार्थत्व भी अनुपपन्न ही रहता है क्योंकि पुरुषार्थत्व भ्रमाऽजन्यपुरुषकृतिसाध्यतारूप है जो मोक्ष के नित्य प्राप्त होने से सम्भव नहीं है। अभिलषितत्वमात्र को पुरुषार्थत्व नहीं कहा जा सकता। क्योंकि बलवत् अनिष्ट के अजनकत्व का भ्रम होने पर विषभक्षण भी अभिलषित हो जाता है, अतः उसमें पुरुषार्थत्व की अतिव्याप्ति होगी। यदि भ्रमाजन्येच्छाविषयत्व को पुरुषार्थत्व माना जायगा तो वह भी मुक्ति में सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि मुक्ति की इच्छा वेदान्तमत में मोक्ष में अप्राप्तत्वभ्रम से ही उत्पन्न होती है। दूसरी बात यह है कि अभिलषितत्व मात्र चन्द्रोदय में भी होता है किन्तु उसमें पुरुषार्थत्व का व्यवहार नहीं होता और लक्ष्य वही है जो पुरुषार्थत्वव्यवहार का विषय है। अतः अभिलषितत्व को पुरुषार्थत्व मानने पर चन्द्रोदय में उसकी अतिव्याप्ति अनिवार्य है।

भ्रमाजन्येच्छाविषयत्व को पुरुषार्थत्व मानने पर मोक्ष में प्रसक्त अव्याप्ति का परिहार करने के लिये यदि यह कहा जाय कि 'मोक्ष की इच्छा अनवाप्तत्वभ्रम से नहीं होती किन्तु इच्छाप्रतिबन्धक प्राप्तत्व ज्ञान का दोषवशप्रतिबन्ध होने से प्राप्तत्वज्ञानाभाव से ही मोक्षेच्छा का उदय होता है'- तो यह कथन उक्त दोषप्रदर्शन में क्षतिकारक नहीं है, क्योंकि पुरुषार्थव्यवहाराविषयीभूत चन्द्रोदय में पुरुषार्थत्व की अतिव्याप्ति तदवस्थ रहती है। वस्तुस्थिति यह है कि अनवाप्तत्वभ्रम से मोक्षेच्छा का समर्थन ही नहीं हो सकता क्योंकि अनवाप्तत्वभ्रम अविवेक रहने पर ही होगा और अविवेक रहने पर मोक्षेच्छा हो नहीं सकती। अतः मोक्ष को नित्य चैतन्यात्मक मानने पर उसका सम्भव न होने से वेदान्ती वेदान्ताध्ययन के पूर्वोक्त यावदधिकारों से सम्पन्न नहीं हो सकेगा क्योंकि यावदधिकारों में मुमुक्षा का भी संनिवेश है-और मुमुक्षा उक्तरीति से सम्भव नहीं है।

किञ्च, अज्ञानात्यन्ताभावबोधोऽप्यज्ञाननिवृत्तिरूपो यद्यधिष्ठानात्मकः, तदा तस्य तत्त्वज्ञानजन्यत्वादधिष्ठानस्यापि तज्जन्यत्वं प्राप्तम् । यदि चातिरिक्तः, तदा तन्निवृत्तिनिवृत्त्यादिपरम्पराप्रसङ्गो दुर्निवारः । अथ संप्रज्ञातसमाधिस्थलीयात्माकारवृत्त्युत्तरं निरोधसमाधिना वृत्तिं विनैवात्मानुभवः, तदा चित्तस्य निरुद्धवृत्तिकत्वेन दर्शनाऽहेतुत्वेऽपि स्वतः सिद्धस्यात्मदर्शनस्य दुर्निवारत्वाज्जल-तन्दुलादिपूर्णतापगमेऽपि घटस्य वियत्पूर्णतावत् स एवाज्ञानबाधरूपः,

तस्यापि प्रवाहपतितनिर्वृत्तिकचित्तपरिणामरूपस्य सह निरोधसंस्कारैः स्वप्रकृतौ लये स्वरूप-प्रतिष्ठः पुरुषो भवतीति चेत् ? न, तस्य प्रकृतिलयहेत्वभावात्, स्वात्मिकाया अविद्यानिवृत्तेः स्वलयेऽहेतुत्वात्, लयस्यैवानिर्वचनाच्च । तथाहि—लयः किं ध्वंसो वा, बाधो वा, कार्यरूपपरि-त्यागेन कारणरूपेणावस्थानं वा ? । नाद्यः, मिथ्याभूतस्यात्यन्ताभावस्यैवोपगमात् । न द्वितीयः, बोधानुपरमेनाऽनिर्मोक्षापातात् । नापि तृतीयः, चित्ताभावात् ।

[अज्ञानात्यन्ताभावबोध का क्या स्वरूप है ?]

दूसरी बात यह है कि अज्ञान के अत्यन्ताभाव के बोध को ही अज्ञाननिवृत्ति बताया गया है, किन्तु वह बोध यदि अधिष्ठानस्वरूप होगा तो वह बोध तत्त्वज्ञानजन्य होने के कारण अधिष्ठान में भी तत्त्वज्ञानजन्यत्व की आपत्ति होगी । यदि वह बोध अधिष्ठान से अतिरिक्त होगा तो अद्वैतवाद-के भङ्गापत्ति का परिहार करने के लिये उसकी भी निवृत्ति माननी होगी । फिर उस निवृत्ति के रह जाने पर उससे भी अद्वैतभङ्गापत्ति का उत्थान हो सकता है, अतः उसकी भी निवृत्ति माननी होगी । इस प्रकार निवृत्ति परम्परा की कल्पना आवश्यक होने से दुर्निवार अनवस्था प्रसक्त होगी ।

यदि यह कहा जाय कि–सम्प्रज्ञातसमाधि में आत्माकारवृत्ति के बाद जब निरोधसमाधि–असम्प्रज्ञातसमाधि होती है तब आत्माकारवृत्ति के विना ही आत्मानुभव होता है । उस समय चित्त निरुद्धवृत्तिक होने से यद्यपि दर्शन का हेतु नहीं होता फिर भी आत्मा के स्वतःसिद्ध दर्शन को अस्वी-कार नहीं किया जा सकता । यह दर्शन ठीक उसी प्रकार होता है जैसे जल अथवा तण्डुलादि से पूर्ण घट जलादि से रिक्त करने पर आकाश से पूर्ण होता है । यह दर्शन ही अज्ञान का बोध है । इस दर्शन का भी निरोधसमाधिजन्य संस्कारों के साथ अपनी प्रकृति में लय होता है क्योंकि वह भी चित्त-परिणाम के प्रवाह में पड़ा हुआ निर्वृत्तिकचित्त का परिणामरूप ही होता है । इस प्रकार आत्मदर्शन का भी लय हो जाने से पुरुष अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है'—

तो यह ठीक नहीं है–क्योंकि अपनी प्रकृति में आत्मदर्शन के लय का कोई हेतु नहीं है । यदि यह कहा जाय कि 'अविद्यानिवृत्ति ही उसके लय का हेतु है' तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अविद्यानिवृत्ति को उसका हेतु कहना स्व को स्वलय का हेतु कहने समान हो जाता है ।

[लय की व्याख्या वेदान्ती के लिये दुःशक्य]

दूसरी बात यह है कि लय का निर्वचन भी नहीं हो सकता क्योंकि उसे 1. ध्वंसरूप, २. बाधरूप अथवा ३. कार्यरूपपरित्यागपूर्वककारणरूपावस्थानात्मक नहीं माना जा सकता । लय को १. ध्वंसस्वरूप न मानने का कारण यह है कि ध्वंस के स्थान में मिथ्याभूत वस्तु के अत्यन्तभाव का उपगम कर उसे अस्वीकृत किया जा चुका है । २. बाध को लयस्वरूप न मानने का कारण यह है कि बाध को बाध्यमानवस्तु के अत्यन्ताभाव का बोधरूप बताया जा चुका है । अतः बोध की निवृत्ति न होने पर मोक्षाभाव की प्रसक्ति होगी क्योंकि बोधात्मक ही अविद्या का कार्य अवशिष्ट रह जायेगा । यदि उसकी निवृत्ति होगी तो अज्ञानबाध तद्रूप होने से अज्ञानबाध की निवृत्ति प्रसक्त होने के कारण पुनः मोक्षाभाव की प्रसक्ति होगी । ३. लय का तृतीयस्वरूप भी नहीं माना जा सकता

क्योंकि यह तभी सम्भव हो सकता है जब चित्तपरिणामों की निवृत्ति हो कर चित्त का स्वरूप से अवस्थान हो। किन्तु मोक्षदशा में चित्त का अवस्थान ही नहीं होता।

अथाविद्यापर्यन्तत्वाल्लयस्य न दोषः, लीयते तु सुषुप्तौ, "तन्निगृहितं न लीयते" इति गौडोक्तं तु निरोधे चित्तवृत्त्यभावो न लयकृतः, किन्तु निग्रहकृत इत्यभिप्रायेणेति चेत्? अपमतमेतत्, लयस्य कार्यक्रमेण निवृत्तिरूपत्वात्, अत्र तु कारणक्रमेण निवृत्तेरभिधानात्। अथात्र कारणक्रमेण बाधरूपनिवृत्त्युत्तरं कार्यक्रमेण लय इति नापमतम्, स च बाधक्रमेणार्थसिद्ध इति न हेत्वनुपपत्तिरिति चेत्? न, अविद्याध्वंसत्वस्यैव तत्त्वज्ञानजन्यतावच्छेदकत्वौचित्यात्। बाधेनैव ध्वंसापलापे घटादेरपि प्रपञ्चस्य ध्वंसाभावे सूक्ष्मतया स्वरूपेणावस्थानस्य सुवचत्वे मुक्तावप्यनुवृत्तिप्रसङ्गः। 'कारणरूपमेव सूक्ष्मता, नान्य'ेति चेत्? तर्हि प्रपञ्चकारणमविद्या स्वरूपतो न नष्टा, कार्यात्मना तु नष्टेति निवृत्त्यऽनिवृत्त्यात्मकतया वस्त्वस्तु। एवं ब्रह्मापि साक्षित्वादिरूपेण मुक्तौ नष्टमनष्टं च ब्रह्मरूपेण वस्त्वस्तु। तथा च 'औदयिकादिभावनिष्पन्नसंसारितया निवर्तमानं सिद्धत्वेनोत्पद्यमानं द्रव्यतयाऽनुगतमात्मद्रव्यमेव मुक्ताववतिष्ठते, कर्म च संसारनिबन्धनोदयादिभावालम्बनतया निवर्तमानं द्रव्यतयाऽनुगतमेव ततः पृथग्भावपर्यायेणोत्पद्यते' इत्यार्हतमतमेवाकामेनाप्युपगन्तव्यम्। अनष्टायां खल्वविद्यायां मुक्तावप्यद्वैतस्यावश्यं व्याघाते निमथं संसारदशायामात्मनि साक्षाज्ज्ञानसुखादिप्रतीतीनामनिर्वचनीयज्ञानाद्यालम्बनतयाऽन्तःकरणधर्माणामेव ज्ञान-सुखादीनां परम्परासंबन्धदोषेण भ्रमत्वं कल्पनीयम्?। "कामः, संकल्पः, विचिकित्सा, श्रद्धा, धृतिः, अश्रद्धा, अधृतिः, ह्रीः, धीः, भीः एतत् सर्वं मन एव" इति श्रुतेश्चैवमनोऽभिप्रायेणैव घटमानत्वात्। 'मनःपदस्य मनःकरणके लक्षणयैतदुपपत्तिः' इत्यन्ये।

[लय कारणक्रम से निवृत्तिस्वरूप नहीं है]

यदि यह कहा जाय कि–'मोक्षावस्था में चित्त नहीं रहता, अतः निरुद्धवृत्तिक चित्त के परिणामरूप आत्मदर्शन का चित्त में लय भले न हो, किन्तु अविद्या में लय हो सकता है क्योंकि सभी लय अविद्यापर्यन्त होता है–अतः इसमें कोई दोष नहीं हो सकता। क्योंकि, सुषुप्ति में चित्तान्त का अविद्या में लय होने से यह कोई नवीन कल्पना नहीं है। ऐसा मानने में गौडपाद के इस कथन का कि–'चित्त का निग्रह होता है, लय नहीं होता'–कोई विरोध नहीं हो सकता। क्योंकि उन के उक्त कथन का भी अभिप्राय यह है कि निरोधसमाधि में जो चित्तवृत्ति का अभाव होता है वह लयजन्य नहीं होता किन्तु निग्रहजन्य होता है।"—

किन्तु व्याख्याकार यशोविजयजी का कहना है कि बाधापूर्वक समाधि में चित्त का लय अविद्या में होता है यह मत अपसिद्धान्त है। क्योंकि कार्यक्रम से जो निवृत्ति होती है उसी को लय कहा जाता है। किन्तु बाधपूर्वक समाधि में कार्यक्रम से निवृत्ति न बताकर कारणपूर्वक निवृत्ति बतायी गयी है।

[मुक्ति में प्रपञ्च की सूक्ष्मरूप से सत्ता की आपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि-"बाधपूर्वक समाधि में भी कारणक्रम से बाधरूपनिवृत्ति होने पर कार्यक्रम से लय होता है अतः निरुद्धवृत्तिक चित्त के परिणामरूप आत्मदर्शन का अविद्या में लय मानना अप्रमत नहीं हो सकता। कहने का आशय यह है कि अविद्यादि कारणों का बाध, अविद्यादि के ध्वंसरूप न होकर अविद्यादि के अत्यन्ताभाव के बोधरूप है। अतः इस बोध के हो जाने पर भी अविद्यादि का ध्वंस न होने से कारण में कार्य का लय हो सकता है। अतः बाधपूर्वक समाधि में भी अविद्या में उक्तआत्मदर्शन का लय में सम्भव है और यह कार्यक्रम से होने वाला लय बाधक्रम में अर्थतः सिद्ध होता है। अर्थात् जिस कारण के अत्यन्ताभाव के बोध के बाद जिस कार्य के अत्यन्ता-भाव का बोध होता है उस कार्य का उस कारण में लय अर्थतः गृहीत हो जाता है। इसलिये 'बाध-पूर्वक समाधि में आत्मदर्शन का अपनी प्रकृति में लय, के हेतु की अनुपपत्ति नहीं है-"

तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्याध्वंसत्व को ही तत्त्वज्ञान का जन्यतावच्छेदक मानना उचित है। क्योंकि यदि अत्यन्ताभाव बोधरूप बाध से ही ध्वंस का अपलाप किया जायगा तो यह भी कहा जा सकता है कि घटपटादिरूप प्रपञ्च का भी ध्वंस नहीं होता किन्तु सूक्ष्मरूप से स्वरूपावस्थान होता है। फलतः मुक्ति में भी प्रपञ्च का सूक्ष्मरूप से अनुवर्तन प्रसक्त होगा।

[वेदान्ती को जैन मत में प्रवेश की आपत्ति]

यदि यह कहा जाय कि-"सूक्ष्मता कारणरूप ही है अन्य नहीं है अतः मुक्ति में प्रपञ्च के कारणस्वरूप का अनुवर्तन होने पर भी कार्यस्वरूप के अनुवर्तन का प्रसङ्ग नहीं हो सकता"-तो इस कथन से यह निष्कर्ष निकलेगा कि प्रपञ्च का कारण अविद्या मोक्षकाल में स्वरूपतः नहीं नष्ट होती किन्तु कार्यरूप से ही नष्ट होती है। इसके फलस्वरूप निवृत्ति-अनिवृत्ति उभयात्मकवस्तु का अस्तित्व प्रमाणित होगा। इसी प्रकार ब्रह्म भी साक्षित्वादिरूप से मुक्ति में नष्ट होता है और ब्रह्मरूप से अनष्ट रहता है इसप्रकार नष्टानष्ट उभयात्मक वस्तु सिद्ध होगी और इन सब के परिणामस्वरूप यह तथ्य प्राप्त होगा कि-औदयिकादि भाव यानी कर्म के उदय-क्षयोपशमादि से निष्पन्न भावों से निमित्तसंसारीरूप से निवत्तमान और सिद्धस्वरूप से उत्पद्यमान तथा द्रव्यरूप से दोनों दशा में अनुगत आत्मद्रव्य ही मुक्ति में अवस्थित होता है। एवं उस अवस्था में संसार के उत्पादक औदयिकादि भाव के आलम्बनरूप से कर्म निवृत्त हो जाने पर त्रैकालिकअवस्थाओं में द्रव्यरूप से अनुगत आत्मद्रव्य ही कर्मपृथग्भावरूप पर्याय से उत्पन्न होता है। इस प्रकार वेदान्तमत में इच्छा न होने पर भी आर्हतमत का ही अभ्युपगम सिद्ध होता है।

[ज्ञान सुखादि आत्मा के धर्म हैं]

इससे अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि यदि मुक्ति दशा में भी अविद्या का नाश नहीं होगा तो उस दशा में अद्वैत का व्याघात अवश्य होगा। तो जब मुक्तिदशा में अद्वैतव्याघात होने वाला ही है तो संसार दशा में आत्मा में होने वाली ज्ञान-सुखादि की साक्षात् प्रतीतियों के सम्बन्ध में यह व्यर्थ कल्पना क्यों की जाय कि 'ये प्रतीतियां अनिर्वचनीय ज्ञानादि को विषय करती है ?, क्योंकि, ज्ञानसुखादि अन्तःकरण के ही धर्म हैं, परम्परासम्बन्धरूप दोष से आत्मा में उनका भ्रम होता है ?' 'कामः संकल्पः०' इत्यादि श्रुति में जो यह बताया गया है कि काम-संकल्प-विचिकित्सा

(=संशय)-श्रद्धा-धृति-अश्रद्धा-अधृति-लज्जा-बुद्धि-भय' ये सब मन ही है, वह उक्त श्रुति में मनः पद को भावमनस् परक मानने से ही उपपन्न होता है। अतः उससे यह निष्कर्ष निकालना कि-'कामादि अन्तःकरण के धर्म हैं आत्मा के नहीं'-उचित नहीं है। क्योंकि, उक्तधर्म भावमनःस्वरूप होने से एवं भाव मन आत्मपरिणामविशेष स्वरूप होने से आत्माश्रित हैं अतः उक्त श्रुति उन धर्मों को आत्मनिष्ठ मानने से प्रतिकूल नहीं है। अन्य विद्वानों का कहना है कि उक्त श्रुति में मनस् पद 'मनःकारणक' में लाक्षणिक है अतः उक्त श्रुति से यही सिद्ध होता है कि काम संकल्पादि धर्म मनःकारणक यानी मनोजन्य हैं न कि यह सिद्ध होता है कि 'वे धर्म मनोनिष्ठ हैं आत्मनिष्ठ नहीं है।'

अथाद्वैतश्रुत्यनुरोधादनाशेऽप्यविद्याया बाधितत्वेन तस्या अतात्त्विकत्वादद्वैततत्त्वाव्याकोप इति चेत्? न, तदा तस्या बाधाऽविषयत्वेन बाधितत्वाऽयोगात्। ब्रह्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं चाविद्यायामिवाविद्यानिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं ब्रह्मण्यपि तुल्यम्, अन्यथा तु तत्तादात्म्यापत्त्या संसारितापत्तिः। एतेन 'प्राक् पश्चाद् वा घटादेः 'नास्ति' इति प्रतीतेरत्यन्ताभावेनैवोपपत्तौ प्रागभावे ध्वंसे वा मानाभावः, असत्त्वं चात्यन्ताभावादेव' इति निरस्तम्, अनुत्पन्नाप्रच्युताया अविद्याया अत्यन्ताभावोपगमे ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात्, प्रागभाव-ध्वंसापलापे प्राक्-पश्चादिति प्रयोगस्यैवानुपपत्तेः, प्रतियोगिनः पुनरुत्पत्ति-पुनरुन्मज्जनादिप्रसङ्गाच्च।

यदि यह कहा जाय कि-'अद्वैत श्रुति के अनुरोध से मोक्ष दशा में अविद्या का यद्यपि नाश नहीं होगा किन्तु बाधित होने से वह अतात्त्विक हो जाती है अतः अद्वैततत्त्व का व्याघात नहीं हो सकता"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि मोक्षदशा में अविद्या बाध का विषय नहीं होती है अतः उस का बाधित होना युक्तिसङ्गत नहीं है।

यदि 'ब्रह्मनिष्ठअत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होने से अविद्या को बाधित' कहा जायगा तो अविद्यानिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगी होने से ब्रह्म में भी बाधितत्व की प्रसक्ति होगी।

यदि अविद्या में ब्रह्म का अत्यन्ताभाव न माना जायगा तो ब्रह्म में अविद्यातादात्म्य की आपत्ति होने से संसारिता की आपत्ति होगी।

वेदान्ती की ओर से यदि यह कहा जाय कि-"घटादि की उत्पत्ति के पूर्व तथा घटादि के बाद जो 'घटो नास्ति' यह प्रतीति होती है उसकी उपपत्ति घटात्यन्ताभाव से हो जाती है अतः प्रागभाव और ध्वंस में कोई प्रमाण नहीं है। उक्त समयों में घटादि का प्रागभाव या ध्वंस न मानने पर भी जो घटादि का असत्त्व होता है वह उन समयों में उसके अत्यन्ताभाव होने से ही होता है। इसी प्रकार अविद्या का प्रागभाव एवं ध्वंस है ही नहीं, और असत्त्व इसके अत्यन्ताभाव से युक्त है"-तो यह कथन भी निरस्त प्रायः है क्योंकि जन्म और विनाश से रहित होने पर भी अविद्या का यदि अत्यन्ताभाव माना जायगा तो ब्रह्म के भी अत्यन्ताभाव के प्रसङ्ग का वारण न हो सकेगा।

दूसरी बात यह है कि यदि प्रागभाव एवं ध्वंस का अपलाप किया जायगा तो 'पूर्व' और 'पश्चात्' का प्रयोग भी उपपन्न न हो सकेगा क्योंकि प्रागभाव और ध्वंस मानने पर ही सत् के प्राग-

भावाधिकरणकालरूप अर्थ में 'ततः प्राक्' और तत् के ध्वंसाधिकरणकालरूप अर्थ के अभिप्राय से 'ततः पश्चात्' इस प्रयोग की उपपत्ति हो सकती है। तथा इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि यदि प्रागभाव का अभ्युपगम न किया जायगा तो उत्पन्न की पुनः उत्पत्ति का और ध्वंस का अभ्युपगम न करने पर मुद्गरादिप्रहार के बाद भी घटादि के उन्मज्जन की प्रसक्ति होगी।

अथ सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वाद् ब्रह्मणः क्वात्यन्ताभावः ?, ब्रह्म तु न सर्वात्मकमिति तदेव सर्वात्यन्ताभावरूपम्, अत एव ब्रह्मसिद्धौ 'असर्वम्' इति ब्रह्मविशेषणमुक्तमिति चेत् ? न, व्याघातात्, सर्वधर्मप्रतियोगितोपरक्ताभावात्मकतया ब्रह्मणः सर्वत्वानपायात्, ब्रह्मस्वरूपवत् सर्वस्य ब्रह्माभिन्नत्वेऽनुच्छेदापाताच्च। 'नोच्छिद्यत एव ब्रह्मरूपेण सर्वम्, प्रपञ्चरूपेण चोच्छिद्यते' इति चेत् ? ब्रह्मापि संसाररूपेणोच्छिद्यते नोच्छिद्यते च ब्रह्मरूपेणेति तुल्यम्। 'नैकमेव निवर्तते, न निवर्तते चेति' चेत् ? न, रूपान्तरपरिणतोपादानरूपनिवृत्तिवादेऽनाद्यविद्यातादात्म्यानिवृत्त्याऽनिर्मोक्षापातस्य तदवस्थत्वात्। बाधरूपनिवृत्तिवादे च तस्य निर्विषयत्वाभावेन ब्रह्मरूपतदत्यन्ताभावविषयकेण तेन समानसंवित्संवेद्यतयाऽविद्यारूपब्रह्मात्यन्ताभावोऽपि विषयीक्रियेत। त्रैकालिकी तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरेव खल्वत्यन्ताभावः। अथास्त्वविद्याया ध्वंस एव, स चानिर्वचनीयः, न चानिर्वचनीयस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वनियमः, अविद्याध्वंसातिरिक्ते तत्संकोचादिति चेत् ? न, तथापि मुक्तौ तत्सत्त्वेऽद्वैतसंकोचावश्यकत्वात्, तत्कार्यनिवृत्तीनामप्यनन्तानां तदा सत्त्वे तावतीवुक्तनियमाद्वैतसंकोचस्यातिजघन्यत्वाच्च, मुक्तावद्वैतवचनस्य दृग्-दृश्यसंयोगोपरतिवचनस्य च कर्मनिवृत्तत्वाभिप्रायेणैवोपपादयितुं युक्तत्वादिति दिग्।

यदि यह शंका की जाय कि–"सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मात्मक है अतः ब्रह्म का अत्यन्ताभाव कहाँ होगा? किन्तु सर्व ब्रह्मात्मक होते हुए भी ब्रह्म सर्वात्मक नहीं है अतः ब्रह्म सर्वात्यन्ताभाव स्वरूप होने का अभ्युपगम सम्भव होने से ब्रह्म सर्वात्यन्ताभावरूप हो सकता है। और ब्रह्म में सर्वाभाव सम्भव होने से ही ब्रह्मसिद्धि ग्रन्थ में 'असर्वं' इस शब्द से सर्वात्यन्ताभाव को ब्रह्म का विशेषण बताया गया है"–

तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने में व्याघात है क्योंकि ब्रह्म यदि सम्पूर्ण धर्मों की प्रतियोगिता से उपरक्त अभाव से अभिन्न होगा तो उसमें सर्वरूपता का अपाय नहीं हो सकता। यदि सर्व को ब्रह्म से अभिन्न माना जायगा तो ब्रह्मस्वरूप के समान उसके अनुच्छेद की आपत्ति होगी।

यदि यह कहा जाय कि–"ब्रह्मरूप से सर्व का उच्छेद नहीं ही होता केवल प्रपञ्चरूप से ही उच्छेद होता है"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर सर्व के समान ब्रह्म के विषय में भी यह बात कही जा सकती है कि ब्रह्म का भी संसाररूप से उच्छेद हो जाता है और ब्रह्म रूप से उच्छेद नहीं होता।

यदि ऐसा कहने में यह भय प्रदर्शित किया जाय कि–"ब्रह्म एक ही है अतः उस एक ही को यह नहीं कहा जा सकता कि वह निवृत्त भी होता है और अनिवृत्त भी होता है क्योंकि निवृत्तत्व

और अनिवृत्तत्व परस्पर विरुद्ध धर्म हैं अतः एक में उसका सम्भव नहीं हो सकता"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कायर के लिये यह भय अविद्या और ब्रह्म दोनों में समान है क्योंकि अविद्या को भी निवृत्ताऽनिवृत्त मानने पर यह भय उपस्थित हो सकता है कि एक ही अविद्या निवृत्त और अनिवृत्त दोनों कैसे हो सकती है ?

यदि यह कहा जाय कि–"प्रपञ्च अनित्य है अतः ब्रह्म के कल्पित तादात्म्य के साथ प्रपञ्च की तो निवृत्ति हो सकती है किन्तु ब्रह्म नित्य होने से उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती"–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि निवृत्ति रूपान्तरपरिणत उपादानस्वरूप होती है–इस मत में आविद्यक कार्यों की निवृत्ति रूपान्तर में परिणत अविद्यारूप होगी। अतः अनादि अविद्या के तादात्म्य की निवृत्ति न हो सकने से मोक्षाभाव का प्रसङ्ग होगा। यदि निवृत्ति को अत्यन्ताभावबोधात्मक बाध रूप माना जायगा तो बोध निर्विषयक नहीं होता अतः जैसे अविद्या के अत्यन्ताभाव का बोध ब्रह्मरूपाविद्यात्यन्ताभाव को विषय करेगा उसी प्रकार उसके द्वारा अविद्यारूप ब्रह्मात्यन्ताभाव भी उसका विषय होना अनिवार्य होगा; क्योंकि ब्रह्मरूप अविद्या का अत्यन्ताभाव और अविद्यारूप ब्रह्मात्यन्तभाव दोनों समान वित्तिवेद्य है अर्थात् एक सामग्री-ग्राह्य है। क्योंकि तादात्म्य परिणाम की त्रैकालिक निवृत्ति को ही अत्यन्ताभाव कहा जाता है। अविद्या में ब्रह्म की त्रैकालिकतादात्म्यपरिणति निवृत्त है।

वेदान्ती की ओर से उक्त दोषों के कारण यदि यह कहा जाय कि–"अविद्यानिवृत्ति ध्वंस स्वरूप ही होती है किन्तु वह अनिर्वचनीय है और अनिर्वचनीयमात्र में ज्ञाननिवर्त्यत्व का नियम नहीं है क्योंकि उस नियम में अनिर्वचनीयत्व का अविद्याध्वंसातिरिक्त में संकोच है अर्थात् अविद्याध्वंसातिरिक्त अनिर्वचनीय में ज्ञाननिवर्त्यत्व का नियम है–"तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अविद्याध्वंस की निवृत्ति न होने पर मुक्ति में अविद्याध्वंस की सत्ता आवश्यक होने से अद्वैत में भी संकोच आवश्यक होगा। एवं मोक्षदशा में अविद्या कार्यों की अनन्तनिवृत्तिओं का भी सद्भाव होने से उन सभी में ज्ञाननिवर्त्यत्व नियम का और अद्वैत का अत्यन्त जघन्य संकोच मानना होगा। अतः आत्मा के सम्बन्ध में जो अद्वैत का कथन है और दृग्दृश्य के सम्बन्धाभाव का कथन है उसका यह अभिप्राय मानना युक्तिसङ्गत होगा कि आत्मा मोक्षदशा में कर्मनिर्मुक्त हो जाता है। इसलिये कर्म की दृष्टि से वह उस समय अद्वैत और दृग् दृश्य के सम्बन्ध से रहित हो जाता है।

अपि च 'तत्त्वमसि'–आदिवाक्ये परोक्षत्व-भोक्तृत्वाभ्यामुपस्थितयोरभेदान्वयाऽयोग्यत्वाद् यदि पदद्वयस्य चिन्मात्रे लक्षणा, एतद्वाक्यसामर्थ्यादेव च प्रपञ्चे पारमार्थिकत्वाभावलाभः, भोक्तृत्वादेः पारमार्थिकत्वे तत्पदार्थैक्याऽसिद्धेर्भोक्तृत्वादेः कल्पितत्वे भोग्यादेरपि कल्पितत्वादिति मन्यते तदा "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यत्र नित्यत्व-विज्ञानत्वाऽऽनन्दत्वादिनोपस्थितस्याप्यभेदान्वयाऽयोग्यत्वाद् नित्यादिपदानां निर्विशेषब्रह्मणि लक्षणयैतद्वाक्यसामर्थ्यादेव नित्यत्वादेरपारमार्थिकत्वात् तद्विनिर्मुक्तनिर्विशेषसिद्ध्यापत्तिः। न च निर्विशेषं शशविषाणवत् सिध्यतीति शून्यतैव स्यात्। अथ नित्यानन्दादिपदार्थानां नाभेदविरोधः, तर्हि तत्-त्वम्पदार्थयोरपि मा भूद् विरोधः। विरोधश्चेद्, शशविषाणादिवाक्यतुल्यमेव तद् वाक्यं स्यात्। यदि चात्र दृढा भक्तिः, तदा जीवेश्वरयोः शक्त्या शुद्धस्वरूपेणैवाभेद उप-

पाद्यताम् । न हि 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यत्रापि शुद्धाभेदे लक्षणा स्वारसिकी, तत्त्वेदंताभ्यां पर्यायभेदोपरक्तस्यैवोर्ध्वतासामान्याख्यस्याभेदस्य शक्तितः प्रत्ययात्, प्रत्यभिज्ञायास्तत्समानाकाराभिलापस्य च भेदाभेदग्राहित्वेनैव समर्थनात्, उक्तवाक्याद् भेदा-ऽभेदयोः समारोपव्यवच्छेददर्शनाच्च । किञ्च, एवमेकतरविशेषणं न प्रयुञ्जीत, 'सोऽस्ति' इत्यादिनाऽप्यभेदस्य प्रतिपादयितुं शक्यत्वात्, विशिष्टाभेदप्रत्यायनार्थमुक्तप्रयोगसमर्थनं तु भेदाभेदवादिनः शोभते, न त्वखण्डार्थप्रतीतिवादिन इति न किञ्चिदेतद् अनन्तदेवोदितम् ।

यह भी ज्ञातव्य है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य के सम्बन्ध में यदि यह माना जायगा कि तत्पद से परोक्षत्वरूप से उपस्थित चैतन्य और 'त्वम्' पद से भोक्तृत्वरूप से उपस्थित चैतन्य में अभेदान्वय की योग्यता न होने से दोनों पदों की चिन्मात्र में लक्षणा होती है और इस वाक्य के सामर्थ्य से ही प्रपञ्च में पारमार्थिकत्वाभाव का लाभ होता है क्योंकि भोक्तृत्वादि के पारमार्थिक होने पर तत्पदार्थ और त्वम् पदार्थ का ऐक्य नहीं सिद्ध होता । और भोक्तृत्वादि को कल्पित मानने पर भोग्यादि भी कल्पित होता है ।-"तो 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस वाक्य के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकेगा कि नित्यादिपदों से नित्यत्व-विज्ञानत्व और आनन्दत्वरूप से उपस्थित अर्थ में अभेदान्वय योग्यता नहीं होती अतः नित्यादि पदों की निर्विशेष ब्रह्म में लक्षणा होती है । और इस वाक्य के सामर्थ्य से ही नित्यत्वादि में अपारमार्थिकत्व सिद्ध होने से नित्यत्वादि धर्मों से रहित निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि होती है । फलतः जैसे निर्विशेष होने से शशविषाण सिद्ध नहीं होता उसी प्रकार निर्विशेष ब्रह्म की भी सिद्धि न हो सकने से शून्यवाद की आपत्ति होगी ।

यदि यह कहा जाय कि-"नित्य-आनन्दादि पदों से उपस्थाप्य अर्थों में अभेद का विरोध नहीं है"-तो यह भी कहा जा सकता है कि तत्पदार्थ और त्वम् पदार्थ के भी अभेद में विरोध नहीं है । यदि विरोध होगा तो शशविषाणादि वाक्यों के समान यह वाक्य भी बाध्यार्थक होगा । यदि इस वाक्य के प्रति दृढभक्ति हो तो तत् और त्वम् पद की लक्षणा न मान कर शक्ति द्वारा जीव और ईश्वर में शुद्धस्वरूप से ही अभेद की उपपत्ति करना उचित है । क्योंकि 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में भी तत् और इदं पदों की शुद्ध अभेद में स्वारसिक लक्षणा नहीं होती । क्योंकि शक्ति द्वारा ही तत्ता और इदन्तारूप पर्यायभेद से उपरक्त विशिष्ट में ही ऊर्ध्वतासामान्यरूप अभेद की प्रतीति होती है एवं प्रत्यभिज्ञा और उसके समानाकार अभिलाप का उन्हें भेदाभेदग्राही मानकर समर्थन होता है । तथा उक्त वाक्य से केवल भेद और अभेद के समारोप का व्यवच्छेद अनुभवसिद्ध है ।

दूसरी बात यह है कि यदि उक्तवाक्य से लक्षणा द्वारा अभेद का ही प्रतिपादन अभीष्ट होगा, तो 'स' 'अयं' इन दोनों विशेषणों में किसी एकतर विशेषण का प्रयोग न करना ही उचित होगा क्योंकि केवल 'सोऽस्ति' अथवा केवल 'अयमस्ति' इतनेमात्र से भी अभेद का प्रतिपादन हो सकता है ।

इसके उत्तर में अनन्तदेव का यह कथन कि-विशिष्ट अर्थों के अभेदबोधनार्थ दोनों विशेषण-पदों से घटित उक्त वाक्य का प्रयोग आवश्यक है-निरर्थक है क्योंकि यह कथन उक्तवाक्य से भेदाभेदबोध मानने के पक्ष में ही उचित हो सकता है-अखण्डार्थप्रतीति मानने के पक्ष में उचित नहीं हो सकता ।'

एतेन 'गौरश्वः' इत्यादिकं जातितोऽर्थं प्रत्याययति, 'पचति-पठति' इत्यादिकं तु क्रियातः,

'शुक्लः-कृष्णः' इत्यादिकं गुणतः, 'धनी गोमान्' इत्यादिकं च संबन्धत इति । ब्रह्म तु जाति-क्रिया-गुणसंबन्धरहितं मुख्यया वृत्त्या न केनापि शब्देन प्रतिपादयितुं शक्यते, परन्तु यथाकथञ्चिल्लक्षणयैव 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यात् तद्बोधः, तत्रापि तात्पर्यस्य नियामकत्वाद्, निर्दोषत्वमहिम्ना वृत्तिं विनैव वा ततस्तद्बोधः' इति मधुसूदनाभिप्रायोऽपि निरस्तः । अस्य खलु तपस्विनो 'यथा कथञ्चित्' इति वदतो लक्षणायां संशय एव । न हि बहुप्रसिद्ध्यनारूढ-पदसंबन्धरूपा शक्यार्थसंबन्धरूपा वा लक्षणा ब्रह्मणि घटते । न चाखण्डार्थप्रतीतिर्लक्षणया क्वचिद् दृष्टेति । न चास्य महात्मन उत्तरसपाधानपाणिनाऽपि विवेकलोचनमाच्छादयतो दोषदृश्योर्न भयम् । न हि वृत्तिं विना क्वचन शब्दात् प्रतीतिः प्रादुर्भवन्ती दृष्टा । यदि च निर्दोषत्वमहिम्ना शाब्दसामग्रीमतिपत्यैव शब्दाद् ब्रह्म बोधयेत् तदा शब्दमतिपत्यैवासौ स्वातन्त्र्येण तद्बोधयन् कुतो न प्रमाणान्तरतामास्कन्देत् ? । न च निर्दोषत्वमत्राविद्यानिवृत्ति-रूपम्, तस्याः फलत्वात्, तृतीयप्रतिपत्तौ भावाच्च । तिस्रो हि ब्रह्मणि प्रतिपत्तयः, आद्या शब्दात्, द्वितीया शब्दात् प्रतिपद्य संतानवती, तृतीया तु निर्विकल्पकसाक्षात्काररूपेति । किन्तु श्रवणादिजन्यप्रतिबन्धकादृष्टनिवृत्तिरूपम् । न च श्रवणादिकं वेदान्तवाक्यार्थबोधार्थं विधीयते, येन तत्र सा द्वारं स्यात्, किन्त्वात्मसाक्षात्कारार्थम्, "आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इति श्रुतौ 'अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचति' इतिवदार्थ-क्रमस्य बलवत्त्वात्, श्रवण-मननादिभिरात्मा द्रष्टव्य इत्यर्थात् ।

प्रस्तुत विषय में मधुसूदन सरस्वती का यह अभिप्राय है कि-"शब्द शक्ति द्वारा जाति-विशिष्ट-क्रियाविशिष्ट-गुणविशिष्ट और सम्बन्धविशिष्ट का ही बोधक होता है जैसे गो-अश्व इत्यादि शब्द से गोत्व अश्वत्वादि जातिविशिष्ट अर्थ का बोध होता है और 'पचति' 'पठति' पाचक-पाठक इत्यादि शब्द से पाक और पठन क्रियाविशिष्ट का बोध होता है । एवं शुक्ल-कृष्ण आदि शब्द से शुक्ल-कृष्ण आदिरूप गुण से विशिष्ट अर्थ का बोध होता है, तथा 'धनी' 'गोमान्' इत्यादि शब्द से धन और गौ के स्वामित्व सम्बन्ध से विशिष्ट अर्थ का बोध होता है । किन्तु ब्रह्म जाति-क्रिया-गुण और सम्बन्ध से रहित है अतः मुख्यवृत्ति शक्ति द्वारा किसी भी शब्द से उसका बोध नहीं हो सकता । अतः 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य से यथाकथञ्चिद्-जिस-किसी प्रकार लक्षणा से ही बोध होता है और उस लक्षणा में भी तत्त्वमस्यादि वाक्य का ब्रह्मबोधविषयक तात्पर्य नियामक है । अथवा यदि लक्षणा की उपपत्ति में कठिनाई हो तो यह कहा जा सकता है कि यतः 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य से ब्रह्मबोध का उदय होने में कोई दोष नहीं है अतः इस निर्दोषत्व की महिमा से वृत्ति के बिना भी उस ब्रह्म का बोध होता है ।"

किन्तु यह अभिप्राय भी निरस्तप्राय: है । क्योंकि लक्षणा के सम्बन्ध में यथाकथञ्चिद् शब्द का प्रयोग कर बेचारे ने लक्षणा में स्वयं ही संशय प्रकट कर दिया है । क्योंकि जिस अर्थ में जिसकी बहुत प्रसिद्धि न हो उस अर्थ के साथ उस पद के सम्बन्ध को अथवा पद के शक्यार्थ के सम्बन्ध को

ही लक्षणा कहा जाता है और वह सम्बन्ध सामान्य से शून्य ब्रह्म में घट नहीं सकता है। तथा लक्षणा से अखण्डार्थप्रतीति कहीं दृष्ट नहीं है। इसी प्रकार विवेकनेत्र को बन्द कर दूसरे समाधान को हाथ में लेने पर भी दोषतस्कर से महात्मा (मधुसूदन) के भय की निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि वृत्ति के बिना शब्द में कहीं भी प्रतीति का प्रादुर्भाव नहीं देखा जाता। यदि निर्दोषत्व की महिमा शाब्दबोधसामग्री की अपेक्षा न कर के ही शब्द द्वारा ब्रह्म का बोधक होगी तो वह शब्द की भी उपेक्षा कर स्वतन्त्ररूप से ही अर्थ का बोधक होकर अतिरिक्त प्रमाण क्यों नहीं हो जायगा ?

दूसरी बात यह है कि जिस निर्दोषत्व की महिमा से ब्रह्मबोध की उत्पत्ति अभिमत है वह अविद्यानिवृत्तिरूप नहीं मानी जा सकती क्योंकि अविद्या की निवृत्ति ब्रह्मबोध का फल है जो ब्रह्म की तीसरी प्रतिपत्ति होने पर निष्पन्न होती है। जैसे, ब्रह्म की तीन प्रतिपत्ति होती हैं-पहली प्रतिपत्ति शब्द से होती है। दूसरी प्रतिपत्ति शब्दजन्य प्रतिपत्ति के बाद मनन द्वारा ध्यानसंतत्यात्मक निदिध्यासनरूप होती है। और तीसरी प्रतिपत्ति निर्विकल्पक साक्षात्कार रूप होती है। इस तृतीय प्रतिपत्ति के बाद ही अविद्या की निवृत्ति होती है यह ब्रह्मबोध का फल होने से ब्रह्मबोध में प्रयोजक नहीं हो सकती। अतः तत्त्वज्ञान के प्रतिबन्धकीभूत अदृष्ट की श्रवण-मननादि से जो निवृत्ति होती है उसीको निर्दोषत्व की महिमा मानना होगा। किन्तु वह तत्त्वमसि आदि वेदान्त वाक्य से अर्थबोध की उत्पत्ति में श्रवणादि का द्वार नहीं हो सकती क्योंकि वेदान्त वाक्य से अर्थबोध के लिये श्रवणादि का विधान नहीं है। किन्तु आत्मसाक्षात्कार के लिये उसका विधान है अतः जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' 'यवागूं पचति'-'अग्निहोत्र हवन करे' 'यवागू का पाक करे' इस वाक्य में शब्दक्रम से यद्यपि अग्निहोत्र में हवन का प्राथम्य और यवागूपाक का आनन्तर्य प्राप्त होता है किन्तु ऐसा मानने पर अग्निहोत्र हवन के लिये साधनान्तर की अपेक्षा होती है और अग्निहोत्र हवन के अनन्तर किये जाने वाले यवागूपाक की निरर्थकता होती है। अतः शब्दक्रम से अर्थक्रम को बलवान् मानकर यवागूपाक में प्राथम्य और अग्निहोत्र हवन में आनन्तर्य का निर्धारण होता है। उसी प्रकार 'आत्मा वारे ! द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इस श्रुति का यदि शब्दक्रम के अनुसार अर्थबोध माना जायगा तो आत्मदर्शन का प्राथम्य और श्रवणादि का आनन्तर्य विदित होता और उस स्थिति में आत्मदर्शन के अन्य साधन की जिज्ञासा होगी और आत्मदर्शन से अनन्तर क्रियमाण श्रवणादि की निष्प्रयोजनता होगी अतः इस वाक्य में भी शब्दक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम को बलवान् मान कर इसका भी यही अर्थ करना होगा कि श्रवण-मननादि के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिये। इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार के लिये ही श्रवणादि का विधान होने से श्रवणादिजन्य प्रतिबन्धकादृष्टनिवृत्ति आत्मसाक्षात्कार में द्वार हो सकती है किन्तु ब्रह्मबोध में द्वार नहीं हो सकती।

अत्रापि श्रवणं न वेदान्तानामेव "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः" इत्यत्र श्रुतिपदस्य प्रमाणशब्दमात्रपरत्वात्, अन्यथा नियमाऽदृष्टकल्पनागौरवात्। न च गौरवेण मुख्यार्थत्यागेऽविद्याप्रयुक्तिभयाद् रूढित्यागः स्यादिति वाच्यम्, विशेष्यतावच्छेदकप्रकारेण विशिष्टवाचकपदेन बोधे लक्षणाऽभावात्। अत एव विनापि लक्षणां श्येनादाविष्टसाधनताबोधः। अत एव 'न प्रमाणमात्रपरत्वम्, श्रुतिपदशक्तौ मुख्यविशेष्ये प्रमाणत्वस्य साक्षादप्रकारत्वात्,

तन्मात्रेण तद्बोधने लक्षणापत्तेः' इति मिश्रोक्तेः । अत एव श्रवणे वेदान्त्युक्तरीत्या नियमविधिरपि न न्याय्यः ।

इस संदर्भ में यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि आत्मसाक्षात्कार के लिये जो श्रवण विहित है वह केवल वेदान्तवाक्यों का ही श्रवण नहीं है क्योंकि 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इस वाक्य में श्रुतिपद अपौरुषेय प्रमाणशब्दपरक न होकर प्रमाणशब्दमात्र परक है अतः प्रमाणशब्द स्वरूप सभी वाक्यों के श्रवण के विधान में उक्त श्रुति का तात्पर्य है । यदि ऐसा न माना जायगा तो वेदान्तवाक्य समान अन्य प्रमाण शब्द से भी श्रवण की प्राप्ति होने के कारण अन्य प्रमाणशब्दों की निवृत्ति के लिये श्रवण विधायक श्रुति को नियम-विधि मानकर 'वेदान्तवाक्यों से ही आत्मा का श्रवण करना चाहिये' यही उस श्रुतिवाक्य का अर्थ करना होगा । अतः इस पक्ष में नियमविधि प्रयुक्त अदृष्ट की कल्पना का गौरव होगा क्योंकि नियमविधि से किसी इष्टसाधन की निष्पत्ति न होने से अदृष्ट द्वारा ही उसकी सार्थकता होती है ।

यदि यह कहा जाय कि-' नियमादृष्ट की कल्पना से प्रयुक्त गौरव के भय से श्रुतिशब्द के मुख्यार्थ का त्याग किया जायगा तो शक्ति द्वारा विशेष्य का बोध करने के लिये विशेष्य में विशिष्टवाचकपद के शक्ति की अविद्या भ्रम की प्रसक्ति होगी । अतः इस भय से लक्षणा द्वारा विशेष्यभूत अर्थबोध की उत्पत्ति के लिये रूढिशक्ति का त्याग करना होगा ।" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि विशिष्टवाचकपद से विशेष्यतावच्छेदकप्रकारेण विशेष्यमात्र के बोध के लिये लक्षणा की आवश्यकता नहीं होती । क्योंकि विशेष्य भी विशिष्ट की कुक्षि में प्रविष्ट होता है । अत एव जब विशिष्ट के शक्यार्थ होने पर विशेष्य का भी शक्यार्थ होना अनिवार्य है तो अपौरुषेयत्व विशिष्ट प्रमाणशब्द में श्रुति शब्द की शक्ति होने से प्रमाणशब्दरूप विशेष्य में भी श्रुतिशब्द की शक्ति आवश्यक है । इसलिये प्रमाणशब्दमात्र का बोध श्रुतिशब्द की शक्ति से ही सम्पन्न हो जाने से प्रमाणशब्द में श्रुतिशब्द की लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं है और प्रमाणशब्द में श्रुति शब्द का शक्तिज्ञान भ्रमात्मक भी नहीं होगा क्योंकि विशिष्ट के विशेषण और विशेष्य से अतिरिक्त न होने से विशिष्ट में शक्ति का अभ्युपगम विशेषण-विशेष्योभय की शक्ति के अभ्युपगम में पर्यवसित होता है ।

इसीलिये अर्थात् विशिष्टवाचकपद से विशेष्य का बोध शक्ति से ही सम्भव होने के कारण 'श्येनेन अभिचरन् यजेत' इस वचन से बलवदनिष्ठाननुबन्धित्वविशिष्ट इष्टसाधनत्व के बोधक विधिप्रत्यय की इष्ट साधनत्व में लक्षणा के बिना भी श्येनादि में इष्टसाधनत्व का बोध होता है । अत एव 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इस वचन में श्रुतिशब्द प्रमाणशब्दमात्रपरक है किन्तु प्रमाणमात्रपरक नहीं है क्योंकि मिश्र ने यह कहा है कि श्रुतिपद की शक्ति में मुख्यविशेष्य में प्रमाणत्व के साक्षात् प्रकार न होने से प्रमाणत्वमात्ररूप से प्रमाणसामान्य का बोध मानने पर प्रमाणत्वविशिष्ट में श्रुतिपद की लक्षणा की आपत्ति की होगी । इसीलिये वेदान्ती की उक्ति रीति से श्रवण में नियमविधि भी न्यायसंगत नहीं है ।

नन्वेवमपि शाब्दबोधस्यैव तत्प्रयोजकत्वाय नियमा-ऽदृष्टकल्पनावश्यकत्वाद् विशिष्टवाचकश्रुतिपदजन्योपस्थितिसंकोचस्याऽन्याय्यत्वात् । संन्यासाद्यधिकारवत एव श्रवणस्य नियम्यत्वाच्च न नियमविधेरन्याय्यत्वमिति चेत् ? न, तथाप्यात्मदर्शनार्थं तद्विधिसिद्धेन तदजन्य-

दुरितनिवृत्तिसाध्यो वाक्यार्थबोधः। वाक्यार्थबोधोऽपि प्रकृते विषयस्यापरोक्षत्वादात्मदर्शनरूपः स्वीक्रियत इति चेत्? प्रक्रियामात्रमेतत्। न हि विषयपरोक्षत्वा-ऽपरोक्षत्वनिबन्धनं प्रतिभासस्य परोक्षत्वमपरोक्षत्वं वा, एकत्र विषय उभयप्रतिभासानुपपत्तिप्रसङ्गात्, विषयस्वरूपापरावृत्तेः। अथ वृत्तिधर्म एव परोक्षत्वमपरोक्षत्वं वा, तद्विषयतया च विषयपरोक्षत्वा-ऽपरोक्षत्वव्यवहार इति चेत्? न, सर्वज्ञानानां स्वांशे प्रत्यक्षत्वोपगमविरोधात्। अथ वृत्तेः स्वाकारवृत्तिमन्तरेण भासमानत्वात् शुद्धसा[1]क्ष्यपरोक्षत्वम्, घट-वह्न्यादिविषयांशे तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्ष्यपरोक्षत्वं नैयायिकानां मानसप्रत्यक्षत्वतुल्यम्, स्वरूपेणापि प्रमाणतोऽपरोक्षत्वं च घटादेरेव, विषयचैतन्य-प्रमातृचैतन्ययोरभेदेन तस्य फलव्याप्यत्वात्, न तु वह्न्यादेः, तत्र वृत्तेर्बहिर्निःसरणाभावेनाभेदाभिव्यक्त्यभावात्, प्रकृते चैकस्यैव चैतन्यस्य शब्दबोधितस्य प्रमातृत्वेन विषयत्वेन चाभेदात् स्वरूपतोऽप्यपरोक्षत्वमिति चेत्? न, देशविशेषावच्छिन्नपर्वतस्येवाखण्डत्वाविशिष्टस्य चैतन्यस्य तत्त्वायोगात्; अन्यथा 'अहं ज्ञानवान्, ज्ञानसामग्रीतः' इत्यत्राप्यनुमितित्वमुच्छिद्यते। किञ्च, कर्मणि स्पष्टत्वं यदि ज्ञानधर्मः, तदा सर्वत्र तत्प्रसङ्गः। यदि च कारणज्ञानस्पष्टता तन्निमित्तम्, तदाऽनवस्था। न चैकान्त एकस्यांशे परोक्षत्वा-ऽपरोक्षत्वादिकं कर्तृ-कर्म-क्रियाविभागो वा संभवतीति न किञ्चिदेतत्।

यदि यह कहा जाय कि–"श्रुति शब्द को उक्त वाक्य में प्रमाणसामान्यपरक न मान कर प्रमाणशब्दसामान्यपरक माना जायगा तो भी शब्दजन्य बोध ही आत्मसाक्षात्कार का प्रयोजक है इसकी उपपत्ति के लिये नियमादृष्ट की कल्पना आवश्यक होगी। तो जब नियमादृष्ट की कल्पना आवश्यक ही है तब उक्त वाक्य में श्रुतिशब्द को मुख्यार्थपरक मानना ही न्यायसंगत है न कि अपौरुषेयत्वविशिष्टप्रमाणशब्दवाचकश्रुतिपदजन्योपस्थिति में संकोच करना न्यायसङ्गत है। तथा संन्यासादि में अधिकृत पुरुष के लिये ही श्रवण का नियमन करना भी आवश्यक है इसलिये श्रवणविधि को नियमविधि मानने में कोई अन्याय नहीं है"–

तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि श्रवणादि की विधि को नियमविधि मानने पर भी आत्मदर्शन के लिये ही श्रवणादि की विधि है यह सिद्ध हो जाता है। अतः वाक्यार्थबोध, श्रवणादिजन्य दुरितादृष्टनिवृत्ति से साध्य नहीं हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि–"तत्त्वमसि" वाक्यार्थबोध भी ब्रह्मरूप विषय के अपरोक्ष होने से आत्मदर्शनरूप ही है अतः उसकी उत्पत्ति में श्रवणादिजन्य दुरितनिवृत्ति द्वार हो सकती है"-तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'विषय के अपरोक्ष होने से वाक्यजन्यबोध भी अपरोक्ष होता है' यह वेदान्ती की केवल प्रक्रिया कल्पनामात्र है। क्योंकि प्रतिभास की परोक्षता और अपरोक्षता विषय की परोक्षता और अपरोक्षता से नहीं होती, क्योंकि ऐसा मानने पर एक विषय के परोक्ष और अपरोक्ष उभयविध प्रतिभास की अनुपपत्ति होगी; क्योंकि विषय के स्वरूप में परावर्तन नहीं होता अर्थात्

१. क– क्ष्यत्व'।

विषय का स्वरूप कभी परोक्ष और कभी अपरोक्ष नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि परोक्षत्व और अपरोक्षत्व विषय का धर्म न होकर वृत्ति का ही धर्म है, परोक्ष-अपरोक्षवृत्ति का विषय होने से ही विषय में परोक्षत्व और अपरोक्षत्व का व्यवहार होता है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर सभी ज्ञान को जो स्वांश में प्रत्यक्ष माना जाता है उसका विरोध होगा।

यदि यह कहा जाय कि–"वृत्ति स्वाकारवृत्ति के बिना भासमान होने से शुद्ध साक्षी द्वारा अपरोक्ष होती है किन्तु घट-वह्नि आदि विषयों में साक्षी प्रयुक्त अपरोक्षता, ज्ञान और अज्ञान के विषयरूप में ठीक उसी प्रकार होती है जैसे नैयायिक के मत में घटादि विषय में ज्ञानविशेषणतया मानस प्रत्यक्ष की विषयता होती है। आशय यह है कि मन अभ्यन्तरेन्द्रिय है अत एव वह आत्मा और आत्मा के योग्य विशेष गुणों तथा तद्गतजाति का ही प्रत्यक्ष जनक है। घटपटादि पदार्थ बाह्य होने से मनोग्राह्य नहीं है अत एव मानस प्रत्यक्ष में घटपटादि का भान स्वतन्त्ररूप से न होकर ज्ञानादि के विशेषणरूप में ही 'घटमहं जानामि' 'घटज्ञानवान् अहं' इत्यादिरूप में होता है ठीक यही स्थिति वेदान्त मत में घटवह्न्यादि बाह्य पदार्थों की है। क्योंकि साक्षिजन्य प्रत्यक्ष में वह भी साक्षिग्राह्यज्ञान और अज्ञान के विशेषणरूप में ही भासित होता है। स्वरूप से भी अर्थात्-स्वतन्त्ररूप से भी प्रमाण द्वारा अपरोक्षता घटादि में ही होती है। क्योंकि घट के इन्द्रियसंनिकृष्ट होने पर घटाकार वृत्यात्मना प्रमातृचैतन्य का विषय देश में बहिर्गमन होने से विषय और अन्तःकरणरूप उपाधिओं के एकदेशस्थ होने के कारण विषय-चैतन्य और प्रमातृचैतन्य में अभेद होता है। अतः वह वृत्तिप्रतिबिम्बित-चैतन्यरूप फल का व्याप्य अर्थात् विषय होता है। वह्नि आदि का ज्ञान जब अनुमान से होता है तब अनुमानप्रमाण से उसकी प्रतिपत्ति होने पर भी उसमें प्रमाणाधीन अपरोक्षता नहीं होती क्योंकि उस दशा में अनुमानजन्य वह्न्याकारवृत्ति का बहिर्निस्सरण हो कर विषय देश में गमन नहीं होता अत एव विषय-चैतन्य और प्रमातृचैतन्य में अभेद की अभिव्यक्ति न होने से उसमें फलव्याप्यता नहीं होती। किन्तु तत्त्वमस्यादि शब्द से जब ब्रह्मचैतन्य का बोध होता है तो वही चैतन्य प्रमाता और विषय उभयरूप होने से अभिन्न हो जाता है। अत एव शब्द से उसका बोध होने पर भी उसमें स्वरूपतः अपरोक्षता हो सकती है।–तो यह ठीक नहीं है क्योंकि पर्वत के चक्षुः संनिकृष्ट होने पर भी जैसे पृष्ठदेशविशेष विशिष्टपर्वत अपरोक्ष नहीं होता उसी प्रकार तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यबोध स्थल में प्रमातृचैतन्य और विषयभूतचैतन्य में ऐक्य होने पर भी अखण्डत्वादिविशिष्टचैतन्य अपरोक्ष नहीं होता। क्योंकि अखण्डत्वादि धर्मों में नैसर्गिक अपरोक्षयोग्यता नहीं होती। यदि प्रमाता और विषय के अभेदमात्र से यदि तत्त्वमस्यादिशब्दजन्यबोध को अपरोक्षज्ञानरूप माना जायगा तो ज्ञान सामग्रीरूप हेतु से जो 'अहं ज्ञानवान्' इस प्रकार अहमर्थ में ज्ञान की अनुमिति होती है उसकी अनुमितिरूपता का उच्छेद हो जायगा क्योंकि उस ज्ञान के भी विषय और प्रमाता में ऐक्य होने से उसमें भी अपरोक्षज्ञानरूपता अपरिहार्य होगी। इसके अतिरिक्त विषयअंश में प्रतीयमान स्पष्टता यदि ज्ञान का धर्म होगा तो सभी ज्ञान में स्पष्टता का प्रसङ्ग होगा। अत एव सभी ज्ञान के अपरोक्ष हो जाने से कोई भी ज्ञान परोक्ष न होगा।

यदि यह कहा जाय कि–"विषय में जो स्पष्टता का व्यवहार होता है उसका निमित्त होता है व्यवहार के कारणीभूत ज्ञान की स्पष्टता। अर्थात् जो व्यवहार स्पष्ट ज्ञान से होता है वह व्यवह्रियमाण पदार्थ की स्पष्टता को विषय करता है। इसीलिये जब किसी विषय के प्रत्यक्षज्ञान से उस

विषय का व्यवहार होता है तो वह विषय का स्पष्टतया व्यवहार होता है; और जब परोक्षज्ञान से विषय का व्यवहार होता है तो विषय का स्पष्टतया व्यवहार नहीं होता।"-तो यह कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने में अनवस्था होगी। अनवस्था इस प्रकार,-विषय के स्पष्टतया व्यवहार के कारणीभूतज्ञान में भी स्पष्टता का व्यवहार होता है। अतः उस व्यवहार के लिये उस व्यवहार के कारणीभूत स्पष्टज्ञान की कल्पना करनी पड़ेगी। इसी प्रकार उसमें भी स्पष्टता व्यवहार के अनुरोध से उसके भी कारणीभूत स्पष्टज्ञान की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः अनवस्था होगी।

दूसरी बात यह है कि-'चैतन्य एक ही ऐसा है कि उपाधिभेद से भी उसमें भेद नहीं होता।'-ऐसा एकान्तवाद मानने पर प्रत्यक्षादि स्थल में उसीमें अपरोक्षता और अनुमिति आदि स्थल में उसीमें परोक्षता का अभ्युपगम उचित नहीं है। और इसी प्रकार एकान्तवाद में कर्तृ-कर्म-क्रियाभाव का भी स्वीकार नहीं हो सकता। क्योंकि कर्तृ-कर्म-क्रिया भाव भी परस्पर विरुद्ध है। अतः यदि अन्तःकरण विषय और वृत्तिरूप उपाधि के भेद से भी यदि चैतन्य में भिन्नता न मानी जायगी, तो उसमें अन्तःकरणावच्छेदेन कर्तृत्व, विषयावच्छेदेन कर्मत्व, और वृत्त्यवच्छेदेन क्रियात्व की उपपत्ति न हो सकेगी।

अस्माकं त्वनेकान्ताद् नायं दोषः, प्रबलतरज्ञानावरण-वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमविशेषात् क्वचिद् विषये विज्ञानस्य स्पष्टत्वम्, तद्विपर्ययात्तु क्वचिदस्पष्टत्वम्। अनुमानाद्याधिक्येन नियतवर्णसंस्थानाद्यवगाहनेन विशेषप्रकाशनं हि स्पष्टत्वम्, तदुक्तम्—

> "अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
> तद् वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ॥१॥" इति।

'प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन प्रकाशनं स्पष्टत्वम्' इति त्वीहादीनां संदेहादिभ्यः समुपजायमानत्वेन निरस्तं देवसूरिभिः। तदिह शब्दादुद्भवदात्मज्ञानं न कथमप्यपरोक्षम्, अस्पष्टत्वात्, इति केवलज्ञानरूपं सकलप्रत्यक्षमेवात्मदर्शनमेष्टव्यम्। तत्र च श्रवणस्य ज्ञान-विज्ञानादिक्रमेणोपयोगः, अत एवोपरतिपदार्थस्य चारित्रस्य न तदङ्गत्वम्, श्रवणस्यैव तदुपकारित्वात्। अत एव च गृहस्थानां स्त्रीणां च तत्र तत्रैवतस्तदधिकारोऽपि संगच्छते। श्रवणादिविधिश्च मुक्त्यर्थमेव, सम्यग्दृष्टिमधिकृत्य सर्वेषामपि कर्मणां तदर्थमेव विधानात्, विधिसामर्थ्यादेवेहलोकाद्यर्थनिषेधप्राप्तेः। विहितं च मुक्तिपरम्पराकारणमान्तरालिककारणोपनायकतयैव तज्जनयेदिति किं नात्मश्रवणमात्मदर्शनहेतुः स्यात्? उपकारिकारणं चैतत्, तेन न प्रत्येकबुद्धादीनां श्रवणाभावेऽपि ज्ञानानुपपत्तिः। न च प्राग्भवीयश्रवणादिकमेव तेषां कल्पनीयम्, मरुदेव्यादौ तदभावात्, इत्यन्यत्र समयपरमार्थविस्तारः।

हाँ, हमारे जैन मत में यह दोष नहीं हो सकता। क्योंकि जैन मत में वस्तु की अनेकान्तरूपता मान्य है। अतः ज्ञान के प्रबलतरावरण एवं विषयग्रहणसामर्थ्यरूप वीर्य के प्रबलतर अन्तराय-

१. प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारे द्वितीयपरिच्छेदे।

भूत कर्मों के क्षयोपशमविशेष से कहीं पर विज्ञान किसी विषय में स्पष्ट होता है, और जिस विषय में उक्त क्षयोपशम का विपर्यय है उस विषय में अस्पष्ट होता है। क्योंकि अनुमानादि के विषय से अधिक नियतवर्ण और संस्थानादि द्वारा वस्तु के विशेष प्रकाशन को ही स्पष्टता कहा जाता है। जैसा कि एक कारिका में बताया गया है कि अनुमानादि से अगृहीतरूप ही वस्तु का विशेषरूप है उस रूप से वस्तु को ग्रहण करना ही बुद्धि का वैशद्य है। और ऐसे रूप से वस्तु को ग्रहण न करना ही बुद्धि का अवैशद्य है। स्पष्टता के इस निर्वचन के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान ही स्पष्ट ज्ञान होता है और उसका विषय होने से ही वस्तु में स्पष्टता का व्यवहार होता है। कुछ लोगों ने स्पष्टता का निर्वचन इस प्रकार किया है कि प्रतीत्यन्तर के व्यवधान के बिना जो वस्तुस्वरूप का प्रकाशन है वही स्पष्टता है, जैसे, अवधि मनःपर्याय और केवलज्ञान किसी अन्य प्रतीति के व्यवधान बिना वस्तु का विशेषरूप से प्रकाशक होता है किन्तु देवसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोक के दूसरे परिच्छेद में स्पष्टता की इस परिभाषा का यह कह कर खण्डन किया है कि ईहाविज्ञान भी अंशतः स्पष्ट होता है किन्तु इस परिभाषा के अनुसार उसमें स्पष्टता की अनुपपत्ति होगी क्योंकि वह संशयादिपूर्वक होने से प्रतीत्यन्तर के व्यवधान द्वारा ही वस्तुस्वरूप का ग्राहक होता है। इस प्रकार विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वमस्यादि वाक्य से होने वाला आत्मज्ञान कथमपि अपरोक्ष नहीं हो सकता क्योंकि वह अस्पष्ट होता है। अतः केवलज्ञानरूप सर्वविषयक प्रत्यक्षात्मक आत्मदर्शन ही मुमुक्षु के लिये अभिमत है।

इस ज्ञान में श्रवण का उपयोग ज्ञान-विज्ञानादिक्रम से मनन और अनुध्यान क्रम से होता है। इसीलिये चारित्ररूप उपरति पदार्थ श्रवण का अंग नहीं होगा क्योंकि श्रवण ही चारित्र का उपकारक-अङ्ग होता है। ऐसा मानने से ही उस ग्रन्थ में श्रवण में बताये गये गृहस्थ और स्त्रीवर्ग के अधिकार की संगति होती है। श्रवणादि की विधि मुक्ति के लिये ही है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि को अधिकारी मानकर सभी कर्मों का मोक्ष के लिये ही विधान है। विधान के सामर्थ्य से ही ऐहलौकिक और पारलौकिक अर्थों के निषेध अर्थात् उन अर्थों में वैराग्य की अवगति होती है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि जो मुक्ति का परम्परया कारण होने से विहित होता है वह आन्तरालिक कारण का उपस्थापक होकर ही मुक्ति का जनक होता है। अतः आत्मश्रवण आत्मदर्शन का हेतु क्यों नहीं होगा? अर्थात् आत्मश्रवण आत्मदर्शन का हेतु होना न्यायसंगत ही है। और यह भी ज्ञातव्य है कि यतः आत्मश्रवण उपकारी-पारम्परिक कारण है अतः प्रत्येकबुद्ध (उपदेश के बिना भी चारित्रग्रहण में समर्थ पुरुषों) को श्रवण के बिना भी ज्ञान की अनुपपत्ति नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि उन्हें भी पूर्वजन्म का श्रवणादि सम्पन्न रहता है अतः आत्म श्रवण सभी के लिये आत्मदर्शनोपयोगी है—तो यह उचित नहीं है क्योंकि मरुदेवी आदि जिन्हें प्रथम मनुष्यजन्म में ही आत्मदर्शन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो गयी उनमें पूर्वजन्म के श्रवणादि की कल्पना सम्भव नहीं है। इस विषय में सिद्धान्त का सारतत्त्व विस्तार से अन्यत्र वर्णित है।

अपि च स्वमतेऽपि परस्य श्रवणादिजन्यप्रतिबन्धकादृष्टनिवृत्तिरूपनिर्दोषत्वमहिमा न शब्दात् शुद्धब्रह्मबोधे हेतुः, उत्पत्तौ प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वभङ्गापत्तेः। ज्ञानसामान्यसामग्रीजन्यत्वं हि तत्, न चोक्तार्थवाक्यार्थप्रमाया निर्दोषत्वजन्यत्वे युज्यत एतत्। श्रवणादेः प्रतिबन्धकनिवर्तकत्वात्, प्रतिबन्धकाभावस्य च तुच्छतया हेतुत्वादेव गेहेनर्दिभिः परैरेतद्-

दोषपरिहारादिति स्वगृहतत्त्वमेव न प्रेक्षितं क्षुत्क्षामकुक्षिना तपस्विना, ततः सम्यगुत्प्रेक्षितं **शाक्यसिंहविनेयेन** यत् 'प्रबलदोषमाहात्म्यात् 'खरविषाणम्' इत्यादिवाक्यादलीकस्याखण्डस्य खरविषाणस्येव वेदान्तवाक्यात् परेषां कुवासनादोषमाहात्म्यादलीकस्याखण्डस्य ब्रह्मणो बोधः' इति । एवं च सर्वस्य स्वरूपसत्त्वादिधर्मसंकीर्णस्य, पररूपासंकीर्णस्यैव चोपलम्भाद् व्यवहारस्य च प्रतियोगिप्रतिपत्तौ तथैवोदयात्, सदसदात्मकमेव जगत् । तदाहुर्वृद्धा—

"सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च ।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः ॥"

न तु सदाद्यद्वैतमेवेति व्यवस्थितम् ॥१०॥

चार्वाकीयमतावकेशिषु फलं नैवास्ति, बौद्धोक्तयः कर्कन्धूपमितास्तु कण्टकशतैरत्यन्तदुःखप्रदाः ।
उन्मादं दधते रसैः पुनरमी वेदान्ततालद्रुमाः गीर्वाणद्रुम एव तेन सुधिया जैनागमः सेव्यताम् ॥१॥

न काकैश्चार्वाकैः सुगततनयैर्नापि शशकैर्बकैर्नाद्वैतज्ञैरपि च महिमा यस्य विदितः ।
मरालाः सेवन्ते तमिह जैनपतयः सरोजं स्याद्वादप्रकरमकरन्दे कृतधियः ॥२॥

क्वचिद् भेदच्छेदः क्वचिदपि हताऽभेदरचना क्वचिद् नात्मख्यातिः क्वचिदपि कुशास्त्रख्यातिविरहः ।
कलङ्कानां शङ्का न परसमये कुत्र तदहो ! श्रिता यद् स्याद्वादं सुकृतपरिणामः स विपुलः ॥३॥

यस्यासन् गुरवोऽत्र **जीतविजयप्राज्ञाः** प्रकृष्टाशया
भ्राजन्ते सनया **नयादिविजयप्राज्ञाश्च** विद्याप्रदाः ।
प्रेम्णां यस्य च सद्म **पद्मविजयो** जातः सुधीः सोदरस्तेन
न्यायविशारदेन रचितस्तर्कोऽयमभ्यस्यताम् ॥४॥

॥ इति पण्डित श्रीपद्मविजयसोदरन्यायविशारद पण्डितयशोविजयविरचितायां
स्याद्वादकल्पलतानाम्न्यां शास्त्रवार्तासमुच्चयटीकायामष्टमः स्तबकः ॥

इस संदर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि आत्मतत्त्वज्ञान में प्रतिबन्धक अदृष्ट की श्रवणादि से निवृत्तिरूप जो निर्दोषता होती है उसकी महिमा वेदान्त मत में भी शब्द से शुद्धब्रह्मबोध में हेतु नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा मानने पर प्रामाण्य की उत्पत्ति में स्वतस्त्व का भङ्ग हो जायगा क्योंकि प्रामाण्य की उत्पत्ति में स्वतस्त्व ज्ञानसामान्यसामग्रीजन्यत्वरूप ही होता है और वह तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थ की प्रमा को निर्दोषत्वजन्य मानने पर युक्तिसंगत नहीं हो सकता । इस बात को भी दृष्टि में रखना आवश्यक है कि शब्द किञ्चिद्धर्मविशिष्ट का ही वाचक होने से शब्द से शुद्धब्रह्म का बोध कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न के समाधान की भूख से कृश कुक्षि तपस्वी मधुसूदन ने तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्य-बोध को निर्दोषत्वजन्य बताते हुये अपने घर की इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया कि अपने घर के भीतर गर्जन करने वाले उनके अन्य बन्धुओं ने प्रामाण्य की उत्पत्ति में स्वतस्त्व भङ्ग की आपत्तिरूप दोष का यह कह कर परिहार किया है कि -'श्रवणादि से प्रतिबन्धक की निवृत्ति होती है । अतः प्रतिबन्ध का भाव तुच्छ होने से ब्रह्मबोध का हेतु नहीं होता । इसलिये ब्रह्मबोध को दोषाभावजन्य

कह कर प्रामाण्य की उपपत्ति में स्वतस्त्वभङ्ग का आपादान उचित नहीं है।' इसलिये शाक्यसिंह बुद्ध के अन्तेवासीने ठीक ही उत्प्रेक्षा की है कि जिस प्रकार 'खरविषाणम्' इत्यादि वाक्य से प्रबल-दोषवश अलीक अखण्ड खरशृङ्ग का बोध होता है उसी प्रकार कुवासना के दोषवश वेदान्तीओं को वेदान्त वाक्य से अलीक अखण्ड ब्रह्म का बोध होता है। इस उत्प्रेक्षा से स्पष्ट है कि वेदान्तीओं का ब्रह्म खरशृङ्ग के समान अलीक है।

उपरोक्त सभी विचारों की समीक्षा करने से यह सुनिश्चित निष्कर्ष प्राप्त होता है कि संसार की जो भी वस्तु उपलब्ध होती है वह स्वरूपसत्तादि धर्मों से संकीर्ण=युक्त और पररूप से असंकीर्ण-शून्य होती है और वस्तु जिन परधर्मों से शून्य होती हैं उन परधर्मरूप प्रतियोगी का ज्ञान रहने पर पररूप शून्यतया उसका व्यवहार भी होता है। अतः सारा जगत् सत्-असत् उभयात्मक ही है। जैसा कि जैन विद्वानों ने कहा है—

संसार की प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सत् और पररूप से असत् होती है। यदि केवल सत् ही माना जायगा तो सर्वरूप से सत्त्व की आपत्ति होगी और यदि वस्तु को असत् ही माना जायगा तो स्वरूप से भी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकेगा। अतः यह सिद्ध होता है कि सदद्वैत-विज्ञानाद्वैत-शून्याद्वैतादि सर्वविध अद्वैत अप्रामाणिक है ॥ १० ॥

व्याख्याकार ने तीन श्लोकों से इस स्तबक का बड़े सुन्दर ढंग से उपसंहार किया है। पहले श्लोक में कहा है कि—

चार्वाक का मत अवकेशी=वन्ध्यवृक्ष जैसा है जिससे किसी प्रकार के फल की आशा नहीं की जा सकती। बौद्ध के समस्त कथन बदरी वृक्ष के समान है जो सेंकड़ों काँटों से संकीर्ण होने के कारण अत्यन्त दुखदायी है। और वेदान्त के सिद्धान्त तालवृक्ष के समान है जो अपने रस से मनुष्य में केवल उन्माद पैदा करते हैं। केवल जैनागम ही ऐसा शास्त्र है जो मनुष्य के लिये देववृक्ष-कल्पवृक्ष समान है अत एव अपना कल्याण चाहने वाले प्रत्येक मनुष्य को उस शास्त्र का ही आश्रय लेना चाहिये।

दूसरे श्लोक में यह कहा है कि—

जैन सिद्धान्त सरोज-कमल के समान है जिसका महत्त्व न तो काककल्प चार्वाकों को ज्ञात है-और न खरगोश जैसे बौद्धमतावलम्बी को ज्ञात है, न बकसदृश अद्वैतवेदान्तीओं को ज्ञात है- किन्तु वह ज्ञात है केवल हंस जैसे बुद्धिसम्पन्न जैन यतिओं को जो उसे स्याद्वाद के मकरन्द रस से भरा हुआ देख कर उसका अनन्यभाव से आसेवन करते हैं।

तीसरे पद्य में व्याख्याकार ने यह कहा है कि—

अन्य दर्शनों पर दृष्टि डालने पर यह ज्ञात होता है कि किसी दर्शन में भेद का खण्डन किया गया है जैसे अद्वैतवेदान्त में; और कहीं अभेदवाद का खण्डन किया गया है, जैसे द्वैतवादी दर्शन में; किसी दर्शन को आत्मा का ही परिचय नहीं है जैसे बौद्ध दर्शन को; किसी में कृपासिन्धु का विरह है–जैसे निरीश्वरवादी सांख्य और मीमांसा दर्शन में। इस प्रकार आश्चर्य है कि ऐसा कोई भी परदर्शन नहीं है जिसमें इस प्रकार कलंक शंका न हो। अतः जिन लोगों ने स्याद्वाद दर्शन का आश्रय लिया है वह उनके सुकृत समूह का महान् और सुन्दर परिणाम है।

[यस्यासन्० इस श्लोक का अर्थ प्रथम स्तबक में देख लेना]

–: ८ वां स्तबक समाप्त :–